साहित्य : सिद्धान्त और समीक्षा

सरनामसिंह, एम. ए., पी-एच. डी.
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
राजस्थान कॉलेज, जयपुर

श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा

मूल्य रु. ७·५०

दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा

आमुख

'साहित्य : सिद्धान्त और समीक्षा' में मेरे समय-समय पर लिखे लेख संकलित हैं। इनमें कई तो करीब पन्द्रह वर्ष पूर्व लिखे गये थे और कुछ दो-तीन वर्ष पुराने हैं। तब से अब तक मेरी मान्यताओं में अन्तर आ गया है जो शायद अस्वाभाविक नहीं है किन्तु उससे कोई बड़ा भारी सैद्धान्तिक व्यतिक्रम नहीं हुआ है।

इस ग्रन्थ के पूर्व भाग में अनेक विषयों को लेकर सैद्धान्तिक विवेचना की गयी है और सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए यथावश्यक उद्धरण एवं संदर्भ भी प्रस्तुत किये गये हैं। दूसरे भाग में समीक्षात्मक लेख है। इसीलिए इस कृति का नाम 'साहित्य : सिद्धान्त और समीक्षा' रखा गया है।

इन लेखों के लिखने में मेरी मानसिक तुष्टि तो लक्षित रही ही है, साथ ही मुझे अपने दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति का अवसर भी मिला है। यदि इन लेखों से पाठकों की रुचि की थोड़ी सी भी तृप्ति होती है तो मैं अपने को कृतकार्य समझूँगा।

लेखक

अनुक्रमणिका

साहित्य सिद्धान्त

१

साहित्य

मानव के अन्तर में दो मूल मनोभाव, दुःख-सुख आतप-अनातप की भाँति विलसित रहते हैं। जब एक नहीं होता है तो दूसरा होता है और कभी एक दूसरे को दबाकर प्रतिष्ठित होता है। सुख-दुःख का उदय भी मन में होता है और विलय भी मन में। इसलिए ज्ञानी मनोनिग्रह द्वारा इनका निवारण करते हैं किन्तु यह सामान्य मनुष्य के वश की बात नहीं है। अतएव जब तक मन की स्थिति है, तब तक सुख-दुख भी अनिवार्य है।

मानसिक सत्ता की धारा सदसद्वृत्ति के रूप में दो ओर बहती है। जब मन का प्रवाह सद्वृत्ति में होता है तब असद्वृत्ति उसका अवरोध करती है और जब वह असद्वृत्ति में प्रवाहित होने लगता है तो सद्वृत्ति उसके निवारण का प्रयत्न करती है। सामान्य दशा में मन स्थिर नहीं रहता। उसकी अस्थिरता ही नैमित्तिक कर्मों को प्रेरित करती है जिनसे भोग बनते हैं। मनुष्य के स्वभाव में सुख-भोग की इच्छा रहती है अतएव दुखों से बचकर सुख-भोग के निमित्त वह निरन्तर साधन जुटाता रहता है, किन्तु असद्वृत्ति के विलास और कर्म की विषम स्थिति के परिणामस्वरूप दुःख अनिवार्य हो जाता है। वृत्तियों और परिणामों का संघर्ष केवल क्रियाओं के रूप में ही प्रतिपन्न नहीं होता, अपितु प्रतिक्रियाएँ भी कार्य रूप से उत्पन्न हो जाती हैं। क्रिया-प्रति क्रियाओं की पारस्परिकता जिस प्रकार जीवन का जाल बनाती है, उसी प्रकार सुख-दुःख का भी। एक क्षेत्र की व्यापकता दूसरे को समान रूप से प्रभावित करती है। प्रत्येक मनुष्य अनुभूतियों के रूप में विशाल जीवन की विभिन्न परिस्थितियों की, अनेक क्रिया-प्रतिक्रियाओं की माप करता रहता है। साधारण व्यक्ति उस माप के प्रति इतना सतर्क नहीं होता जितना सहृदय साहित्यकार।

मानव-वृत्ति की दो सीमाएँ हैं—देवत्व और दानवत्व। पहली वह रेखा है जहाँ तक वह जाना चाहता है और जा सकता है और दूसरी वह जहाँ तक वह गिर सकता है। इन्हीं दोनों रेखाओं के बीच मानव का संचरण सम्भव है। एक सीमा पर वह राम बन जाता है और दूसरी पर रावण। समाज इन दोनों सीमाओं से बना है। सामाजिक जीवन के पट पर रामत्व और रावणत्व दोनों के चित्र उतरते रहते हैं।

जीवन और साहित्य का स्वरूप

समस्त संघर्षों से जो तत्त्व मिलता है, वह जीवन है। उसकी प्राप्ति (स्थिति) में जो बाधा है, वह संघर्ष है। वह आत्माभिव्यक्ति का रूप होता है। सब कुछ उसी के लिए होता है। अभिव्यक्ति सदा अधूरी रहती है, इसलिए उसका संघर्ष रहता है। यदि सब कुछ एक बार ही कह दिया जाता, फिर कुछ कहना न होता तो संघर्ष न होता, परन्तु यह हो नहीं पाता। हमें अपनी सत्ता के लिए यत्न करना पड़ता है। जीवन का स्वरूप अनादि व अनन्त है। उसी जीवन का प्रवाह यह संसार है जो अनादि और अनन्त है। वह भी युक्तियों की योजना है। आत्माभिव्यक्ति जीवन का मूल है। जीवन का अर्थ है जीव की क्रीड़ा, वृत्तियों का बन्धन। वृत्तियाँ जीवन का स्वरूप हैं। वृत्तियों की अनन्तता एवं अपारता सर्वमान्य है।

जीवन की व्यापकता से साहित्यकार की अनुभूतियों का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। उसका हृदय, अति संवेदनशील होने से, जितना संवेदनाओं के आदान के लिए आतुर होता है उतना ही प्रदान के लिए भी। कभी-कभी साहित्यकार संवेदनाओं का संग्रह भी कर लेता है। जब उन संवेदनाओं के सहारे वह जीवन का प्रतिरूपण करता है तो यत्न के लिए उसे श्रम करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसकी कृति यत्नसाध्य होती है किन्तु साहित्यकार की लेखनी से जीवन का प्रतिरूपण सहज या अनैच्छिक भी होता है। उस दशा में साहित्यकार को जीवन और प्रतिरूपण अभिन्न प्रतीत होते हैं, क्योंकि प्रतिरूपण स्वयं जीवन की प्रतिक्रिया होता है। इस प्रतिक्रिया के मूल में सुख-दुःख की अनुभूति अवश्य रहती है। जब हृदय संवेदना या संवेदनाओं को सुख-दुःख के रूप में गहनतम एवं असह्य पाता है तो उद्गार उसकी अनिवार्य प्रतिक्रिया होती है। जिस प्रकार दुखोद्गार की दशा में हृदय भारमुक्त होकर आनन्द की अनुभूति करता है उसी प्रकार सुखानुभूति के गहन भार से मुक्त होकर सुखोद्गार की दशा में भी वह आनंदित होता है। प्रतिरूपण की स्थिति में साहित्य की जीवन से पृथक् प्रतीति होने पर भी आनन्दोद्गार की स्थिति में उसमें जीवन-व्यापिनी वास्तविकता अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है।

साहित्य वृत्तियों के उसी सार्वभौम स्वरूप का दिग्दर्शन कराता है जो चिरन्तन जीवन का प्रतिरूप है। बुद्धि और भाव इच्छा के दो पहलू हैं। वृत्तियाँ भावना स्वरूप हैं। आत्माभिव्यक्ति जितनी वृत्तियों से सम्बन्धित है उतनी ही बुद्धि से। बुद्धि की क्रिया से आत्माभिव्यक्ति होती है। कोई लेखक यह नहीं कह सकता है कि मैं परोपकार की दृष्टि से लिख रहा हूँ। वस्तुतः बौद्धिक क्रिया के द्वारा आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से अपनी अन्तःप्रेरणा को पूरा किया जाता है। गुण और परिणाम, दोनों दृष्टियों से मुख्यता व प्रबलता भावना की ही रहती है। बौद्धिक अभिव्यक्ति हर समय नहीं होती, परन्तु भावात्मक अभिव्यक्ति सदैव होती रहती है। सच तो यह है कि भावात्मक लगाव के तीव्र होने पर ही बुद्धि की अभिव्यक्ति बनती है।

कहा गया है कि आत्माभिव्यक्ति जीवन का मूल है। जब शारीरिक व्यवहार द्वारा हम आत्मव्यंजना नहीं कर पाते तो वाणी का सहारा भी लेना पड़ता है, जैसे आम का चूसना यह प्रकट करता है कि आम स्वादिष्ट है।

व्यक्तिगत साधना या उद्गार जब साहित्य का नाम पा लेते हैं तो वे सामाजिक सम्पत्ति बन जाते हैं, वे साधारणीकरण के निकष पर पूरे उतरते प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि से साधक या उद्गारी भी समाज की अवहेलना नहीं कर सकता। समाज का उपेक्षक उद्गार व्यक्तिसापेक्षता को लेकर केवल व्यक्तिगत रागद्वेष या सुख-दुख के चित्र ही उपस्थित कर सकता है। इसलिए साहित्यकार का यह लक्ष्य रहता है कि उसके आनन्दोद्गार में सामाजिक जीवन की पुनरावृत्ति या प्रतिकृति भी रहे। उसी दशा में उद्गारी अपने मानसिक भार को कम करता हुआ समाज के मानसिक भार को हल्का कर सकता है। तभी वह आनन्द का कर्ता और भोक्ता कहला सकता है और तभी उसका साहित्य सुनाम पा सकता है।

साहित्य क्या है ? यह प्रश्न हमारे सामने दो रूपों में आता है—एक तो अपने रूप की ओर साहित्य हमारे ध्यान को खींचता है, दूसरे उद्देश्य की ओर। रूप या आकृति से किसी वस्तु को पहिचाना जाता है और उद्देश्य से अथवा उद्देश्य के विकास से उसके स्वभाव या गुण का अनुमान किया जाता है। यही कारण है कि मनुष्य मनुष्य को, अथवा गाय, बैल, भैंस, बकरी, नीम, आम आदि को जिस प्रकार पहिचान लेता है उसी प्रकार साहित्य को भी। टोपी का स्वभाव शिर की रक्षा करना है। यदि वह शिर की रक्षा न कर सकती हो तो कहना पड़ेगा कि उसमें 'टोपीत्व' का अभाव है। कोटत्व, आस्तीनत्व, कमीजत्व चाहे किसी मात्रा में हो, उसे टोपी नहीं कहा जा सकेगा। यदि किसी मनुष्य की बुद्धि इस स्तर पर पहुँच जाये कि वह पाजामे को टोपी कहने

लगे तो उससे यह आशा भी कर सकते हैं कि वह असाहित्य को साहित्य कह दे ।

साहित्य की सही व्याख्या क्या है ? यह प्रश्न कुछ जटिल है । भिन्न-भिन्न अनुमान और कल्पना के साथ साहित्य के विषय में विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं । किसी ने कल्पना की अभिव्यक्ति को साहित्य माना है, कोई मानव और प्रकृति के चित्र को साहित्य कहता है, कोई अदृश्य आत्मा की अभिव्यंजना को ही साहित्य मानता है और किसी ने कल्पना द्वारा सत्य और आनन्द के एकीकरण की कला को ही साहित्य नाम दिया है । किसी एक व्याख्या से रुचि-तोष न होने से एक के उपरान्त दूसरी का आविर्भाव होता गया है ।

संशोधन और मीमांसा की वृत्ति से अनेक व्याख्याओं को जन्म मिलता गया । यह कहना अनुचित होगा कि एक शुद्ध है और दूसरी अशुद्ध । अपने-अपने दृष्टिकोण से वे सभी सही हैं । प्रत्येक में कोई न कोई तथ्य अवश्य दीख पड़ता है ।

साहित्य की वार्ता करते हुए हम कल्पना और कला का नाम भी नहीं भुला सकते । जीवन का प्रतिरूप साहित्य कल्पना का ही मधुर मूर्त स्वरूप है । साहित्य का माधुर्य, उसका सौन्दर्य, कला और कल्पना दोनों का समन्वित परिणाम होता है । अन्तर केवल इतना सा होता है कि कल्पना-सौन्दर्य सूक्ष्म और अव्यक्त तथा कला-सौन्दर्य स्थूल एवं व्यक्त होता है । सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कला के आश्रय से ही हो सकती है, इसलिए कल्पना कला की प्रेरक है । जब तक कल्पना की प्रेरणा न होगी चित्रकार के वर्ण, पट, तूलिकादि व्यर्थ पड़े रहेंगे । यदि कवि की कल्पना ने उसकी कला को सहयोग नहीं दिया होता, वह उड़कर अलिकुलकलित कमल को न लाई होती तो, वह शिशु की कुंचित अलकावलि से सुशोभित वदन की सुषमा को अभिव्यक्त नहीं कर पाता । प्रेमी के हृदय में प्रेम की स्थिति विशेष का कोई अनुमान ही न कर पाता यदि उसकी कल्पना छोटी सी तलैया में प्रेम की डगमगाती नैया को डालकर कला के कोमल मधुर करों में परिन्यस्त न कर गयी होती ।

यही दशा कला के सहयोग बिना कल्पना की होती । यदि कला का सहारा न मिला होता तो कल्पना निराकार ब्रह्म की भाँति चिन्ता शून्य में व्याप्त भले ही रहती वह साकार सौन्दर्य को न देख पाती । ऊँची और अच्छी कल्पना वह है जो ऊँची और अच्छी कला को जन्म दे सके, पर उस ऊँची और अच्छी कला का मापदण्ड क्या है ? अच्छी कला वह है जो मानव कल्याण में सहायक हो सके, जिससे हमारी पारस्परिक सहानुभूति विकसित हो सके । जो लोग साहित्य को कला निरपेक्ष मानते हैं वे साहित्य में रसवदा को प्रधानता

देकर कला के महत्त्व का अपहरण कर लेते हैं। अन्यत्र कहा जा चुका है कि साहित्यकार उद्गारी के रूप में स्वयं आनन्द की अनुभूति करता हुआ अपनी अनुभूति सामाजिकों को भी कराता है। इस उद्देश्य की सिद्धि कल्पना और कला के सम्मिलित उपचार से ही हो सकती है। कोरी कल्पना इस काम को तभी सम्पन्न कर सकती है जब कि वह कला का भार भी स्वयं ही सँभाल ले। फिर भी कला का समग्र भार न सँभल सकने के कारण उसका अभाव तो खटकता ही रहेगा।

जितना महत्त्व कल्पना में उड़ान का है, उतना ही कला में कौशल का है। कल्पना साहित्यकार के समक्ष योजना प्रस्तुत करती है और कला उसे रूप प्रदान करती है। उसे किन शब्दों से, कहाँ-कहाँ रख कर किस संगति में व्यक्त करना है—इन बातों के लिए साहित्यकार को अपनी कला का सहारा लेना पड़ता है, इन कामों को कल्पना नहीं कर सकती। यह माना जा सकता है कि साहित्य में कल्पना का विशेष महत्त्व है किन्तु वह कला को पदच्युत नहीं कर सकती। यदि साहित्य को जीवन के दो दृष्टिकोणों, शक्ति और प्रयोग—से देखा जाये, तो कल्पना में शक्ति का अधिवास है और कला में प्रयोग का। विविध प्रयोगों में शक्ति विद्युत् की भाँति विविध रूपों में व्यक्त होकर भी अपनी एकता को सुरक्षित रखती है; अतएव कल्पना-शक्ति की एकता और कला की अनेकता स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं दिखायी पड़ती। चौंसठ कलाएँ कला की अनेकता को ही प्रमाणित करती हैं।

जिस प्रकार मूल भाव दुख और सुख दया, क्षमा, दीनता, क्रोध, हर्ष, उत्साह, सहानुभूति आदि अनेक रूपों में प्रतिभासित होते हैं, उसी प्रकार कल्पना मूल रूप के अतिरिक्त गौण रूप में भी प्रतिभासित होती है। मूल या प्राथमिक कल्पना दृष्टि की साद्यन्त पुनरावृत्ति है, और गौण कल्पना मूल ही की प्रतिध्वनि होती है।

कला से विरहित कल्पना की कल्पना ही नहीं की जा सकती। मूलरूप में कला कल्पना से प्रेरित होकर ही मूर्तिमान होती है, पर वह अपनी बारी से दर्शक की कल्पना को भी सजग कर सकती है।

उपर्युक्त विवेचना के गर्भ में एक शंका यह भी उठ सकती है कि यदि साहित्य आनन्द का उद्गार है तो उसकी अनुभूति उद्गारी को ही हो सकती है, वह पाठक या श्रोता को आनन्द कैसे दे सकता है? यदि नहीं दे सकता तो रामायण आदि से केवल कृतिकार के आनन्द की ही सम्भावना रह जाती है, उनकी सर्वानन्ददायकता सिद्ध नहीं होती। इसके समाधान के लिए साहित्य के प्रतिरूपणत्व को सामने रखना होगा। किसी छड़ी के

घोड़े पर सवार होकर उसे अपने कोड़े से पीटकर भगाता हुआ शिशु अश्वा-रोही कितना आनन्दित दीख पड़ता है, दौड़ते हुए घोड़े का चित्र देखकर आप कितने प्रसन्न होते हैं, चित्र में हँसते हुए बालक को देख कर आप कितने आल्हादित होते हैं अथवा दर्पण या नई फोटो में अपना रूप देखकर हमें कितना आनन्द होता है ! क्यों ? इसीलिए न कि वह प्रतिकृति या प्रतिरूप है । साहित्य से पाठक या श्रोता को भी इसी प्रकार आनन्द होता है । जब वह अपने या दूसरे के जीवन की प्रतिमा या प्रतिकृति का दर्शन या श्रवण करता है तो सहसा आनन्दित हो उठता है । व्यक्तिगत उद्गार समाज की सहानुभूति एवं स्वीकृति पाकर ही उसकी सम्पत्ति बन सकते हैं और तभी वे 'साहित्य' नाम प्राप्त कर पाते हैं । समाज से उद्गारी को प्रेरणा मिलती है । उसकी सहानुभूति पाने पर ही वह कृतकार्य हो सकता है, अतएव वह समाज की अवहेलना नहीं कर सकता । जिस उद्गार या साहित्य में समाज की उपेक्षा है वह व्यक्तिगत राग-द्वेष या सुख-दुख के चित्र ही प्रस्तुत कर सकता है, विशाल और व्यापक जीवन की प्रतिमा नहीं बना सकता । अतः साहित्यकार का यह लक्ष्य रहता है कि उसके आनन्दोद्गार में सामाजिक जीवन की पुनरावृत्ति या प्रतिकृति भी रहे । इसी दशा में उद्गारी अपने मानसिक भार को कम करता हुआ समाज के मानसिक भार को हल्का कर सकता है । तभी वह आनन्द का कर्ता और भोक्ता कहला सकता है और तभी उसका उद्गार साहित्य का पद पा सकता है ।

व्यक्ति और समाज का बड़ा गहन सम्बन्ध है । जिस प्रकार मानव इकाई के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार समाज से पृथक् किसी व्यक्ति की भी कल्पना नहीं की जा सकती । व्यक्ति की क्रियाएँ सामाजिक प्रतिक्रियाओं को जन्म देती हैं और सामाजिक क्रियाएँ व्यक्तिगत प्रति-क्रियाओं को । व्यक्तिगत जीवन, वैयक्तिक हानि-लाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, यश-अपयश आदि समाज को भी किसी न किसी रूप में प्रभावित करते ही हैं, उसी प्रकार समाज की उथल-पुथल से वैयक्तिक जीवन का अछूता रहना भी असम्भव ही है ।

साहित्य संस्कृति का इतिहास भी होता है । किसी जाति की संस्कृति का अध्ययन करने के लिए हमें उस जाति-विशेष के पारस्परिक आचार-व्यवहार, विचार-विनिमय, धर्म-नीति, राजनीतिक परिस्थिति, सामाजिक संगठन, शिक्षा आदि पर भी विचार करना पड़ता है । इन सब का विवरण उस जाति का साहित्य प्रस्तुत करता है । उदाहरण के लिए भारतीय संस्कृति (जो संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में मानी जाती है) को ही लीजिये । उसके प्राचीन

आध्यात्मिक रूप के दर्शन हमें वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों आदि में होते हैं। उस समय यज्ञों की प्रधानता थी। धीरे-धीरे पशुवलि का समावेश भी होगया। समाज के विकसित होने के साथ-साथ वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था भी समाज में आती गई। ब्राह्मण यज्ञादिक कार्यों में अपनी प्रधानता देखकर दम्भी होते गये। उस समय मन्दिर आदि पूजा स्थानों का प्रायः अभाव रहा।

यज्ञविरोधी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बौद्ध और जैन धर्मों का प्रदुर्भाव हुआ जो एक प्रकार से प्राचीन धर्म में सुधार के लिये आये थे। इसी समय वासुदेव-सुधार-आन्दोलन भी प्रचारित हुआ। इन्होंने वैदिक कालीन कर्म-काण्डों तथा हिंसा का विरोध किया। इनका साहित्य भी प्रधानतया अहिंसामूलक ही है।

भारतीय संस्कृति के मध्यकाल में हमें पुराणों की रचनाएँ (विष्णुपुराण, अग्निपुराण, श्रीमद्भागवत् आदि) मिलती हैं। धर्म के क्षेत्र में देवत्रयी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश को प्रधानता दी गई। आगे चल कर पौराणिक धर्म में भी परिवर्तन हुआ। शिव के साथ उमा की उपासना की अनिवार्यता भी प्रतिष्ठित हो गई जिसने तांत्रिक युग में काली का रूप धारण किया।

पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी भक्ति की लहर का काल था। इस समय के साहित्य में भक्ति के सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों की प्राप्ति होती है। राम और कृष्ण को लेकर सगुण भक्ति दो शाखाओं में विभक्त हो गई।

इस प्रकार धीरे-धीरे संस्कृति के रूप बदलते गये और साहित्य उसका वर्णन करता रहा। रीतिकाल में संस्कृति भौतिकता की ओर झुकी जिसका दिग्दर्शन उस काल का साहित्य कराता है।

आधुनिक संस्कृति का प्रधान लक्षण सुधार की ओर झुकाव है। स्वामी दयानन्द ने आर्य-धर्म का परिष्कृत रूप जनता के सामने रखा जिसका प्रभाव हिन्दी साहित्य एवं भाषा पर भी पड़ा। साहित्य और संस्कृति अपनी वैभव-दशा में समाज के कर्णधार का काम करते हैं। मानव कुछ सीखने के लिए अपने पूर्वजों की संस्कृति और साहित्य की ओर उन्मुख होता है। यदि किसी देश में साहित्य और संस्कृति अत्यन्त उन्नत हों, अन्य देशों के मनुष्य उसकी ओर श्रद्धा से देखते हों तो उस देश का समाज भी उन्हीं के अनुरूप आचरण करने की चेष्टा करता है। आज भी प्रत्येक हिन्दू रामचरितमानस को अपनी उच्च प्राचीन संस्कृति का द्योतक ग्रन्थ मानकर उसको श्रद्धा की दृष्टि से देखता तथा उसके अनुरूप आचरण को अच्छा मानता है। बौद्ध संस्कृति तथा साहित्य के अपने उच्चतम शिखर पर होने के समय समाज उसी के अनुरूप आचरण की चेष्टा करता था। इसी से अहिंसा का

प्राधान्य था जबकि वैदिक संस्कृति और साहित्य ने मानव को यज्ञादि कर्म-काण्ड की ओर प्रेरित किया था।

समाज के कर्णधार होने के नाते साहित्य और संस्कृति दोनों का लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति कराना है। मानव का एक मात्र ध्येय आनन्द की प्राप्ति है और उसके इसी ध्येय की अभिव्यंजना साहित्य में होती है जो अपने मूल-रूप में संस्कृति पर आश्रित है।

जिस प्रकार अपनी उन्नतावस्था में साहित्य और संस्कृति समाज का नेतृत्व करते हैं उसी प्रकार पतितावस्था में समाज का विनाश भी कर देते हैं। रीतिकालीन साहित्य और संस्कृति के प्रभाव के फलस्वरूप समाज में भी नैतिकता का ह्रास होने लगा। पाश्चात्य देशों में जहाँ भौतिकता अधिक है और स्त्रियों के सौन्दर्य को प्रधानता दी गई है वहाँ नारी ममता, सेवा, त्याग आदि गुणों को छोड़ कर अपने शृंगार और फैशन को ही प्रधानता देती है। वहाँ वह उपभोग की ही वस्तु अधिक है। भारतीय नारी का उच्चादर्श हमें वहाँ नहीं प्राप्त होता। यह सब पाश्चात्य संस्कृति और तदनुरूप साहित्य का ही फल है।

साहित्य और संस्कृति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध भी है। यदि साहित्य संस्कृति का इतिहास और उसका प्रचारक है तो संस्कृति उसकी प्रेरक शक्ति है। संस्कृति से साहित्य को और साहित्य से संस्कृति को प्रोत्साहन मिलता है। अतएव साहित्य के ह्रास की दशा में संस्कृति भ्रष्ट हो जाती है। साहित्य और संस्कृति दोनों का सम्बन्ध मानव के भाव-जगत और विचार-जगत से है। दोनों ही चिन्तन और स्वाध्याय से प्रसूत हैं।

साहित्य और संस्कृति दोनों का देश काल के साथ सम्बन्ध रहता है। देश काल के अनुरूप ही संस्कृति और साहित्य के बाह्य रूप में परिवर्तन होते रहते हैं। मूल भावनाएँ वही रहती हैं। प्राकृतिक अवस्थाएँ भी संस्कृति तथा साहित्य में विभिन्नता उत्पन्न करती हैं। यदि भारत की भूमि का उपजाऊपन, और प्राकृतिक सौन्दर्य आध्यात्मिक संस्कृति और साहित्य को जन्म देने में समर्थ हुए तो इंगलैण्ड की भौतिक संस्कृति और तदनुरूप साहित्य के मूल में भी देशकाल की परिस्थितियाँ ही हैं। जहाँ कण-कण की प्राप्ति के लिए प्रकृति से युद्ध करना पड़ता हो वहाँ के निवासियों का ध्यान धर्म, दर्शन आदि के चिन्तन की ओर कम ही आकृष्ट होता है।

साहित्य और संस्कृति राष्ट्रीय भावना को सुरक्षित रख कर स्वतन्त्रता को प्रेरित करते हैं। हम अपने प्राचीन साहित्य और संस्कृति को लक्ष्य करके उसे

अक्षुण्ण बनाने की चेष्टा में रत रहते हैं जिससे स्वातंत्र्य की भावना को प्रेरणा मिलती है।

साहित्य और संस्कृति दोनों ही सौन्दर्य के पोषक हैं क्योंकि दोनों का ही सम्बन्ध मनुष्य के संस्कारों, कल्पनाओं तथा भावनाओं से है और मनुष्य सौन्दर्यप्रिय प्राणी है।

संस्कृति समाज की मर्यादा रखती है उसी प्रकार साहित्य भी सामाजिक मर्यादा का परिपोषक होता है। पारस्परिक आचार-व्यवहार से लेकर विश्व-मैत्री तक की भावना को ये ही प्रेरित करते हैं।

साहित्य और संस्कृति दोनों की सर्जना का मूलाधार मानव है। मानवता के विकास के साथ-साथ ही इन दोनों का भी विकास होता गया। आदि मानव प्रकृति की गोद में पला था। वह भी प्रकृति को अपने अनुकूल रखने की चेष्टा में सतत् प्रयत्नशील रहता था। प्रातःकालीन उषा की लालिमा के पर्यवेक्षण से आनन्दित हो सुन्दर गायन कर उठता था तो आँधी, तूफान, बाढ़ आदि को देखकर प्रकृति का भीषण रूप उसे नाना प्रकार के पूजा-पाठ, यज्ञ आदि की प्रेरणा देता था। वह प्रकृति के कोमल रूप में अनन्त शक्ति के सौन्दर्य की झाँकी देखने लगा तथा उसके भीषण रूप में रुद्र को। इस प्रकार इस समस्त प्रकृति को संचरणशील करने वाली शक्ति की कल्पना अनन्त शील, अनन्त सौन्दर्य एवं अनन्त शक्ति के रूप में की गयी। यही कारण है कि विश्व भर की मूल मानवता का झुकाव आध्यात्मिकता की ओर ही अधिक रहा। फलस्वरूप उस समय की संस्कृति मूलतः आध्यात्मिक थी तथा उसी आध्यात्मिकता के दर्शन उस समय के साहित्य में भी होते हैं।

साहित्य तथा संस्कृति दोनों के मूल में मानवीय मनोवृत्तियाँ रहती हैं। दोनों का ही क्षेत्र विशाल होते हुए भी एक अन्तर है : साहित्य विश्वव्यापी तथा जातीय दोनों प्रकार का होता है परन्तु संस्कृति प्रायः जातीय ही होती है। उदाहरणार्थ यदि हम पूरे विश्व की एक मानव संस्कृति की कल्पना करें और फिर उसके विभिन्न भागों की संस्कृति पर ध्यान दें तो देखेंगे कि उस अखिल मानव-संस्कृति का अंग होते हुए भी उनकी अपनी देश तथा जातिगत विशेषता है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक ही नदी की विभिन्न धाराएँ उस प्रधान धारा का अंग होते हुए भी अपना अलग अस्तित्व रखती हैं। बाह्य दृष्टि से देखने पर पूरे यूरोप की एक ही संस्कृति दृष्टिगत होती है परन्तु जर्मनी, फ्रान्स, इंगलैंड आदि विभिन्न राष्ट्रों की संस्कृति उस महान यूरोपीय संस्कृति का एक अंग होते हुए भी अपनी विशिष्टता से युक्त है। इसी प्रकार भारतवर्ष भी विभिन्न राज्यों—बंगाल, उत्तरप्रदेश, आन्ध्र,

महाराष्ट्र आदि का समूह है। यहाँ हमें एक भारतीय संस्कृति के होते हुए भी विभिन्न संस्कृतियों का सम्मिश्रण प्राप्त होता है। यद्यपि उत्तरप्रदेशीय तथा बंगाली दोनों ही भारतीय हैं परन्तु यदि पहला राम और कृष्ण का पुजारी है तो दूसरा शिव-शक्ति की भावना को प्राधान्य देता है। अपनी-अपनी संस्कृतियों के अनुरूप हीं इन जातियों का साहित्य भी है। कभी-कभी राम-चरितमानस, पैरेडाइज लॉस्ट, इलियड, ओडेसी, ला मिजरेबल, तथा कामायनी जैसे विशिष्ट साहित्य का सृजन भी हो जाता है जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक होता है। जातियों के उत्थान और पतन के साथ-साथ जातीय साहित्य भी बदलता रहता है परन्तु विश्व-साहित्य चिरन्तन है। स्थायित्व हमें रामचरित-मानस जैसे काव्य में ही मिलता है। समय ज्यों-ज्यों व्यतीत होता जाता है त्यों-त्यों इसकी व्याप्ति भी बढ़ती जाती है। शिष्टाचरण रहन-सहन सब बदल गये पर इसकी ख्याति बढ़ती ही गई। विन्सेन्ट स्मिथ ने तो यहाँ तक कह दिया है कि यदि हम राम के स्थान पर क्राइस्ट रखलें तो यह प्रत्येक ईसाई की धर्म पुस्तक हो सकती है।

इसके विपरीत कुछ साहित्य केवल अपने ही समय के लिए होता है। रीतियुग का कुछ साहित्य युग विशेष की वस्तु होने के कारण सार्वकालिकता नहीं प्राप्त कर सका। उसका अध्ययन स्वाभाविक प्रेरणा से कभी नहीं हो सकता, भले ही कोई अलंकारों के अध्ययन तथा परीक्षा की दृष्टि से उसे पढ़ले।

आधुनिक काल का प्रगतिवादी साहित्य भी इसी प्रकार का है। यह भूख-साहित्य भारतीय संस्कृति का द्योतक न होकर काल विशेष की समस्याओं का द्योतन मात्र करता है। भूख-समस्या क्षणिक समस्या है, उसमें नैरन्तर्य नहीं है। रोटी मिलने पर क्षुधा शान्त हो जाती है और न मिलने पर मृत्यु। अतएव रोटी मिलने पर इस समय के साहित्य का भी अस्तित्व नहीं रहेगा। प्रेमचन्द जी का ग्राम्य-समस्या-सम्बन्धी साहित्य (प्रेमाश्रम, गोदान आदि) भी इसी प्रकार का है। वह भी कुछ काल पश्चात् नष्ट हो जायेगा। इस प्रकार का साहित्य प्रचार-साहित्य होते हुए भी संस्कृति का चित्र नहीं होगा। जिस साहित्य में संस्कृति की मूल परम्परा नष्ट हो जाती है वह संस्कृति का, मानव का साहित्य नहीं हो सकता।

संस्कृति जातीय होते हुए भी मूल मानव-संस्कृति का अंग रहती है। इस अर्थ में उसे हम चिरन्तन कह सकते हैं। भारत के सतयुग की आध्यात्मिक संस्कृति कलियुग की घोर भौतिक संस्कृति से आवृत भले ही हो गयी हो परन्तु वह नष्ट नहीं हो सकती क्योंकि हम यह मानते हैं कि घोर कलियुग के

प्रतिक्रिया-स्वरूप सतयुग का प्रत्यावर्तन होता है और यह चक्र सदैव चलता रहता है; अतएव युग विशेष में संस्कृति के चिरन्तन रूप में विकार भले ही आजाये परन्तु वह पूर्णतया नष्ट कभी नहीं होती। संस्कृति विकृति की सत्ता को सिद्ध करती है। जब विकृति संस्कृति को आवृत कर लेती है तो संस्कृति का रूप भी बदला हुआ दीखता है और उसके अनुरूप ही साहित्य का भी। भारतीयों के आध्यात्मिक साहित्य के घोर भौतिक रूप धारण करने के मूल में भी यही कारण है। संस्कृति के अनुरूप ही साहित्य का भी निर्माण हुआ है।

साहित्य और संस्कृति में कालक्रमानुगत कुछ रूढ़ियाँ भी आ जाती हैं। हमें अपने साहित्य अथवा संस्कृति का अंधानुकरण भी नहीं करना चाहिए। कुछ आचरण अथवा जाति व्यवस्थाएँ जो एक समय के लिए उपयुक्त हों दूसरे समय के लिए भार-स्वरूप भी हो सकती हैं।

भारतीयों की प्राचीन वर्णव्यवस्था आधुनिक युग के लिए ठीक नहीं हो सकती। अतः उन रूढ़ियों में नियमानुसार कुछ सुधार भी आवश्यक हो जाता है। हमें अपनी संस्कृति और साहित्य के सद्गुणों का ग्रहण और अवगुणों का त्याग अवश्य करना चाहिए।

साहित्य और संस्कृति पर बाह्य प्रभाव भी अवश्य पड़ते हैं। रीतिकालीन संस्कृति और साहित्य का विलास और श्रृंगार की ओर झुकाव मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव के ही फलस्वरूप है। भारतीय नारी का अपने आदर्श को त्याग कर अधिकारों की माँग करना पाश्चात्य संस्कृति का ही प्रभाव है।

आधुनिक युग में जब विभिन्न संस्कृतियाँ तथा साहित्य एक दूसरे के निकटतर आते रहते हैं, एक दूसरे को प्रभावित करते ही रहते हैं। एक संस्कृति दूसरी संस्कृति के इतने सम्पर्क में आ जाती है कि कई बार तो उसकी मूल संस्कृति को पहचानना ही कठिन हो जाता है।

किसी जाति की संस्कृति को प्रभावित करने अथवा नष्ट करने का सहजतम द्वार साहित्य है। हम साहित्य द्वारा ही अन्य जातियों की संस्कृतियों के सम्पर्क में आते हैं तथा अपनी प्राचीन संस्कृति के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं। साहित्य के अध्ययन से ही हमारी विचारधारा भी प्रभावित होती है। यह पाश्चात्य संस्कृति का ही प्रभाव है कि आज 'प्रसाद' जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त हैं, भारतीय नारी का आदर्श केवल श्रद्धा न मानकर इड़ा से सहयोग प्राप्त की हुई श्रद्धा मानते हैं।

भारतीय साहित्य का निराशावाद एवं उत्तरदायित्वशून्य मतवालापन भी मुस्लिम संस्कृति की देन है जिससे प्रभावित हो 'बच्चन' जी 'हाला' और 'प्याला' को कविता का प्रधान अंग बना लेते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति और साहित्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि साहित्य संस्कृति का प्रचारक, उन्नायक एवं पथ-प्रदर्शक है तो संस्कृति साहित्य का जीवन है। जितनी ऊँची संस्कृति होगी उतना ही उच्चकोटि का साहित्य होगा। आधुनिक काल में एक देश की संस्कृति तथा साहित्य के एक-दूसरे से परस्पर प्रभावित होने के कारण विभिन्न देशों के साहित्य में समान भावनाएँ तथा समस्याएँ प्राप्त होती हैं। पाश्चात्य देशों के यथार्थवाद, अभिव्यंजनावाद, छायावाद आदि हिन्दी साहित्य की आधुनिक उपलब्धि हैं। अतः यदि साहित्य को संस्कृति का पोषक मानें तो संस्कृति साहित्य का प्राण है। एक के नष्ट हो जाने पर दूसरे का अस्तित्व भी नहीं रहता।

साहित्य के उदय के सम्बन्ध में कोई निर्णीत मत न होते हुए भी इतना अनुमान तो किया ही जा सकता है कि जब से मनुष्य वाणी द्वारा अपने भावों और विचारों को दूसरों तक प्रेषित करने लगा होगा, तभी से साहित्य का बीजपात हो गया होगा। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि साहित्य जटिलता के आविर्भाव के साथ-साथ ही अपने लिखित रूप की आवश्यकता भी प्रगट करने लगा होगा। धीरे-धीरे रुचि-भिन्नता के कारण वह अनेक पद्धतियों में विकसित होने लगा होगा। यदि विकासवाद में अंशमात्र भी सत्य है तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि चेतना के विकास के साथ मानव की आत्माभिव्यंजन की प्रवृत्ति भी बहुमुखी होती गई। एक पद्धति या शैली से सौन्दर्य-रुचि की तृप्ति न होने से अनेक पद्धतियों ने जन्म लेकर साहित्य को विकास की जिस सीमा तक पहुँचा दिया है, उसे देखकर आदिम साहित्यकारों को शायद विस्मय अवश्य होता। एक बड़े महत्त्व की बात जो हमें इन पद्धतियों के सम्पर्क में आजाने से अवगत होती है, वह यह है कि व्यक्ति और समाज के मध्य मनोवृत्तियों की अनुकूलता की प्रतिष्ठा अवश्य रही है, अन्यथा भावों और विचारों के साथ उन पद्धतियों का अद्यपर्यन्त प्रचलन सम्भव न होता।

२

साहित्य और संस्कृति

संस्कृति की अनेक परिभाषाएँ प्रचलित हैं। कोई-कोई विद्वान् संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं जिससे कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि-निक्षेप करता है। कुछ पंडितों का कहना है कि संस्कृति किसी जाति विशेष के चाल-चलन, रहन-सहन, आहार-व्यवहार आदि को बनाने वाले स्वाभाविक कल्याणमय आचरण का नाम है। दूसरे कुछ लोगों का कहना है कि मानव-सहृदयता और बुद्धि-वैभव जिस मात्रा में आज उपलब्ध हैं, उसी मात्रा में वे सदैव नहीं रहे हैं। उनका सदैव विकास होता रहा है। यही विकास संस्कृति है। जो हो, परिभाषा के पचड़े में न पड़कर हम इतना कह सकते हैं कि सामाजिक गुणों की विकासोन्मुख अनुवृत्ति को संस्कृति के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है। संस्कृति के क्षेत्र में चेतना और व्यवहार दोनों का विलास रहता है। व्यवहार-क्षेत्र में हम उसे आदर्श पारस्परिकता, शिष्टाचार आदि अनेक नामों से अभिहित करते हैं। चेतना-क्षेत्र में संस्कृति वह ज्ञान-समीरण है जो मानव-जीवन की सरिता में क्रियानुगा भावोर्मियों को जन्म देकर युग-तल पर अपने गति-चिन्ह अर्पित करती चली जाती है, जिसका आलिंगन सरस एवं मधुर है, और जिसमें झंझा की भयंकरता नहीं होती। चेतना और व्यवहार दोनों से पुष्ट जीवन ही संस्कारमय जीवन होता है। मानवीय-निष्ठा और विश्वास का आश्रय लेकर संस्कृति ही धर्म-रूप में प्रकट होती है। सांस्कृतिक चेतना विवेकसिद्ध होकर जब अन्तर्मुखी हो जाती है तो आध्यात्मिक वैभव प्राप्त करती है। किसी जाति के कलात्मक प्रयत्नों का उदय भी संस्कृति के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। वे प्रयत्न लौकिक होते हुए भी सांस्कृतिक प्रभाव की उस अवस्था का द्योतन करते हैं जहाँ मानव, प्रयोजनों से टकराता हुआ भी, उनसे ऊपर उस रागात्मक एकता और सौन्दर्य-

वृत्ति की उच्चता प्राप्त करता है जहाँ लोकाचार के पीछे सामाजिक कल्याण की भावना सन्निहित रहती है। अतएव सामाजिक चेतना की समग्रता का सर्वोत्तम निर्वाह ही, जिसमें वैयक्तिकता विकारमुक्त होकर साधनाओं का श्रेष्ठतम आकलन करती है, संस्कृति है। मनुष्य की इन श्रेष्ठतम साधनाओं में जो सबसे सूक्ष्म और मननीय साधना है, उसी का प्रकाश साहित्य है।

बाहरी भेद-विभेद से परे मूल में मनुष्य एक है। इसी एकता का परिपालन करता हुआ साहित्य बाह्य जगत् के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है, और हम जगत् को अपने में और अपने को जगत् में घुला-मिला पाते है। मनुष्य की इसी महान् रागात्मक एकता को पाने के लिए समस्त संकीर्ण स्वार्थों का बलिदान, क्षणिक आवेगों का दमन, उत्ताल संवेगों का निरोध, पशु-वृत्तियों का संयमन, और आत्म-धर्म का परिज्ञान आवश्यक होता है। उससे चित्त में जो परमानन्द उद्वेलित हो उठता है, उसी का प्रकाशन साहित्य है। साहित्य में 'सहित' का भाव है, जो 'हितकर' और 'साथ' दोनों का वाचक है। साथ वही देता है जो हितैषी होता है। साहित्य मनुष्य को कल्याण की ओर अग्रसर करता है। इसी से उसका 'साहित्य' नाम सार्थक है।

संस्कृति मानवता के समान पुरातन है किन्तु विकास उसका सहज गुण है। जिन सहज वृत्तियों को अपने स्वभाव में लेकर मानव जन्म लेता है, परिस्थितियाँ उन्हें विकसित और परिष्कृत करती हैं। इस क्रिया को संस्कार कहा जाता है। बीजरूप संस्कारों के अनुरूप ही मनुष्य के कर्म बनते हैं। विकसित संस्कारों से सुखद कर्मपद्धति को जन्म मिलता है। उन विकसित संस्कारों की घनीभूत कर्ममयी समष्टि का इतिहास ही सांस्कृतिक इतिहास है।

संस्कृति और साहित्य की कसौटी मनुष्य है और मानव-जीवन इनकी आधारशिला है। मनुष्यता का अनुभव प्रयोजनों के लोक से ऊपर उठकर ही अधिक मधुर हो सकता है। संस्कृति और साहित्य इसी मधुरता के प्रेरक हैं। संस्कृति मानव-जीवन का ऐश्वर्य है। सांस्कृतिक चेतना मानव-जीवन का आश्रय लेकर प्रकट होती है। संस्कारों से आचार-विचार शुद्ध होते हैं। संस्कारों की परंपरा चलती है। उनका परिचय कुछ बाहरी बातों से होता है जैसे लोक-व्यवहार आदि। संस्कृत से हमारा तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो न केवल बाहरी व्यवहार के कारण ही भद्र आदि विशेषणों का अधिकारी है, अपितु मानसिक और आत्मिक विकास के कारण भी उदार, सुशील, महात्मा आदि नामों से विभूषित होने योग्य है क्योंकि कर्म-परंपरा को प्रेरित करने में उदात्त वृत्तियाँ ही प्रमुख तथा आधारभूत होती हैं। अतएव संस्कृति प्रायशः आन्तरिक गुणों का सामाजिक रूप है जिससे चित्तवृत्तियों के सूक्ष्म

विकास का परिचय मिल सकता है। मानव के सहजात संस्कार और जीवन का प्रत्येक दिन संस्कृति-निर्माण के इतिहास में नया पृष्ठ जोड़ते हैं। संस्कारों से प्रारंभ कर मनुष्य मनुष्यता की उच्चतर अभिव्यक्ति की ओर बढ़ता जाता है और साथ ही साथ संस्कृति का निर्माण भी होता जाता है। किसी जाति ने अपने संस्कारों के सर्वोत्तम स्वरूप को जितने अंश में प्रकाशित किया है, उसकी संस्कृति उतनी ही सार्थक और महान् है। इसी परिष्कार-चेष्टा में प्राचीन ऋषि की यह प्रार्थना है:—

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा ऽ मृतं गमय॥

यहाँ असत् से सत्, अन्धकार से प्रकाश और मृत्यु से अमृत की सिद्धि की अभिलाषा का उल्लास है।

परिष्कार-क्रम की तीन अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं—शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास। आत्मिक विकास पूर्णतम स्थिति है। इस विकास-क्रम में जो जितना उन्नत होता है, वह उतना ही संस्कृत होता है। भौतिकता का संस्कृति में गौण स्थान होता है पर उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

साहित्य मनुष्य के जीवन-सागर से उठी हुई उत्तुंगतम तरंग है। मानव जाति के भावों, विचारों और संकल्पों की आत्मकथा साहित्य के रूप में प्रसारित होती है। साहित्य मनुष्य जीवन का चरम विकास है। वाल्मीकि, कालिदास और व्यास मनुष्य की महिमा के प्रचारक थे, उसकी दुर्बलता के नहीं। इसी महिमा को समझते हुए प्राचीन ऋषि ने कहा था—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि।
न मनुष्याच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्॥

अर्थात् तुम्हें एक गुप्त रहस्य बताता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठतर कुछ भी नहीं है। साहित्य में साधारण मनुष्य को संकीर्णता से ऊपर उठाने की शक्ति होनी चाहिए। वह केवल कौशल नहीं, विलास नहीं, वह मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठा कर उच्च दिव्यासन पर प्रतिष्ठित करने का साधन भी है। इसीलिए साहित्य सजीव है। वह मानव-जगत् में नये भावों की सृष्टि करता है और अलौकिक रस देकर मनुष्य को प्रयोजनों के संकीर्ण लोक से ऊपर असीम भाव-लोक के उन्मुक्त प्रांगण में ले जाता है। वाल्मीकि को जब सरस्वती का साक्षात्कार हुआ तो उन्हें सब से बड़ी चिन्ता यह हुई कि इस साधना के उपयोग से महान् चरित्र की अवतारणा किस प्रकार की जाये, जिससे मनुष्य प्रयोजनों से ऊपर उठ कर, परिष्कृत होकर, पृथ्वी पर रह कर

भी स्वर्ग का देवता बन सके। मनुष्य के क्षुद्र स्वार्थ उसे नीचे की ओर खींचते हैं, इसलिए कुछ ऐसा होना चाहिए जो उसे निम्न लोक से भुलावा देकर भावना के स्वाधीन और परिष्कृत लोक में ले जाये। तभी कवि कह उठा—

मैं चाहता देवत्व पद पर,
उठा देना क्षुद्र मानव को।
उठाना चाहता हूँ इस धरा पर
स्वर्ग का प्रासाद—'टैगौर' (अनुवाद)

बस, मर्यादा पुरुषोत्तम राम की कल्पना कर ली गई—उन राम की जो विपत्ति में कभी म्लान नहीं हुए, विजय-दशा में क्षमा करना कभी न भूले, शक्ति पाने पर भी सदय ही रहे, उच्च स्तर की सफलताओं को पाकर भी जीवन के मध्य में गम्भीर तल की धाराओं को न भूले और धर्मविग्रह ('रामो विग्रहवान् धर्मः'—छान्दोग्य उपनिषद्) बन कर जिन्होंने लौकिक अलौकिकता को सिद्ध कर दिया।

साहित्य का आधार भी मनुष्य और लक्ष्य भी मनुष्य है। साहित्य के कण-कण का (राजनीति, धर्म, व्यवहार, भाषा सब का) उद्देश्य यही है कि मनुष्य को दुर्गतियों से बचा कर मनुष्यता के आसन पर किस प्रकार बैठाया जाये।

संस्कृति अखण्ड और अविभाज्य है। उसके विभिन्न स्तर हो सकते हैं, भेद नहीं, जैसे समाज-संस्कृति, युग-संस्कृति, जाति-संस्कृति और मानव-संस्कृति। मानवीय या विश्व-संस्कृति ही इसके विकास की परमावस्था है। इसके मूल तत्त्व अपरिवर्तित रहते हैं। देश, काल और स्थिति के कारण बाह्य स्वरूप में अन्तर पड़ने पर भी मौलिक रूप नहीं बदलता। समग्र विश्व की एक सामान्य मानव-संस्कृति है जिसकी व्यापक विशालता का सर्वत्र व्यापक अनुभव होना सरल नहीं है। नाना ऐतिहासिक परम्पराओं के भीतर से निकल कर भौगोलिक परिस्थितियों में रह कर संसार की विभिन्न जातियों ने इस महान् मानवीय संस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है। नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और अन्य उपचारों द्वारा इस महान् व्यापक सत्य को प्राप्त करने का सतत् प्रयास मनुष्य करता आया है। विश्व-संस्कृति स्पष्ट नहीं है क्योंकि मनुष्य इसके सम्पूर्ण व्यापक रूप को देख नहीं पाया है, उसका आभासमात्र पा सका है। विश्व के सभी महान् तत्त्व इसी प्रकार मानव मन में आभासित होते हैं। उनका आभासित होना उनकी सत्ता का प्रमाण है। मनुष्य की श्रेष्ठ मान्यताएँ केवल अनुभूत होकर अपनी महिमा सूचित करती हैं किन्तु अनुभूति का व्यक्तीकरण भी सहज काम नहीं

है। इसीलिए कवि अपनी सत्यानुभूति को प्रकट करते समय विवशता प्रकट करता है—

"ऐसा तो नहीं तैसा लो,
मैं केहि विधि कहौं, अनूठा लो।"

सामान्य विश्व-संस्कृति अनूठी वस्तु है। उसकी परिधि मानवता के समान ही विशाल है। सत्य अखंड, अविभाज्य और विरोधशून्य होता है। विश्व-संस्कृति ऐसा ही अविरोधी विशाल तत्त्व है। उसकी अविरोधिता घोषित करते हुए महाभारत में कहा गया है :—

"धर्मो यो बाधते धर्म
न स धर्मो कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः
स धर्मो मुनिसत्तम॥"

अर्थात् जो धर्म दूसरे धर्म को बाधित करता है, वह धर्म नहीं है : कुधर्म है। सच्चा धर्म अविरोधी है। बाहर से भिन्न दीखने वाले संस्कार एक ही प्रकार के मनोभावों को लेकर जन्म ले लिया करते हैं, पर जातिगत परि-स्थितियाँ उनके कलेवर को बदल देती हैं। भिन्न-भिन्न देशों और जातियों द्वारा अनुभूत एवं साक्षात्कृत अविरोधी मानव-संस्कृति मनुष्य की विकास-यात्रा की विजय-पताका है। यह मानवमात्र का दुर्लभ लक्ष्य है। उसने इसे सम्पूर्ण रूप में नहीं पाया है। भिन्न-भिन्न जातियों ने इसी महान् मानव-संस्कृति के साक्षात्कार करने के प्रयत्न में इसके केवल कुछ पहलुओं को पाया है, जिन्हें समष्टिरूपेण अपनी या जातीय संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है। सामान्य अर्थ में संस्कृति शब्द जातीय संस्कृति का ही द्योतक है।

मानव-संस्कृति में परम्परानुकूलता का बड़ा महत्त्व है। मानव अपनी जाति में अविभाज्य है। मानवता भी वैसे ही अविभाज्य है जैसे जीवन। लौकिक सीमाएँ मानवता को विभक्त नहीं कर सकतीं और न मानवीय संस्कृति को ही। जिस जाति के संस्कार जितने व्यापक, जितने सामंजस्यपूर्ण और सुलझे हुए होते हैं, वह जाति उतनी ही संस्कृत होती है। मनुष्य के संस्कार निरन्तर हैं और संस्कृति भी शाश्वत और निरन्तर है।

देश, जाति या काल विशेष के साहित्य और सौन्दर्य में बाह्य विभिन्नता होने का कारण हैं जातीय संस्कार, किन्तु उनके जन्म देने वाले मूल संस्कार, जो मानव जाति के साथ उत्पन्न होते हैं, चिरन्तन और सनातन हैं। जब तक मानवता रहेगी, ये भी नष्ट नहीं हो सकते। संस्कृति की परम्परा भी कभी नष्ट नहीं होती। यदि वह नष्ट हो जाये तो मानव साहित्य-नष्ट हो जाये।

जीवन की इन्हीं चिरन्तन वृत्तियों को लेकर चलने वाले साहित्यकारों का साहित्य विश्व-विख्यात, चिरन्तन और स्थायी होता है। यही कारण है कि मौलिक मानवीय संस्कारों को लेकर चलने वाले साहित्यकार की रचनाएँ (साहित्यकार चाहे किसी भी देश या जाति का हो) देश-काल की सीमाएँ तोड़ कर सर्वप्रिय हो जाती हैं। श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाएं व्यक्ति या जाति की अनुभूति की सीमाओं में आबद्ध नहीं होतीं। वे सम्पूर्ण मानवता की चेतना का अनुकरण एवं अनुरणन होती हैं। कालिदासकृत अभिज्ञान शाकुन्तल के विश्व-प्रिय होने का यही कारण है। उसके इसी गुण ने जर्मन विद्वान् गेटे तक के हृदय को मुग्ध कर लिया। अभिज्ञान शाकुन्तल का मौलिक गुण राष्ट्रीय मंगल का विश्व-मंगल से सामंजस्य है। उमरखय्याम की रुबाइयों ने विधि-निषेधों की सीमाओं को तोड़कर भी मनुष्य का हृदय जीता है। शेक्सपियर के नाटकों ने एकदम विरुद्ध समझी जाने वाली संस्कृतियों का मनहरण किया है। हेमलेट का अन्तर्द्वन्द्व मानवमात्र का अन्तर्द्वन्द्व है। इसी कारण हेमलेट हमको भी उतना ही प्रिय है जितना एक अंग्रेज को। 'लॉ मिजरेबिल' आदि ऐसी ही कृतियाँ हैं; वे जाति आदि की दृष्टि से विच्छिन्न होती हुई भी सर्वकालीन हैं। इन साहित्यकारों ने मनुष्यमात्र की अनुभूतियों को प्रधानता देते हुए सामयिक बातों का समन्वय किया है। मैं समझता हूँ यही कारण है कि ग्रीस की मूर्तियों ने संसार के सभी कलाविदों और पारखियों का आदर पाया है। ताज विशिष्ट मनोभाव को लेकर निर्मित होने पर भी विश्व को मुग्ध कर सका है।

पर साहित्य पर जातीय भावों तथा विचारों की छाप किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहती है। साहित्यकार की कृति में चिरन्तन वृत्तियों की प्रधानता होने पर भी उसके जातीय संस्कार, उस जाति की प्रतिभा, पद्धति, उन्नति, विकास और विश्वासों के अनुसार उसे एक विशिष्टता देते हैं जिससे हम पहिचान लेते हैं कि साहित्यकार अमुक जाति का है। अमर जीवन में भारतीयों का विश्वास होने के कारण यहाँ की रचनाओं में सुखान्तता की प्रधानता दीखती है और आदि कवि (वाल्मीकि) के महान् नायक विश्व के लिए आकर्षक होने पर भी आर्य-संस्कृति के ही प्रतिनिधि हैं। उनमें मानवीय गुणों के साथ जातीय गुणों की पूर्ण प्रतिष्ठा है। कालिदास के काव्यों में मानवीय संस्कृति के साथ-साथ जातीय संस्कृति भी दूर से ही चमकती है।

साहित्य संस्कृति का इतिहास है। स्थूल रूप में संस्कृति का दर्शन एकमात्र उसी से हो सकता है। उसके बिना संस्कृति का सुष्ठु अनुमान नहीं हो सकता। किसी देश का उन्नत साहित्य उसकी सांस्कृतिक महत्ता का द्योतन करता है और किसी देश की समृद्धि और विभूति का परिचायक भी साहित्य ही होता

है। प्रत्येक श्रेष्ठ कवि और कलाकार अपने संस्कार, जीवन तथा वातावरण के प्रति इतना सजग और संवेदनशील होता है कि उसकी कल्पना, अनुभूति और ज्ञान में उसकी संस्कृति का चित्र प्रस्तुत हो जाता है। प्रत्येक देश या जाति के श्रेष्ठ कवि अथवा साहित्यकार अपनी जाति की संस्कृति के जागरूक प्रहरी होते हैं। जाति या देश की संस्कृति उस देश के श्रेष्ठ साहित्यकारों की वाणी में बोलती है। वेद, उपनिषद् आदि धर्मग्रन्थों से ही नहीं, अपितु कालिदास, भवभूति, वाण आदि की रचनाओं से भी भारतीय संस्कृति का पर्याप्त परिचय मिल सकता है। कवि-कुल-गुरु कालिदास ने रघुवंश में आर्य-संस्कृति का सुन्दर परिचय दिया है। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन नहीं है कि साहित्य पूर्वजों के संचित ज्ञान का भण्डार है। वह अतीत का प्रतिबिम्ब और अनागत का प्रदीप होता है।

साहित्य और संस्कृति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदिक मूल मानवीय प्रवृत्तियों के विविध परिष्कार-क्रम के इतिहास हैं। कोई भी कलाकार अतीत सांस्कृतिक मूलों को भूल कर अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता। साहित्य संस्कृति की चेतना है। उन्नत संस्कृति से उन्नत साहित्य का और उन्नत साहित्य से उन्नत संस्कृति का उदय एवं पोषण होता है। किसी देश का साहित्य जितनी उच्चकोटि का होगा वह उतना ही उन्नत और संस्कृतिगुरु होगा और जो जाति जितनी संस्कृत होगी उसका साहित्य-चय भी उतना ही समृद्ध होगा।

संस्कृति के साथ विकृति का द्वन्द्व चलता है, जिसमें मानवता परिष्कार और विकार के चक्र में घूमती रहती है। सभ्यता के स्तर ऊँचे-नीचे इसी कारण होते रहते हैं। जिस साहित्य में विकृति से ऊपर संस्कृति की स्थापना होती है, वह शुद्ध परिष्कृत साहित्य होता है। वही सार्वकालिक और सार्वदेशिक भी होता है। जब मानवता किसी प्रकार विकार-ग्रस्त हो जाती है तो ऐसे साहित्य को जन्म मिलता है जो मनुष्य को पुनः निम्न स्तर की ओर ले जाने वाला होता है। आज का बहुत-सा साहित्य ऐसा ही है। कुछ निम्न-कोटि का रीतिकालीन श्रृंगार साहित्य भी ऐसा ही था।

साहित्य मानवता का पथ-दर्शक होता है। परिस्थितियों की जटिलता में मनुष्य को मनुष्यता के खोने का डर बराबर बना रहता है। अन्तःशक्ति को जगाने के लिए शक्तिमय साहित्य की आवश्यकता होती है। अन्तःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाये रखने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं। साहित्य केवल कल्पना-विलासी होकर नहीं रह सकता।

सम्पूर्ण समाज को सचेत कर देने वाला साहित्य ही वाञ्छनीय है। उसी से सामाजिक हित सिद्ध होता है। समाज को भूलकर मनुष्य की अवहेलना करके भटकने वाला साहित्य साहित्य नहीं है, वह तो वाणी की कोरी नटविद्या है क्योंकि जगत् में मानव का आसन सर्वोच्च है। वह 'सृष्टि-शिरोमणि' है। पृथ्वी पर उससे बड़ा और कोई है नहीं :—

पुरुषान्न परम किञ्चित्
स: काष्ठा'स: परा गति: ।

जो साहित्य मनुष्य समाज को अज्ञान, शोक, दैन्य तथा परमुखापेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है, वह समाज की अक्षय निधि है। साहित्य वही है जो अनेक मनुष्यों के मानसिक स्तर को ऊँचा करके उन्हें मानव-सुख-दुख के प्रति संवेदनशील बनाये और अज्ञान, मोह और कुसंस्कारों से मुक्त करे। जो साहित्य केवल पांडित्य के लिए है, उससे काम नहीं चल सकता। जो मनुष्य को घुमा-फिराकर जहाँ का तहाँ छोड़ देता है, उसमें गति तो होती है, प्राण नहीं। मनुष्य के आत्म-धर्म की जागृति में साहित्य का बड़ा हाथ है। उसमें बड़ी शक्ति है। उसका एक अंग कविता ही देखिये। "वह मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमिका पर लाती है।" सांस्कृतिक साहित्य मनुष्यत्वधर्मी पुरुष को अवश्य द्रवित करता है।

सुन सीतापति शील सुभाऊ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाऊ।।

जो शील-स्वभाव मानवता का भूषण है, उससे द्रवित होना भी मानव गुण है। जो इस गुण से वंचित है वह मानवता का लाञ्छनमात्र है। उसके लिए तुलसीदास की कुढ़न उचित ही है।

परमानन्द का लाभ साहित्य का परम प्रयोजन है। "प्रत्येक सुकुमार कला की भाँति काव्य का उद्देश्य भी भावोत्थित आनन्द की विशुद्ध तथा सर्वोच्च सृष्टि करना है।" साहित्य मनुष्य का उद्वेलित आनन्द है जो उसके अन्तर में अँटाए नहीं अँट सका था। परिपक्व दाड़िम फल की भाँति रंग और रस को अपने भीतर बन्द नहीं रख सका।" मनुष्य का अन्तस् जब आनन्द से परिपूर्ण हो उठता है तो वह साहित्य द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करके दूसरों को भी अनुभूति कराता है।

संस्कृति का लक्ष्य भी मनुष्य को विकार-लोक से दूर आनन्द-लोक में ले जाना है। मनुष्य के संस्कार और परिष्कार नाना धार्मिक साधनाओं और कलात्मक प्रयत्नों के परिणाम हैं। इन सब का लक्ष्य आनन्द ही है। इसीलिए

'सर्वेभवन्तु सुखिनः' की प्रार्थना की गयी है। उपनिषदों ने जीवन का मूलाधार आनन्द ही को माना है। "आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते है, आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं और आनन्द ही में समा जाते हैं।"

साहित्य जीवन से भिन्न नहीं है, प्रत्युत उसका मुखरित रूप है। जगत् के अवलोकन और चिन्तन में हमें आनन्द प्राप्त होता है। इसी से हमारी आत्मा को सन्तोष मिलता है। एक समय ऐसा आता है जब हमें अलौकिक आनन्द की अनुभूति होने लगती है। उसी की अभिव्यक्ति का कलात्मक प्रयास कर जब मनुष्य दूसरे प्राणियों को भी आनन्द प्राप्त कराना चाहता है तो वह आनन्द साहित्य के रूप में परिणत हो जाता है।

जो मननशील हैं, चिन्तनशील हैं, वे निरन्तर विकास की ओर बढ़ते रहते हैं। मनुष्य 'स्व' के विकास की स्थूलावस्था में, इंद्रियजनित भावों की अनुभूति में आनन्द लेता रहता है। 'स्व' विकसित होकर स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। असंख्य भाव नित्यनूतन अनुभव कराते हैं। एक ऐसा समय भी आता है जब मनुष्यों के भावों में लेशमात्र स्वार्थ नहीं रहता। जो कुछ निकलता है, उसकी शुद्ध-बुद्ध आत्मा से निकलता है। वह पूर्ण संस्कृत हो जाता है।

संस्कृति के मूल तत्त्व एक होते हुए भी उनकी देश-काल विषयक विशेषता होती है जिसके कारण उसके रूप में अन्तर पड़ जाता है। किसी भी जाति की संस्कृति देश-काल की अवहेलना नहीं कर सकती। जब हम किसी मनुष्य को विदेशी संस्कृति में ढला देखते हैं तो वह हमें अपनी संस्कृति के बीच मोर के पंख लगाये कौए के समान लगता है। साहित्यकार भी देश-काल की परिस्थितियों की अवहेलना नहीं कर सकता। यदि भारतीय उपन्यासकार अपने देश और काल की परिस्थितियों का वर्णन छोड़ कर अन्य देश और काल की परिस्थितियों का वर्णन करे तो उसकी कृति में सहज आकर्षण नहीं होगा, वह जन-मन को आनन्द नहीं देगी। उन्हीं चीजों का वर्णन आनन्द देता है जिनके लिए हमारे संस्कार बन जाते हैं।

संस्कृति अपने उन्नततम रूप में मानवमात्र के लिए मंगलकर होती है। उसके मूल तत्त्वों की उदारता देश-काल से बाधित नहीं होती। सभ्यताओं का विकास और विनाश हो सकता है, धर्मों का उत्थान-पतन हो सकता है, पर संस्कृति का मौलिक रूप चिरन्तन और चिरस्थायी है। भारतीय संस्कृति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। उसने विदेशीय सभ्यताओं से आक्रान्त होकर भी अपने तात्त्विक गुणों का परित्याग न किया। उसमें मानवता का आधार है। जब तक वह रहेगा संस्कृति का प्रासाद भग्न हो नहीं सकता। सहस्रों वर्षों के उलट-

फेरों में भी उसका प्रवाह अविच्छिन्न है। उसकी विजय-पताका युग-युग में फहराती चली आ रही है। संस्कृति चीर-फाड़ कर फेंक देने की अथवा छीन कर नष्ट कर देने की वस्तु नहीं है। वह तो आत्मा का रस है। आत्मा को नष्ट किये बिना उसकी रस्यमानता कैसे बाधित की जा सकती है?

सत्साहित्य केवल देश-काल की सीमाओं में आबद्ध नहीं रहता क्योंकि उसमें शुद्ध संस्कृति की शक्ति का स्फुरण रहता है। वह चिरस्थायी और सम्पूर्ण मानवता की वस्तु होता है। उसमें किसी भी देश और किसी भी काल के रसिक रस प्राप्त कर सकते हैं किन्तु युग-विशेष को लेकर चलनेवाला साहित्य उसके अन्त के साथ ही समाप्त हो जाता है। वह मानव-साहित्य की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। अपने ही युग को लेकर पनपनेवाले साहित्य का दृष्टान्त रीतिकालीन साहित्य में दीख सकता है। रीतिकालीन साहित्यकार राजनीतिक पराजय और सामाजिक विशृङ्खलता में अपनी संस्कृति को भी भूल बैठे थे। यही कारण है कि बहुत-सा रीतिकालीन साहित्य मुँह छिपाये पड़ा है। हाँ, कभी-कभी पांडित्य और गवेषणा की वृत्ति उसे जगाने पहुँच जाती है। आज का कुछ तथाकथित नूतन साहित्य भी इसी प्रकार का है। वह युग-समस्याओं को लेकर चला है। वह सुन्दर प्रचार-साहित्य कहा जा सकता है, उसे युग का विज्ञापन कह सकते हैं; परन्तु वह संस्कृति का सही चित्र प्रस्तुत नहीं कर सकता।

साहित्य में देश-काल के कारण बाह्य विभिन्नता भले ही रहे, उसे जन्म देने वाले मूल संस्कार एक ही होते हैं। संस्कारों की इसी एकता को मानते हुए टी० एस० इलियट ने कहा है: 'सम्पूर्ण साहित्य अखण्ड रूप है जिसमें परम्परा की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती है। अतीत और वर्तमान इसी धारा में अनुस्यूत हैं।' जिसमें जीवन की चिरन्तन वृत्तियों का विलास होता है, वही साहित्य नाम का पात्र भी है। तुलसी का 'मानस' इन्हीं वृत्तियों का रत्नाकर है जिसमें संस्कृति के चरम विकास का चित्रण है। उसकी व्याप्ति समय के साथ दिन-दिन बढ़ती जा रही है। समाज बदल गया, युग बदल गये, सभ्यताओं के पहलू बदल गये, पर 'मानस' का चिरालोक नहीं बदला क्योंकि उसमें युग-पूजा का विधान नहीं है। उसमें मानव के गौरव की प्रतिष्ठा होने से उसका प्रचार बढ़ता ही जा रहा है। वह राजा और रंक का समान रूप से कंठहार है। उसमें पशुता से मानवता की ओर ले जाने की अमोघ शक्ति विद्यमान है और मानव उसे पढ़ कर उदारतर वृत्तियों की शोध में सतत प्रयासशील हो जाता है। इसी कारण विदेशी विद्वानों ने भी उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। मानस पर मुग्ध होकर ग्रियर्सन ने 'वर्नाक्युलर लिटरेचर

आफ हिन्दुस्तान' में लिखा है : "No one can read without being impressed by it as the work of a great genius." 'स्मिथ' (इतिहासकार) ने तो मानस के पढ़ने के लिए प्रत्येक ईसाई को आदेश किया है।

मनुष्य जब विशाल मानवता के उच्चासन से पाशविकता के धरातल पर गिर पड़ता है तो उसके विचार और भाव भी विकारग्रस्त हो जाते हैं। उस समय सांस्कृतिक सौन्दर्य और साहित्य विकृत हो जाता है। संस्कृति के कलंकित होने से साहित्य में मानव-चित्र स्वाभाविकता प्राप्त नहीं कर पाता। साहित्य का कुरूप मानव-संस्कृति को कुरूपता की ओर ही धकेल ले जाता है और इस कुचक्र की गति उस समय तक निरुद्ध नहीं होती जब तक मानव-चेतना में कलंक के परिमार्जन की प्रवृत्ति का उद्बोधन नहीं होता। जब तक संस्कृति के शुद्धतम प्रकाश से आलोकित होने की लालसा (उत्कण्ठा) नहीं जगती तब तक साहित्य भी 'विषरसपूर्ण कनकघट' ही रहता है। जब मानवता को भारतेन्दु जैसे जागरूकों की भाग्यवश प्राप्ति हो जाती है तो सांस्कृतिक चेतना सुरूप पाकर साहित्य के विकारों का भी परिष्कार कर देती है। उस समय संस्कृति और साहित्य दोनों मानव के अवलम्ब और प्रेरक बन जाते हैं। उनसे जीवन को सुन्दर विकास मिलता है।

कुछ लोगों में भ्रम फैला हुआ है। वे सभ्यता और संस्कृति को एक ही मान बैठते हैं। बाह्य दृष्टि से दोनों में बहुत कुछ साम्य भी दीख पड़ता है। "सभ्यता मनुष्य के बाह्य प्रयोजनों को सुलभ करने का विधान है और संस्कृति है प्रयोजनातीत सहजानन्द की अभिव्यक्ति।" यदि सभ्यता मानव-बर्बरता का आवरण है तो संस्कृति उसका परिमार्जन और परिष्कार। व्यवहार-कुशलता भी सभ्यता ही का एक पहलू है। चाहे उसमें सत्य, दया, मैत्री आदि व्यापक उदात्त गुण न हों किन्तु संस्कृति ऐसी व्यवहार-कुशलता को अपने पास तक नहीं फटकने देती। जिसे हम सभ्यता कहते हैं उसी को गीताकार के शब्दों में 'मिथ्याचार' कहा जा सकता है क्योंकि उसमें अधम वृत्तियाँ निरन्तर कृतिमय रह सकती हैं, केवल उनका आभास नहीं दिया जाता। इसीलिए गीता में कहा गया है :—

> कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
> इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा मिथ्याचार स उच्यते।।

हमारी इन्द्रियाँ स्थूल प्रयोजनों की साधन हैं। मन-बुद्धि इनसे सूक्ष्म हैं। उनसे भी बढ़कर आत्मा है। वही सच्चिदानन्दस्वरूप है। मनुष्य की साधनाओं का प्रमुख लक्ष्य वही है। यह हो सकता है कि अज्ञानवश वह अपने लक्ष्य को न पहिचान सके किन्तु वह उसका निषेध नहीं कर सकता क्योंकि आत्मा

का निषेध करने से आनन्द का निषेध स्वत: ही हो जाता है जो किसी का इष्ट नहीं हो सकता। संस्कृति आत्म-विकास की पद्धति है और सभ्यता बुद्धि-वैभव की; संस्कृति व्यापक है और सभ्यता संकोचशील; संस्कृति के मूल तत्त्व परिवर्तन से ऊपर हैं पर सभ्यता परिवर्तनशील है। दो सभ्यताएँ विरोधी हो सकती हैं किन्तु संस्कृति के मूल में दो जैसी कोई वस्तु ही नहीं है। यदि दो सभ्यताएँ कहीं मिल सकती हैं तो अपनी पार पर, संस्कृति की गोद में, जो मानवता जितनी ही विशाल है।

जिस प्रकार संस्कृति और सभ्यता एक नहीं हैं और उनका सम्बन्ध घनिष्ठ नहीं है, उसी प्रकार साहित्य और सभ्यता में भी अति निकट सम्बन्ध नहीं है। सभ्यता की प्रकृति वस्तु-प्रधान है इसलिए साहित्य में उसका चित्रण गौण होता है। जो साहित्य सभ्यता को लेकर उछलता है वह अस्थायी होता है क्योंकि सभ्यता स्वयं अस्थायी और परिवर्तनशील है किन्तु सत्साहित्य स्वानुभूति से उद्‌भूत होता है। उसमें चिरन्तन तत्त्व की प्रधानता होती है। चिरन्तन का उपासक कलाकार युग-धर्म को भी भूलता नहीं है पर उसे शाश्वत रूप में व्यक्त करता है; अतएव समकालीन सभ्यता का प्रभाव अप्रत्यक्ष एवं गौण ही रहता है।

संस्कृति अपने जातीय रूप में राष्ट्रीयता की प्रेरक और पोषक होती है। जब जाति गिरने लगती है, पतित होने लगती है और कर्तव्य भूलने लगती है तो किन्हीं विशेष हृदयों में संस्कृति अनुभूति बनकर उनको प्रेरित कर देती है जिससे सुषुप्त राष्ट्रीय भावना सजग हो जाती है। संस्कारों के आधार पर राष्ट्रीय संगठन का निर्माण होने लगता है। कौन अस्वीकार कर सकता है कि महात्मा गांधी के हृदय में उद्‌भूत राम-राज्य के संस्कारों ने भारतीय जनता के हृदय में राष्ट्रीय भावना फूँक कर उसे मृतक से जीवित कर दिया! उनके जो संस्कार राष्ट्रीयता के प्रेरक थे वे ही साहित्य के मन्द स्तर को तीव्र एवं तरल करने वाले भी थे। 'प्रसाद' की श्रद्धा की तकली और 'संघर्ष' में उन्हीं संस्कारों का प्रच्छन्न रूप देखा जा सकता है। यदि संस्कृति अगतिमय राष्ट्रीयता को प्रगति दे सकती है तो साहित्य भी उसका जीर्णोद्धार कर सकता है। 'रूसो' और 'वाल्टेयर' की कृतियों ने फ्रान्स के राष्ट्रीय जीवन में इसी प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। चन्दवरदाई के 'वीर' स्वर में सुषुप्त राष्ट्रीय चेतना के उद्‌बोधन का प्रयास स्पष्ट है। उसकी ललकार स्वतः एक क्रान्ति थी जो वीरता को मृत्यु की कसौटी पर आने के लिए आमन्त्रित करती थी:—

मरना जीना हक्क है,
जमा रहेगी गल्हां।

सत पुरिसां का जीवणा,
थोड़ा है अच्छा ।।

गुप्त जी की 'भारत-भारती' ने भी संस्कारों के उद्बोधन से राष्ट्रीयता को उसी प्रकार जाग्रत किया है। उसमें संस्कृति के प्राचीन गौरव के संकेत से वर्तमान के उद्बोधन की चेष्टा देखिये :—

हम कौन थे, क्या हो गये ?
और क्या होंगे अभी ?
आओ विचारें, आज मिलकर,
यह समस्याएँ सभी ।।

किन्तु राष्ट्रीय चेतना विश्व-मंगल-कामना से विरहित नही होती । कालिदास के काव्य में दोनों के सामंजस्य का मनोरम रूप दृष्टिगत होता है। आदिकवि की "मा निषाद······यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्", इस वाणी में भी सांस्कृतिक चेतना विश्वमंगल की कामना से तरंगित दीख पड़ती है।

संस्कृति और साहित्य दोनों सौन्दर्य के पोषक हैं। दोनों का लक्ष्य सौन्दर्य की गवेषणा और रक्षा है। विश्व-सौन्दर्य के संसर्ग से मानव-हृदय में भी सौन्दर्य-राशि संकलित हो जाती है जिसका साधन स्वानुभूति होती है किन्तु सव उस राशि का मूल्यांकन नहीं कर सकते और न सब में अभिव्यक्ति की ही क्षमता होती है । यह क्षमता केवल कलाकार में होती है । वह कुरूपता में भी सुन्दरता टटोल कर उसकी सुन्दरतम अभिव्यंजना करता है। वही सौन्दर्य सुखद एवं आनन्दप्रद होता है जो संस्कृति और साहित्य दोनों का प्राण है। सांस्कृतिक चेतना के प्रवाह में वह लहर की भाँति अभिव्यक्त होता चला जाता है। उसी से साहित्य सत्य पथ को मंगलमय बनाता जाता है।

यह पीछे कहा जा चुका है कि संस्कृति और साहित्य दोनों का मूलाधार मानव जीवन है जिसकी कल्पना समाज से पृथक् नहीं की जा सकती । संस्कृति का उद्देश्य समाज में होकर मानव को ऊँचा उठाना है : उस ऊँचाई तक ले जाना है जिस पर पहुँच कर परिष्कारों की आवश्यकता ही नहीं रहती। मानव संस्कृति का जितना प्रश्रय लेता है वह उतना ही अपने और समाज के लिए मंगलप्रद होता है। व्यक्ति को लेकर संस्कृति अपनी व्यापकता और पूर्णता को खण्डित नहीं कर सकती। वह व्यक्ति मात्र के कल्याण को लक्ष्य बना कर व्यष्टिमूलक नानात्व को समष्टिमूलक एकता में विलीन कर देती है। साहित्य का लक्ष्य भी मानव-जीवन, समाज और उसका कल्याण है। विभावन-व्यापार से, साधारणीकरण की क्रिया से व्यक्ति विशेष भी साहित्य में सामान्य जैसा प्रतीत होता है । संस्कृति का मंगलप्रद सुखद स्वर सामान्य गुणों

के कारण व्यक्ति से समाज में होकर आनन्द की ओर बहता है। जीवन और साहित्य की धारा उसी स्वर से निनादित होती चली आ रही है। 'नेह नानास्ति किंचन' से 'सियाराममय सब जग' तक एक ही स्वर बोल रहा है।

संस्कृति और साहित्य दोनों सामाजिक मर्यादाओं का पोषण करने वाले हैं। दोनों ही अन्तरंग मित्रों की भाँति सामाजिक उद्धार को दृष्टिगत रखते हैं। साहित्य और संस्कृति द्वारा जिन मर्यादाओं का पोषण होता है उन्हें 'धर्म' नाम से भी अभिहित किया जाता है। धर्म तो संस्कृति का स्वयं एक अंग है। मानव धर्म और मानव संस्कृति अभिन्न हैं। एक के पोषण से दूसरे की पुष्टि स्वयंसिद्ध है। साहित्य एक का पोषक बन कर दूसरे का विरोधी अथवा अपोषक नहीं रह सकता। जिस प्रकार संस्कृति का विरोध स्वयं साहित्य का विरोध है उसी प्रकार मानव-धर्म का विरोध साहित्य का आत्मविरोध है, सामाजिक विरोध है और अन्ततोगत्वा कल्याण और आनन्द का उन्मूलन है। मानव-धर्म का विरोध संस्कृति और साहित्य के विकार को प्रमाणित करता है अतएव यह कहना उचित ही है कि संस्कृति और साहित्य दोनों ही लोक-धर्म के पोषक हैं।

संस्कृति सामाजिक व्यवहारों की निर्धारिणी, भाषा और साहित्य की पोषक शक्ति और सामाजिक संस्थाओं की प्रेरणा है। संस्कृति में पारस्परिकता के संस्कार का बड़ा महत्त्व है। जिसमें यह भलीभाँति विकसित नहीं होता उसमें हमें अभाव प्रतीत होता है। पारस्परिकता की ऊँचाई उसकी व्यापकता और उदारता (विशालता) से नापी जाती है। पारस्परिकता का उदय सभ्यता, समाज और संस्कृति का उदय है। पारस्परिकता में सामंजस्य और सामाजिकता का भाव है। अतः संस्कृति सामंजस्य और सामाजिकता के भावों को जाग्रत कर सामाजिक मर्यादा का रक्षण करती है। समाज संस्कृति के सम्बन्ध को स्थापित करता है। जिस समाज के व्यक्तियों की वृत्तियाँ जितनी उदार, व्यापक एवं समन्वयपूर्ण होती हैं, वह समाज उतना ही उन्नत होता है और उन्नत समाज का साहित्य भी उन्नत और विशाल होता है। साहित्य समाज की संचित चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब होता है। सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव संस्कृति और साहित्य दोनों पर पड़ता है।

संस्कृति और साहित्य को जोड़ने वाली अन्य कड़ी प्रकृति है। बाह्यप्रकृति का अन्तःप्रकृति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। कहना न होगा कि मानव-वृत्तियों में भौगोलिक परिस्थितियों और प्राकृतिक अवस्थाओं की गहरी छाया रहती है, जिससे मूलवृत्तियों पर देश का रंग चढ़ जाता है। साहित्य में उनका प्रतिबिम्ब तो आता ही है। साथ ही अपनी अन्तर्वृत्तियों की अभिव्यक्ति के

लिए भी साहित्यकार प्रकृति की सहायता ले लेता है। प्राकृतिक परिस्थितियाँ सामाजिक व्यवस्था (यथा व्यवसाय आदि) को प्रभावित करके मानव जीवन के साहचर्य में साहित्य में भी प्रतिबिम्बित हो जाती हैं। प्रकृति के शान्त सुन्दर वातावरण में भारतीय मनीषियों को चिन्तना का सुयोग मिलने से उनका विकास शरीर और मन तक ही सामित न रहकर अध्यात्म-क्षेत्र में भी चरम सीमा तक जा पहुँचा—उस सीमा तक जिसके लिए भारतीय संस्कृति विश्व-विख्यात है। साथ ही भारतीय साहित्य को मृदुल, मंजुल और मोहक बनाने में भी यहाँ की प्रकृति को कुछ कम श्रेय नहीं है। भारतीय साहित्य में प्रस्तुत प्रकृति-चित्रों को देखते ही बनता है। वाल्मीकि से लेकर आज तक के साहित्य को देखिये तो प्रतीत होगा कि प्रकृति साहित्यिक कलाकारों की कल्पनाओं और भावनाओं की केलिस्थली बनी हुई है।

पीछे संकेत किया गया है कि धर्म भी संस्कृति और साहित्य के बीच सम्बन्ध-सूत्र का काम करता है। ईश्वर की भावना और मृत्यु के उपरान्त की चिन्ता धर्म के मूल मंत्र हैं। पुण्य-पाप, सुख-दुःख, जीवन-मरण, स्वर्ग-नर्क आदि इन्हीं की उपशाखाएँ हैं। धर्म लौकिक और पारलौकिक सुख की ओर प्रेरित करता है। यही लक्ष्य संस्कृति का भी है। संस्कृति का अंगभूत, उससे अभिन्न धर्म लौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियों से मानव जीवन की नौका समझा जाता है। फिर भला साहित्य उसे कैसे छोड़ सकता है। धर्म की संकीर्णता से साहित्य में भी संकीर्णता आ सकती है। व्यापक धर्म वही है जो मानव-जीवन के सुख-दुख से सम्बध रखनेवाला हो। इस सम्बन्ध की जितनी न्यूनता होगी, धर्म उतना ही संकीर्ण होगा और उसको लेकर चलने वाला साहित्य व्यापक कल्याण और आनन्द से उतना ही नीचा रहेगा।

कदाचित् इसमें कोई दो मत न होंगे कि धर्म और साहित्य दोनों परमानन्द की ओर ले जाने वाले हैं पर जहाँ कोरा ज्ञानोपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाज़ी जीत ले जाता है। यही कारण है कि साहित्य लोकमंगलविधायिनी एवं अभ्युदय-प्रदायिनी व्यवस्था का नीरस निरूपण भी है और सरस एवं मोहक भी। इसी से उपनिषद् आदि धर्मग्रन्थ भी हैं और साहित्य-कृतियाँ भी। साहित्य में धर्म लोक-धर्म के रूप में प्रकट होता है। उसकी मंगल-ज्योति अमंगल-घटा को चीरती हुई फूटती है। क्या रामायण के स्वर में इसी सौन्दर्य के उद्घाटन-महोत्सव का दिव्य संगीत नहीं है? क्या कालिदास की वाणी में आदि कवि की वाणी की रसमयी धारा की तरंगें और गीता तथा उपनिषदों के ज्ञान की मंजुल अभिव्यंजना नहीं है?

भाषा सांस्कृतिक चेतना का आदि स्वरूप है। उसके बिना संस्कृति की

कल्पना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार संस्कृति के विकासमार्ग में भाषा के परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार साहित्य के विकास-पथ में भी। भाषा मानव जीवन और तद्‌गत भावों के व्यक्तीकरण का साधन है। जो भाषा विशाल संस्कृति की प्रतीक बनती है, वही उत्तरोत्तर (क्रमशः) विचार और भाव की विशालता की भी प्रतीक होती है। भाषा जब क्षुद्र विनिमयों से आगे बढ़ कर पारस्परिकता के विशालतर भावों के प्रसार में सहायक होती है तो एक विशाल संस्कृति विश्व के सामने आती है। यह भाषा साहित्य की भाषा है। आज सुदूर देशों में फैलती हुई पाश्चात्य संस्कृति का मूल कारण भाषा ही है।

संस्कृति और साहित्य में आदान-प्रदान की शक्ति रहती है। जब दो जातियों की संस्कृति एक-दूसरे के सम्पर्क में आती हैं तो उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान होना स्वाभाविक है। दोनों की रुचि, व्यवस्था, भाषा, और भाव-पद्धति पर भी प्रभाव पड़ता है। इसके कारण उनका साहित्य भी प्रभावित होता है। इसी प्रकार साहित्य संस्कृति के प्रचार और प्रसार में बड़ा प्रभावशाली सिद्ध होता है। अंग्रेजों के सांस्कृतिक सम्पर्क से जिस प्रकार भारतीय संस्कृति और साहित्य प्रभावित हुए हैं, उसी प्रकार उनके साहित्यिक सम्पर्क से भी। भारतीय संस्कृति और साहित्य ने भी अंग्रेजी संस्कृति और साहित्य को बहुत कुछ प्रदान किया है। हाँ, यह हो सकता है कि राजनीतिक उत्कर्ष के कारण उन्हें (अंग्रेजों को) आदान की इतनी आवश्यकता न रही हो। इसमें सन्देह नहीं कि जातियों के बीच विवेकमय सांस्कृतिक और साहित्यिक आदान-प्रदान उनके लिए बड़ा पौष्टिक सिद्ध होता है किन्तु जो जाति विवेक खोकर दूसरी जाति का अन्धानुकरण करने लगती है वह स्वकीय साहित्य और संस्कृति को दुर्बल बना कर स्वयं दुर्बल बन बैठती है।

यदि साहित्य और संस्कृति के इतिहास की खोज की जाये तो उनका बीज कदाचित् वेद ही में मिलेगा। प्राचीनता की दृष्टि से ही नहीं विकास की दृष्टि से भी भारत का नाम ही प्रथम रहेगा। जबकि इतर देशों की संस्कृति का विकास केवल भौतिकता तक सीमित रहा, भारतीय संस्कृति ने आध्यात्मिक क्षेत्र में भी अद्‌भुत सिद्धि प्राप्त कर ली, जो संस्कृति का चरम लक्ष्य एवं विकास की चरम सीमा है। भारतीय दर्शन ने जिस अद्वैत तत्त्व की कल्पना की उसमें निर्वैरता के परे एकता का पाठ है। भले ही भारतीय साहित्य की परतन्त्र आयु को भी देख लीजिये। उसमें भी साहित्य संस्कृति का कोई-न-कोई पल्ला पकड़े अवश्य मिलता है। भारतीय जीवन में विदेशीपन की चाहे कितनी ही गन्ध आजाये, भाषाओं में चाहे कितनी ही प्रादेशिक

संकीर्णता आजाये किन्तु साहित्य अपने मूल सांस्कृतिक स्वर—'सर्वे भवन्तु सुखिन:'—को कभी नहीं बदल सकता। यही कारण है कि इस भीषण अणु-काल में भी भारत प्रेम के गीत गा रहा है। पुराने भाव को अपने स्वर में रख कर महात्मा गांधी की अदृश्यवाणी अब भी ध्वनित हो रही है कि—

"वैष्णव जन तो तेने कहिये
जे पीर पराई जाने रे॥"

3

साहित्य में उद्गारों की स्वतंत्रता

गहन प्रेरक अनुभूतियाँ जब भावों को व्यक्त होने के लिए विवश करती हैं तो उद्गार संकेतमय अभिव्यंजना प्राप्त करते हैं। अभिव्यक्त उद्गारों का संचितरूप 'साहित्य' संज्ञा धारण करता है। ये उद्गार जितने स्वतंत्र और गहन होते हैं साहित्य उतना ही सबल, उन्मुक्त और सरस होता है। उद्गारों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, उन पर उद्गारी का अधिकार होता है। वे उसी की निधि रहते हैं। अतएव उद्गारों की स्वतन्त्रता उद्गारी की स्वतन्त्रता पर निर्भर होती है। कभी-कभी खग के समान ऊँचे उड़ते हुए उद्गार भी उद्गारी की परतन्त्रता के भार से दब कर उन्मुक्त अभिव्यक्ति पाने में असमर्थ रहते हैं। इससे न केवल साहित्यिक सौन्दर्य ही विकृत होता है, अपितु व्यापक चिरन्तन सत्य की उज्ज्वल कान्ति भी धूमिल और अस्पष्ट सी दीखने लगती है किन्तु साहित्यकार का मनोदेश परिस्थितियों के आघातों का सामना करने में स्वतन्त्र होता है। परिस्थितियों का मान, अवमान अथवा उपेक्षण मन के ही तन्त्र में होता है। आवश्यकता पड़ने पर मन उनके साथ समझौता भी कर सकता है। वह स्वदेशीय शक्ति और आत्मतन्त्रता का उपभोग करता हुआ वहाँ मिलता है जहाँ वह परिस्थितियों को स्वीकार करने के लिए विवशता एवं भार की प्रतीति नहीं करता। ऐसे ही मनोदेश में स्वतन्त्र प्रेरक साहित्य का उदय होता है।

साहित्य और स्वतन्त्रता का सम्बन्ध सामाजिकता की पुरानी कथा है। आज साहित्य और स्वतन्त्रता का प्रश्न कुछ अधिक प्रखर हो गया है। जीवन के किसी क्षेत्र, किसी पक्ष को देखिये सर्वत्र क्रान्ति का ताण्डव नृत्य हो रहा है। क्या साहित्य में वह क्रान्ति नहीं है? क्या उसमें जीवन का प्रतिरूपण नहीं है? क्या वह जीवनविहीन है? यदि उसमें जीवन नहीं है तो क्या है? क्या कोरा

शब्दाडम्बर ही साहित्य की शोभा है ? और यदि साहित्य जीवन का प्रतिरूपण है तो किस प्रकार का ? अनर्गल या वास्तविक, सत्य या मिथ्या ? ये सब ऐसे प्रश्न हैं जो साहित्य और स्वतन्त्रता की सीमाओं में भ्रमण करते रहते हैं।

कहा तो यह जाता है कि साहित्यकार, स्वतन्त्र होता है किन्तु उसकी स्वतन्त्रता देश-काल-निरपेक्ष नहीं होती। यह सत्य है कि साहित्यकार परतन्त्र परिस्थितियों में भी स्वतन्त्र साहित्य की सृष्टि कर सकता है, पर जीवन को जीवन मानता हुआ। यही साहित्यकार की सापेक्ष स्वतन्त्रता है। इसके महत्त्व में ही साहित्यकार का महत्त्व है। इसी में जीवन का वस्तुरूप मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यकार अपनी लौकिक परिस्थितियों में भी 'अलौकिक' की संघटना कर सकता है किन्तु अपनी कल्पना की अलौकिक स्थिति में भी वह लौकिक सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करता। उसके 'अलौकिक' उद्‌गार उसके हार्दिक उद्‌गार होते हैं। वे उसके उस हृदय से सम्बद्ध होते हैं जो देश-काल की सीमाओं में भी असीम प्रभाव का आदान कर सकता है। यही साहित्य का सत्य है।

साहित्य का सरलतम सत्य वह निर्मल जल है जिसमें देशकाल की छाया अपने प्रत्येक परिवर्तन को लेकर प्रतिबिम्बित होती है। यही परिवर्तन साहित्यकार के उद्‌गारों का प्रेरक होता है। यदि हम उन परिवर्तनों को भुलादें—उस प्रेरणा का नाम न लें, तो कह सकते हैं कि साहित्यकार किसी दिशा में, किसी पथ पर, कैसे ही चल सकता है किन्तु उसके उद्‌गारों में उन्मत्त के प्रलाप से अधिक संदर्भ खोजने की आवश्यकता न होगी। यद्यपि उनमें भी जीवन के कण अवश्य होंगे किन्तु उनसे जीवन-चित्र की रेखाएँ स्पष्टतः परिलक्षित न हो सकेंगी।

अतएव साहित्य की स्वतन्त्रता जीवन-सापेक्ष माननी पड़ेगी। जिस साहित्य में इस सापेक्षता का जितना अभाव होगा, वह उतना ही निम्नकोटि का होगा, उसमें प्रभावप्रेषणीयता का उतना ही अभाव होगा। जीवनसापेक्षता का उपभोगी साहित्य उद्‌गारी की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करता। जीवन पर दृष्टि रखता हुआ उद्‌गारी अभिव्यंजना और शैली के क्षेत्र में स्वतन्त्र होता है। इसलिए जीवनसापेक्षता का अभिप्राय यह है कि साहित्य का केन्द्र भी जीवन है और परिधि भी जीवन। इस क्षेत्र में परिभ्रमण करने का साहित्यकार को पूर्ण अधिकार है, पूर्ण स्वातन्त्र्य है। जीवनेतर कोई शृंखला उसे आबद्ध नहीं कर सकती। यद्यपि उसको पावस-सरिता की सी स्वच्छन्दता उपलब्ध नहीं होती पर उसके शारद तरंगिणी के से उल्लास-विलासों का अपहरण कभी नहीं हो सकता। उसकी भाव-लहरियों में जीवन-संगम के प्रति निरपेक्ष स्वच्छन्दता नहीं होती, फिर भी यह साहित्यकार की स्वतन्त्रता है।

मानसिक दासता की दशा में साहित्यिक दासता के प्रमाणों के शोध की आवश्यकता नहीं है। रीतिकालीन साहित्यकारों की मानसिक दासता के कारण ही उनका साहित्य स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। मानसिक दासता से उनके उद्गार दब से गये हैं। उनमें मौलिक शक्ति और विकास नहीं है। मानसिक स्वतन्त्रता के अभाव से मौलिक प्रेरणा नष्ट हो जाती है जिससे मौलिक उद्-गारों का अभाव हो जाता है। तभी अनुभूति और कल्पनाओं में अपूर्वता नही मिलती—वह अपूर्वता जो अभिव्यंजना की वैयक्तिक विशेषता होती है, जो सौन्दर्य का आधार होती है और जिसमें अद्भुत मोहन-शक्ति होती है। अधिकतर रीति-कालीन कवियों की इस अपूर्व शक्ति का ही अपहरण होगया था। एक ऐसा वातावरण निर्मित हो गया था जिसमें मनोदासता से पीछा छुड़ाना दुष्कर हो गया था। पिष्टपेषण और गतानुगतिकता का पथ प्रथित हो गया था। कवियों के मनों में ऐसी हीनता आ घुसी थी कि वे करवट नही बदल सकते थे। जीवन-दर्शन से उन्होंने मानों मुख मोड़ लिया था। सजीवता से वे बहुत दूर हट गये थे। देश में अनेक सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए, कितने ही धार्मिक संघर्षों ने जन्म लिया किन्तु दासता की शृंखलाओं में बँधे हुए साहित्य ने साँस तक न ली। कारण कवियों की उपर्युक्त हीनता, उनकी मानसिक दासता थी।

कहना न होगा कि बाह्य परिस्थितियाँ साहित्य को इतना प्रभावित नहीं करतीं जितना साहित्यकार की मानसिक परिस्थितियाँ करती हैं। भक्तिकाव्य इसका प्रमाण है। मानसिक स्वतन्त्रता ही साहित्य को स्वतन्त्रता प्रदान करती है। इसी से उसकी रक्षा भी होती है। साहित्य के लिए उस स्वतन्त्रता का क्या मूल्य, जिसमें उसके स्रष्टा का मन दास हो! क्या वह साहित्य वस्तुतः स्वतन्त्र है? साहित्य की शक्ति, उसकी स्वतन्त्र सत्ता की अभिव्यक्ति साहित्य-कार के मनोबल में सन्निविष्ट रहती है। वह साहित्य का वरदान है।

स्वतन्त्र साहित्य परतन्त्रता के कारणों को लक्ष्य बना कर उनको नष्ट करने के लिए अमोघ प्रहार करता है। साहित्य का सहज लक्ष्य जीवन का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करके अमानवता अथवा दानवता से बचना और बचाना है। उसकी तृप्ति मानव को 'देवत्व' पर प्रतिष्ठित करने में होनी चाहिये। यही साहित्य की स्वतन्त्र स्थिति है। जो साहित्य मानवता को मुक्त नहीं कर सकता, जो आबद्ध एवं दलित मानव को उन्मुक्त कर स्वाभाविक लावण्य प्रदान नहीं कर सकता, वह परतन्त्र, हीन एवं निर्बल साहित्य है। जो सुरूप को कुरूप, सुमंगल को अमंगल और सुलभ को दुर्लभ बनाता है, वह ध्वंसकारी साहित्य है, निर्माणकारी नहीं। स्वतन्त्रता देवी के भक्तों को हीन एवं ध्वंसकारी साहित्य नहीं चाहिये, उन्हें निर्माणकारी एवं मंगलकारी साहित्य की आवश्यकता है।

४

साहित्य-लोक में बुद्धिवाद

मानव-जीवन में बुद्धि के मूल्यांकन की आवश्यकता नही है क्योंकि बुद्धि-हीन जीवन पशुता एवं दुर्गतिमात्र है। मनुष्य बुद्धिवल से ही अपनी जीवन-नौका को किनारे लगा सकता है। सरलता और जटिलता के पुलिनों के बीच जीवन की जो धारा बहती चली आ रही है, उसमें बुद्धि ही की प्रेरणा है। इस गूढ़ धारा का संगम कहाँ होगा, इसकी काल्पनिक गवेषणा के आधार पर बुद्धि ही ने उस धारा में अनेक मोड़ एवं घुमाव देने का प्रस्ताव किया है। बुद्धि की संगति से अन्तर्दर्शन की योजना सार्थक बनी है और 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का पाठ भी प्राचीन मनीषी को बुद्धि ही ने सिखाया है। जीवन और जगत् के सम्बन्ध में अनेक गूढ़ प्रश्न उठे। उनके उदय का कारण भी बुद्धि थी और उनका उत्तर भी बुद्धि ने ही दिया। 'एकोऽहम् वहुस्याम्' तथा 'कुन फए कुन' जैसे वाक्यों से इस दृश्यात्मक अनेकता के कारण का यत्तत् अनुसन्धान भी बुद्धि हीं का विलास है। जीवन में बुद्धि के व्यापक एवं अमोघ प्रसार को देख कर ही मनस्वियों ने इसके चिन्ता, मनीषा, विवेक, इड़ा, बुद्धि आदि अनेक नाम रख दिये हैं।

भावों का आग्रह जिसे साधारणतया जीवन नाम से अभिहित किया जाता है, बुद्धि ही की विकास-योजना है। इस विकास का इतिहास जीवन का इतिहास है। मानवीय सुख-दुख से संश्लिष्ट गुणावगुण-परिवार-परम्परा में भी बुद्धि की ही प्रेरणा है। कहना न होगा कि जीवन की भावमयी 'अथेति' में बुद्धि का पुष्ट एवं प्रसारमय आधार है। अतएव बुद्धि और जीवन की घनिष्ठता की उपेक्षा सम्भव नहीं है।

जब बुद्धि जीवन से अभिन्न है तो वह साहित्य से भिन्न कैसे हो सकती है ? यह ठीक है कि साहित्य के प्राण भाव-निहित हैं किन्तु आयाम द्वारा प्राणशक्ति

का अर्जन और विकास बुद्धि के हाथों में न्यस्त है। भाव-लोक का योग-क्षेम बुद्धि का प्रतिफल है। बोध की प्रेरणा से जीवन का विकास-क्रम उद्भूत होता है और भाव-सम्भव-जीवन-अवयवी के रूप की प्रतिष्ठा बुद्धि की रेखाओं से ही होती है। सच तो यह है कि भाव-प्रतिमा का साँचा बुद्धि में प्राप्त होता है।

दूसरों की बुद्धि से साहित्यकार की बुद्धि का अन्तर केवल 'सामान्य' और 'विशेष' का है किन्तु है वह बड़ा महत्त्वपूर्ण। बुद्धि के 'सामान्य' क्षेत्र में साहित्यकार के सिवा मानवमात्र का समावेश हो जाता है। बड़े से बड़ा राज-नीतिज्ञ भी इसी क्षेत्र का निवासी है किन्तु साहित्यकार क्षेत्रीय सीमाओं में आबद्ध नहीं होता। इसीलिए 'सामान्य मानव' जीवन के संकीर्ण क्षेत्र में फिरता है, जबकि साहित्यकार परिमितियों के बन्धन से मुक्त होकर विश्व के उन्मुक्त प्रांगण में अपनी प्रतिभा के आलोक को प्रसारित करता है जिससे क्षणमात्र के लिए तो सामान्य पाठक भी ज्योति-मण्डित हो जाता है। उसके साहित्य की रस-वृष्टि से सामाजिक भिन्नता की दरारें अनायास ही मिट जाती हैं।

इस भिन्नता के मिटाने में साहित्यकार का आयास भले ही न रहे किन्तु परिस्थितियों के अनुरूप उपकरण प्रस्तुत करने में साहित्यकार की बुद्धि का बड़ा हाथ रहता है। किसी परिस्थिति या कथानक के चयन, कल्पना-प्रसूत वस्तुगत छेद-परिच्छेद, चरित्राकलन, वातावरण के प्रसार, रस-योजना, अभि-व्यक्ति की वैयक्तिकता और उद्देश्य-निर्वाह आदि सभी में तो बुद्धि की मान्यता है। और तो और, कल्पना की सृष्टि तक में बुद्धि का सहयोग रहता है। वर्ण्य की ललित अभिव्यंजना के लिए उपयुक्त उपमानों के चयन में भी बुद्धि ही का आधार रहता है।

बुद्धिवाद साहित्य की कोई नयी उपज नहीं है, भले ही यह नाम नया हो। यह वादों के इतिहास का एक प्रमुख अध्याय है। वाद-प्रतिवाद की कहानी मानव-जीवन की कहानी है। किसी एक वाद का कदाचित् नामकरण-संस्कार भी न होता, यदि प्रतिवाद ने उसके मार्ग का अवरोध न किया होता। प्रतिवाद स्वयं बुद्धि का प्रतीक और जीवन को गति देने वाला है। यदि मानव-विकास के इतिहास में बुद्धि की शोध की जाये तो व्यक्तित्व के पट में बुद्धि का विनिवेश क्षीणतम तन्तु के रूप में ही प्रकट होगा। भाव-लोक का निवासी मानववृत्तियों की सीमा में परिबद्ध रहता होगा। बुद्धि के आलोक के क्रमिक विकास से तिमिर-मण्डल का अपसरण होता गया और आज का मानव बुद्धि का संबल लेकर पथ पर चल पड़ा।

बुद्धि का संबल साहित्य को सदैव से मिलता चला आ रहा है किन्तु भाव के साथ बुद्धि के अनुपात के सम्बन्ध में कदाचित् कभी ऐकमत्य नहीं

रहा। बुद्धि ने साहित्य में शक्ति का स्थान प्राप्त किया है, उपकरण का नहीं। साहित्य में उपकरण बनकर बुद्धि केवल तत्त्व-चिन्ता बनी रहती है। उस समय वह मनुष्य को विस्मित और मूक तो बना सकती है किन्तु मुग्ध करने की शक्ति से साहित्य वंचित रहता है। तथाकथित साहित्य साहित्य नहीं है। साहित्य का 'सरस' बुद्धि-सम्पृक्त होते हुए भी बुद्धि की सम्पत्ति नहीं माना जा जा सकता। साहित्य का 'सरस' भावजन्य होता है। भावों की प्रधानता बुद्धि का गौण सहयोग पाकर ही साहित्य-सरिता में रस-लहरियों के रूप में उद्वेलित होती है। इसी से यह माना गया है कि साहित्य के अन्तर में भाव और बुद्धि का विरोध नहीं है किन्तु साहित्य बुद्धि की प्रधानता को सहन नहीं कर सकता।

साहित्य-क्षेत्र में बुद्धि और भाव के सम्बन्ध में अनेक मतों का उदय हुआ; अनेक वादों ने प्रतिवादों को जन्म दिया किन्तु अभेदवाद अभी तक प्रतिष्ठित नहीं हो पाया। साहित्य के भाववाद या रसवाद के विरोध में भारत में अनेक मतवाद उदित हुए किन्तु उनके प्रयास असफल रहे। अनेक संघर्षों में होता हुआ भी 'रसवाद' आज तक चला आ रहा है। पाश्चात्यों ने भी रसवाद के महत्त्व को स्वीकार न करके 'बुद्धिवाद' का ही डंका बजाया। उस ध्वनि को सत्रहवीं शताब्दी के मध्य ने सुनना प्रारम्भ किया और अठारहवीं शताब्दी के अन्त ने उसका अन्त भी कर दिया। अन्ततोगत्वा बुद्धिवाद ने रोमांटिक लेखकों के हाथ में आत्मसमर्पण कर दिया। वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स आदि रोमांटिकों की भाव-दुंदुभि ने भारत में भी एक क्रान्ति की सृष्टि की जिसने इतिवृत्तात्मकता के बौद्धिक प्राधान्य को समाप्त करके छायावाद के नये युग का प्रवर्तन किया।

हिन्दी साहित्य ने अपने गर्भ में ऐसी कितनी ही क्रान्तियाँ संचित कर रखी हैं जिनके गहन अध्ययन से ज्ञात होता है कि साहित्य के बौद्धिक प्रयोग सदैव अस्थिर रहे हैं। निर्गुण कवियों ने बुद्धि को अग्रसर करने के लिए सब कुछ किया किन्तु उन्हें भी पद-पद पर प्रेम-सरोवर में गहरी डुबकियाँ लगानी ही पड़ीं। जब-जब वे भाव-विभोर हुए हैं, उनका कवित्व स्पन्दित हो उठा है। भक्ति-काव्य तो मानों भाव-साम्राज्य ही था। रीतिकाल में भी कवि रस-रंजन के समर्थक ही रहे किन्तु भक्तिकाल से ही कुछ ऐसी काव्य-परम्परा चल पड़ी थी, जिसमें बुद्धि का प्राधान्य था। सूक्तियों का स्थान इसी परम्परा में है। सूक्तिकारों का बौद्धिक व्यायाम भी उन्हें कवि-कोटि से गिराने में ही सफल रहा। द्विवेदी काल में सोई हुई बुद्धि-प्रधानता फिर उठने लगी किन्तु प्रसाद ने 'छायावाद' के प्रवर्तन से बुद्धिवाद को गिरा दिया। श्रद्धा के साथ इड़ा—भाव के साथ बुद्धि की प्रतिष्ठा करते हुए भी प्रसाद श्रद्धा के महत्त्व के ही समर्थक सिद्ध हुए। उनके हाथों में इड़ा को गौण रूप ही उपलब्ध हो

सका । आनन्दवादी मनु, रसवादी साहित्यकार के लिए श्रद्धा के गौरव को ही प्रतिष्ठित किया गया ।

हिन्दी का वर्तमान युग पाश्चात्य दार्शनिकों (सामाजिक दार्शनिकों) के संकेतों से बुद्धि का संबल लेकर प्रस्थित हुआ और उसे परिस्थितियों का सहयोग भी मिला किन्तु यथार्थवाद, प्रगतिवाद, व्यक्तिवाद या प्रयोगवाद के भेद-भ्रमरों में चकरा कर भी वह भाव-प्राधान्य की उपेक्षा न कर सका ।

भाव ने आधुनिक विज्ञान-युग के आघात भी सहे किन्तु उसके प्रति साहित्य के दुलार में कोई कमी न आयी । ऐसा समझा जा रहा है कि बुद्धिवाद शीघ्र ही 'भाववाद' को समर्पण करने जा रहा है । बुद्धिवाद के इस वैज्ञानिक युग में मानव-शान्ति विकल हो उठी है । मानव-मानव के बीच व्यक्ति, वर्ण और देश की गहरी घाटी बन गयी है । शान्ति के करुण चीत्कार से युग विह्वल हो उठा है । भाव, साहित्य में ही नहीं, लोक में प्रतिष्ठित होकर विश्व-मंगल का प्रसार करेगा । प्रेम का संगीत ही—भाव-प्रधान साहित्य ही, इस कार्य को सम्पन्न कर सकता है, मानव-मानव को समीप लाकर मानवता को सुरक्षित रख सकता है ।

५

साहित्य और शान्ति

साहित्य नाम उसी को मिलना चाहिए जिसके शब्दों में मोहन-शक्ति और जिसकी भाव-परम्परा में अलौकिक सरसता हो। उस शक्ति और सरसता के बल से साहित्य एक 'वशीकरण' का काम करता है। मानव की वृत्तियों को क्षणभर के लिए केन्द्रित करके आबद्ध करने की अमोघ क्षमता साहित्य में विशेष रूप से रहती है। साहित्य अपनी मौलिक शक्ति का उपयोग किसी भी दिशा में कर सकता है। उससे वह शान्ति की स्थापना भी कर सकता है और क्रान्ति की ज्वाला भी प्रज्ज्वलित कर सकता है। जिससे मानव-संहार को प्रेरणा और प्रोत्साहन मिले, जिससे लोक-कल्याण बाधित हो, क्या वह साहित्य है ? नहीं, बिलकुल नहीं। सत्साहित्य लोक-मंगल का घातक नहीं, रक्षक होता है। इसीलिए रामचरितमानस को सत्साहित्य की कोटि में रखा जाता है। ताटका, कबन्ध, बाली, रावण आदि के वध में शान्ति का कुछ बाध होते हुए भी स्थायी शान्ति की रक्षा होती है। सदसद्मय इस विचित्र संसार में ऐसी दुर्घटनाएँ राम-राज्य की प्रतिष्ठा और शान्ति की स्थापना के लिए, मैं समझता हूँ, अनिवार्य ही हैं। सहृदय के लिए ऐसे प्रसंगों का महत्त्व मनोमालिन्य और दुर्वृत्ति के दलन के निमित्त राम से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

आज-कल का बहुत-सा साहित्य मानव को कहाँ से कहाँ ले जा रहा है ? उससे लोक का कितना कल्याण हो रहा है ? उसे सदसद् में से क्या नाम दिया जाये ? इसका निर्णय तो वही करें जो लिखते हैं किन्तु इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते कि उससे कलह, विद्वेष, दुर्मनस्कता आदि दोषों को अति प्रोत्साहन मिल रहा है। चित्रपटों के लिए जिस अश्लील साहित्य की सर्जना होती चली जा रही है, क्या वह समाज को अंध और उच्छृंखल बना कर

अधःपतन की ओर प्रेरित नहीं कर रहा है ? छोटे-बड़े सभी के हृदय में कलुष की तह जमने से अपावनता और भ्रष्टता की जो दुर्गन्ध बढ़ रही है, उससे शान्ति का प्रजनन होगा अथवा अशान्ति का ? उससे सामाजिक कुरूपता बढ़ेगी अथवा सुरूपता ? जो साहित्य लोक-मंगल का निर्देशक नहीं है, जो शान्ति का पथ प्रद्योतित नहीं कर सकता, जिससे ज्ञान का बाध और अज्ञान का प्रचार हो रहा है, जिससे मानव-शक्ति दिन-दिन क्षीण होती जा रही है, उसमें क्षणिक माधुर्य भले ही हो, वह ठहर नहीं सकता। ऐसे साहित्य को प्रोत्साहन देना पातक है। वह अवरोधनीय ही नही, उन्मूलनीय भी है। उन उपन्यासों और कहानियों से क्या लाभ जिनसे उच्च जीवन का पथ प्रशस्त नहीं होता ? उन नाटकों की सामाजिक कल्याण के लिए क्या उपयोगिता, जिनमें बीभत्स दृश्यों को सौन्दर्य-पट के सहारे प्रदर्शित किया जाता है ? जो लोग कुरूप को ही सुन्दर मानने लगे हों, जिनका वर्जनीय के प्रति दुराग्रह बढ़ गया हो, जो कुत्स्य की प्रशंसा करते हों, उन्हें भगवान् के भरोसे छोड़ने के सिवा और चारा भी क्या हो सकता है ?

कहने का आशय यह है कि सत्साहित्य शान्ति का पथ निर्मित करता है किन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि शान्ति का वही एक मात्र उपाय है। जबकि और कितने ही उपाय मानसिक शान्ति के द्वार को खटखटाते रह जाते हैं और खुलता नहीं है, साहित्य में उसकी सहसा सिद्धि हो जाती है। इतना ही नहीं साहित्य मनोवृत्ति को बदलने में भी अमोघ शक्ति रखता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य आनन्द का उन्मुक्त सोपान है। यदि यह सत्य है कि आनन्द शान्ति का ही दूसरा नाम है, तो यह भी सत्य है कि 'ब्रह्मानन्द सहोदर' रस की निष्पत्ति कराके साहित्य शान्ति की सत्ता को प्रमाणित करता है। शान्ति का सम्बन्ध तृप्ति, सन्तोष आदि से मानकर भी उसे बाह्य कारणों से विनिर्मुक्त नहीं कर सकते। इसलिए शान्ति के कारणों में बाहरी-भीतरी दोनों कारणों का समावेश है। बाहरी भौतिक कारण निम्न कोटि के हैं। शान्ति के उत्तम कोटि के कारण तो मानसिक ही हो सकते हैं। एक मन के जीतने पर अनेक भौतिक कारण दूर खड़े रहते हैं। फिर भी भौतिक कारणों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। शान्ति के भौतिक कारण भी मनोवृत्ति को स्वस्थ बनाने में ही सहयोग देते हैं किन्तु भौतिक कारण बनते-बिगड़ते रहते हैं—लभ्यालभ्य होते रहते हैं; अतएव वह मानसिक शान्ति जो भौतिक कारणों से मिलती है न तो स्थिर ही होती है और न स्वस्थ ही। इस कारण इस शान्ति को उत्तम कोटि में नहीं रख सकते। परन्तु साहित्य से मिलनेवाली शान्ति के कारण विभावन शक्ति के बल से लौकिक होते हुए

भी मन पर अलौकिकवत् आचरण करते हैं; परिणाम में अलौकिक रस (शान्ति, आनन्द) मिलता है । यद्यपि साहित्य से मिलने वाली शान्ति अक्षय नहीं होती परन्तु सहृदय के लिए वह अति सुलभ है ।

साहित्य के परिशीलन से रस-विभोर होने की दशा में जिस शान्ति का उपलाभ होता है वह प्रकृतितः शुद्ध होती है । अन्य भौतिक साधनों से इतनी विशुद्ध शान्ति दुर्लभ होती है । सब कुछ ठीक होते हुए भी, अनेक भौतिक साधनों से युक्त होते हुए भी, अभाव का कोई-न-कोई काँटा खटकते रहने के कारण मन के किसी कोने में क्षोभ का रहना स्वाभाविक ही है । अभाव के होते हुए भी विशुद्ध शान्ति की कल्पना बौद्धिक दुरुत्साह है । जो मन सदैव चंचल रहता है, उसी की वृत्तियों के शमन के लिए—उसी की शान्ति के लिए योग-साधना का निर्देश है । उसी को प्रेम-रस में विलीन करने के लिए भक्ति-पद्धति का उपदेश है । उसी मन को संकल्पवान् बनाने के लिए ऋषि का यह वेद-मंत्र है—'× × × तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' । वह कैसा मन ? 'यस्मिंश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां'—जिसमें प्राणियों के अनेक विचार बने रहते हैं, जो अति चंचल है और जो हृदय में प्रतिष्ठित होकर भी अस्थिर बना रहता है, जो स्वयं घूमता हुआ मानव को घुमाता रहता है :—

"सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयते ऽ अभीशुभिर्वाजिन इव । हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।"

जिधर देखिये उधर उस मन की शिकायत । उसी के जीतने में असमर्थ होकर महात्मा तुलसीदास भगवान् राम से विनय करते हैं :—"जनम-जनम हौं मन जित्यौ, अब मोहि जितैहो" । उसकी शिकायत करते हुए वे कहते हैं—

मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो ।
याके लिए सुनहु करुनामय,
मैं जग जनमि जनमि दुःख रोयो ।।

× × ×

डासत ही गई बीत निशा सब,
कबहुँ न नाथ नींद भर सोयो ।।

गीता के स्वर में स्वर मिला कर महात्मा कबीर मन ही पर हार-जीत को निर्भर मानते हैं—

मन के हारे हार है,
मन के जीते जीत ।।

यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि यदि मन बाह्य परिस्थितियों से तृप्ति और

तोष प्राप्त कर सकता है तो सब ठीक है, अन्यथा मनोभ्रम के साथ अनेक आवर्तन प्रतीत होते हैं।

साहित्य जीवन की अनेक परिस्थितियों को लेकर, बाह्य उपकरणों को सक्षम बनाकर मन को आबद्ध करने का सफल प्रयास करता है। साहित्य द्वारा मन का यह आकर्षण, यह एकत्रीकरण (एवं अन्यतः उसका विकर्षण भी तो) शान्ति ही का दूसरा नाम है।

साहित्य से मिलने वाली शान्ति कभी व्यवहृत और कभी अव्यवहृत होती है। ऋजुतम पथ से अधिगत शान्ति अव्यवहृत होती है। कवि या लेखक की व्यक्तिगत साधना भी कभी-कभी अव्यवहृत बन जाती है। 'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' में कवि ने यही भाव अभिव्यक्त किया है। सहृदय श्रोता अथवा पाठक के मन में भी साहित्य से प्रायः अव्यवहृत शान्ति को ही जन्म मिलता है। सत्साहित्य में शान्तिप्रदायकता बड़ी अनूठी होती है।

वैयक्तिक साधना होते हुए भी सत्साहित्य सार्वजनीन और सर्वव्यापी होता है। अपने इस गुण से वह धर्म और संस्कृति तक को आत्मसात् कर लेता है। ये दोनों ही मानव को पशुता के स्तर से उठाकर देवत्व पद पर ला देते हैं, जहाँ निम्न स्वार्थो का संसार गलित एवं प्रलीन हो जाता है और एक दिव्य स्वरूप, दिव्य परिवार और दिव्य जगत् की प्रतीति होती है। एक क्षण के लिए (और निरन्तर स्वाध्याय और मनन से तो आजीवन) तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तक का अनुभव करा देना साहित्य के अमोघ मंत्र के लिए कोई दुरूह कार्य नहीं है।

साहित्य में प्रचार की बड़ी प्रबल शक्ति रहती है। साहित्यिक एकनिष्ठता और एकरूपता के कारण ही तो अनेक भीषण परिवर्तनों में होकर आने पर भी भारतीय संस्कृति को हम अब तक अक्षुण्ण एवं प्रभावशील पाते हैं। उसी के प्रताप से भारतीय धर्म अपनी रक्षा कर रहा है। शान्ति का जो प्रचार साहित्य कर सकता है वह अन्य किसी साधन से इतना सुन्दर अथवा सत्वर सम्भव नहीं है। आज महात्मा गांधी के न होने पर भी यदि उनके उपदेश शान्ति की आयोजना कर रहे हैं तो अधिकांशतः साहित्य में सजीव होकर ही। गांधी जी नहीं हैं, बुद्ध और ईसा नहीं हैं किन्तु उनके सिद्धान्त (उनकी आध्यात्मिक प्रेरणा) साहित्य में सदैव अमर बने रहेंगे। क्या 'उन्मुक्त' की ये पंक्तियाँ शान्ति का प्रचार नहीं कर रहीं ?

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल।
जो सबका है वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर।
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर॥

मानव की मूल भावना को व्यापकत्व देने का श्रेय भी साहित्य ही को मिलना चाहिये। वाल्मीकि रामायण में 'मा निषाद' आदि द्वारा शान्ति का व्यतिक्रम करने वाली हिंसा की निन्दा और 'अहिंसा' का प्रचार जितने प्रौढ़ शब्दों में किया गया है, 'उन्मुक्त' की उक्त पंक्तियों में उनसे कुछ कम प्रौढ़ शब्दों में नहीं किया गया। बुद्ध, महावीर, कबीर आदि की शान्तिमयी गिरा का प्रचार करने का साधन तद्विषयक साहित्य ही है।

साहित्य शान्ति के अनेक साधनों का सम्मेलन है। वह यश, अर्थ, व्यावहारिक ज्ञान, अशिव-नाश, सद्यःपरिनिवृत्ति और कान्तासम्मत उपदेश के द्वारा शान्ति के पथ को सरल और सुलभ बनाता है।

साहित्य के साथ शान्ति का सम्बन्ध एक दूसरे पक्ष में और ग्रहण किया जा सकता है। यही सत्य नहीं है कि साहित्य शान्ति का एक साधन है अपितु यह भी सत्य है कि शान्ति साहित्य का कारण भी है। साहित्य की सर्जना के लिए संकलित मनोवृत्ति और एकस्थ मन की बड़ी आवश्यकता होती है। 'वियोगी होगा पहला कवि' कह कर कवि पन्त किसी परिस्थिति विशेष की ओर इंगित अवश्य कर रहे हैं पर वे भी साहित्य-सर्जना के लिए वृत्ति-संकलन और मानसिक शान्ति की उपेक्षा नहीं कर सकते।

६

साहित्य में व्यापार

व्यापार साहित्य का प्राण है। गद्य और पद्य, प्रबन्ध और मुक्तक, सब प्रकार के साहित्य में व्यापार का अपना महत्त्व है। जीवन स्वयं व्यापार स्वरूप है तो फिर उस साहित्य को जिसे जीवन का प्रतिरूपण कहते हैं, व्यापारविहीन कैसे कह सकते हैं ? बिना व्यापार के आश्रय के साहित्यकार एक अक्षर नहीं लिख सकता, वक्ता एक शब्द नहीं बोल सकता। नाटक के अभिनय, किसी कथा-कहानी के विकास और अर्थ के प्रणयन में व्यापार का मूल्य भुलाया नहीं जा सकता।

वैसे तो साहित्य की सभी प्रणालियों की धारा का आधार ही व्यापार है, किन्तु नाटक में उसकी आवश्यकता उसकी दृश्यता के कारण और भी बढ़ जाती है। व्यापार नाटक को गति प्रदान करता है। नाटक का अभिनय तत्त्व उसके व्यापार को हमारे सामने लाकर रख देता है। प्रबन्ध और मुक्तक काव्य के भेद से नाटक प्रबन्ध काव्य की कोटि ही में रखा जा सकता है। यह कहना तो अधिक संगत नहीं होगा कि मुक्तक काव्य में व्यापार की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि जब नायक और नायिका में से किसी का बाह्य व्यापार न होगा तो मानसिक होगा; और यदि वह वर्णनात्मक काव्य भी हुआ तथा नायक-नायिका से उसका तनिक भी सम्बन्ध न होकर वह विशुद्ध प्रकृति-वर्णन भी हुआ तो भी, उसमें कवि के अन्तर्व्यापार को न देखना अनुचित ही नहीं, मनोवैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना करना होगा।

जहाँ तक प्रबन्ध काव्य का प्रश्न है, प्रबन्ध विस्तार का द्योतक है। प्रबन्ध में गति की आवश्यकता है। प्रबन्ध काव्य होने से नाटक में प्रारम्भ और अन्त का ताल-मेल होना चाहिये किन्तु आरम्भ और अन्त में विकासपरक अन्तर

भी होना चाहिये। भावात्मक नाटकों में भी यह अन्तर दिखायी देता है। फिर भी कुछ भावात्मक नाटक ऐसे हो सकते हैं जिनमें यह अन्तर बहुत कम हो। ऐसे नाटकों में केवल कथोपकथनों की शब्दावली का बल हो सकता है।

काव्य और नाटक में जो व्यापार बनता है वह न केवल चरित्र को चमका कर ही हमारे सामने रखता है अपितु हाव-भावों के आश्रय से पात्र के अन्तर का दृश्य भी प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार भाव हमारे कर्म को प्रेरित करते हैं हमारे व्यापार को प्रस्तुत करते हैं, उसी प्रकार व्यापार भी हमारे भावों की अभिव्यंजना में सहयोग देते हैं। व्यापार-लोक एक ऐसा लोक है जिसमें अन्तर और बाहर दोनों का सामंजस्य काव्य या साहित्य के माध्यम से सम्भव हो जाता है। हमारे समस्त कर्म, जिनमें चेष्टाएँ भी सम्मिलित हो सकती है और जो रस-शास्त्र की शब्दावली में अनुभाव कहलाती हैं, व्यापार की सीमा में आ जाते हैं।

तटिनी की भाँति नाटक और प्रबन्ध काव्य अपने आदि और अन्त के बीच में कथानक की धारा को लेकर बहते हैं। इन दोनों के बीच में देश और काल भी निहित रहते हैं। कहानी और एकांकी तक में समय की सीमाएँ स्पष्ट होती हैं, चाहे वे छोटी ही क्यों न हों। देश भी अपनी विशेषताओं को समय के साथ व्यक्त किये बिना नहीं रहता। 'कण्ट्रोल' में न केवल समय अपने रंग में प्रकट होता है, वरन् देश भी रीति-रिवाजों, रहन-सहन के ढंगों और प्राकृतिक दृश्यों को लेकर अभिव्यक्त होता है। देश और काल का यही क्षेत्र नाटक या प्रबन्ध काव्य का प्रसार प्रस्तुत करता है। इसी प्रसार में व्यापार-परम्परा बनती है। नाटकेतर प्रबन्ध काव्य में व्यापार का इतना मूल्य नहीं है जितना नाटक में होता है। अन्यत्र तो लेखक या कवि भी कुछ अपनी ओर से कह देता है और इस प्रकार व्यापार का संकेत किया जाता है, किन्तु नाटक में तो व्यापार का आँखों के सामने उतरना अनिवार्य है, अन्यथा अभिनय नहीं बन सकता।

नाटक दृश्य काव्य है। इसका सम्बन्ध देखने से होता है। इसी कारण व्यापार की अभिव्यक्ति अभिनय के माध्यम से होनी चाहिये। नाटक में व्यापार की अभिव्यक्ति में 'कथोपकथन' से जितना अधिक काम लिया जायेगा, उसकी आनन्दमयता उतनी ही क्षीण होगी। जिस प्रकार चन्द्र-किरणें चन्द्र-मणि का सम्पर्क करके उसमें 'रस' का प्रादुर्भाव कर देती हैं उसी प्रकार अभिनय लोचन-पथ से हमारे मानस को छूकर आनन्द का प्रादुर्भाव करता है। लोचन-पथ से मानस पर जो प्रभाव पड़ता है वह अधिक तीव्र होता है। कठपुतली का तमाशा मनोविनोद को आनन्द की उसी सीमा तक ले जा सकता है जिस सीमा तक कि उसमें जीवन का अनुकरण होता है क्योंकि हम स्वभावतः जीवन-सम्बन्धी

बातों में ही रस लेते हैं। वास्तविक जीवन सुख-दुख के भावों से संबंधित होता है और उसका साहित्य में प्रतिरूपण इन भावों से मुक्त होकर मनोविनोद को आनन्द क्षेत्र में पहुँचा देता है। प्रतिरूपण के अनुकरण का स्थान भी महत्त्व-पूर्ण है।

मनुष्य अनादिकाल से अनुकरणशील है। नाटक के प्रचलन का कारण ही मनुष्य की इस अनुकरणशीलता में निहित है। जब छोटे बालक बालू के घर बना कर घरवालों का अनुकरण करते हैं तो उनको तो रस मिलता ही है, बड़े-बड़े देखने वालों को भी रस मिलता है। अपनी छड़ी के घोड़े पर बैठ कर अपने बनावटी कोड़े से पीटता हुआ जब बालक अपने ही पैरों पर दौड़ता हुआ घुड़सवार का अनुकरण करता है तो उसे आनन्द आता है और जब देखने वाले उसे देखकर हँसते हैं तब उनकी हँसी में अपनी हँसी मिलाते हुए उसका आनन्द और भी बढ़ जाता है। आनन्द का सूत्र अनुकारी और दर्शक के सम्बन्ध से बनता है। इनमें से किसी एक के अभाव में आनन्द का भी अभाव-सा ही रहता है। यह बात अनुकरण के सम्बन्ध में देखी जाती है। अनुकरण की प्रवृत्ति ने ही, आनन्द से हमारे लगाव ने ही, नाटकों को जन्म दिया।

अनुकरण की कई स्थितियाँ होती हैं, जैसे व्यंग्यात्मक (सक्रोध) अनुकरण और हास्यप्रेरक व्यंग्य। अनुकार्य के अनुरूप अनुकरण से 'हास्य' की सृष्टि की दशा में जिस रस की सृष्टि होती है वह आनन्दरूप होता है। चित्रकला अनुकृति ही के माध्यम से आनन्द की साधिका है। अनुकरण अनुकारी को अनुकार्य के सान्निध्य में पहुँचा कर उसकी जिज्ञासा की तृप्ति और कुतूहल का उपशमन करता है। इस स्थिति में भी आनन्द का आवास होता है। इस प्रकार कभी अनुकरण हमारे कुतूहल को शान्त करने, कभी हमारी लालसा की अभिव्यक्ति करने का साधन बनता है। अभिनयगत अनुकरण अनुकारी को स्थिति विशेष में रखकर उसमें सफलतापूर्वक अनुकार्य की प्रतीति कराने की आकांक्षा उत्पन्न कर देता है। अनुकारी को अपने सफल अनुकरण की प्रतीति सभ्यों की मुख-मुद्रा, भाव-भंगिमा आदि से हो जाती है। इन सबका सम्बन्ध व्यापार से है।

यह तो कहा ही जा चुका है कि सुनने की अपेक्षा देखने का प्रभाव अधिक पड़ता है क्योंकि सुनने का प्रभाव सीधा नहीं पड़ता और देखने का प्रभाव सीधा पड़ता है। इसी कारण श्रव्यता और दृश्यता में भेद है। नाटक में दृश्यात्मकता होने से श्रव्य काव्य की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादकता होती है।

अभिनय के अन्तर्गत हाथ, पैर, जीभ आदि के व्यापार ही नहीं होते वरन् अन्य भाव-भंगिमाओं का भी योग होता है। दाँत कटकटाने और मुँह बनाने से जिस

प्रकार क्रोध की प्रतीति करायी जाती है, उसी प्रकार पैर पटकने हाथ चलाने, और कर्कश शब्दों के प्रयोग से करायी जाती है। फिर भी दोनों व्यापारों में अन्तर रहता है। दूसरी स्थिति अपेक्षाकृत पहली से गंभीरतर होती है।

व्यापारों में एक प्रकार की शृंखला रहती है। जिस प्रकार डाक गाड़ी को छोटे स्टेशनों पर न रुकने पर भी 'लाइन-क्लीअर' तो लेना ही पड़ता है, उसी प्रकार कथानक की गति व्यापार-परंपरा पर निर्भर है। व्यापार एक दूसरे को प्रेरणा दे-लेकर परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसी सम्बन्ध की दृढ़ता कथा को पुष्ट करती है। अनेक व्यापार-अनुव्यापारों से आबद्ध नाटक आदि से अन्त को प्राप्त होता है। जहाँ व्यापार शिथिल होता है वहाँ नाटक में शैथिल्य आ जाता है। जिस प्रकार रस्सियों के खिंचाव से जाल तना रहता है उसी प्रकार व्यापारों की कसावट से कथानक पुष्ट और संतुलित रहता है। जहाँ काव्य या नाटक में व्यापार में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है वहाँ प्रबन्धत्व बाधित हो जाता है। रामचन्द्रिका में इसी प्रकार के गतिरोध ने उसके प्रबन्ध सन्तुलन को शिथिल कर दिया है। अतिवेग भी व्यापारों के रूप को भ्रष्ट कर कर देता है। रामचन्द्रिका के व्यापार इसी से कहीं-कहीं संकेतमात्र रह गये हैं।

सामान्यतया वर्णन व्यापार को निखार देता है, किन्तु बड़े वर्णन में व्यापार का आकर्षण बाधित हो जाता है। वर्णन में अपनी अलग व्यापार-परंपरा हो सकती है, किन्तु वर्णनपरकता के कारण प्रबन्ध काव्य की शेष-व्यापार-सृष्टि से उसका सम्बन्ध या तो बिल्कुल टूट जाता है या इतना ढीला हो जाता है कि उसे सम्बन्ध कहते नहीं बन पड़ता। कभी-कभी व्यापार अपनी मन्दता से भावों में उलझ कर कथा-प्रवाह को अवरुद्ध-सा कर देता है। साकेत में इस प्रकार की परिस्थितियाँ कई स्थलों पर दीख पड़ती हैं। प्रियप्रवास भी इसी दुर्बलता से पीड़ित है। रामचन्द्रिका में व्यापार-प्रक्रिया संतुलित नहीं है। उसमें व्यापार की गति कहीं तो अति तीव्र है और कहीं वह वर्णन की भूल-भुलैयों में भटक कर अपनी प्रगति खो बैठता है ; अतएव जहाँ वर्णन अपेक्षित थे वहाँ केवल संकेत मिलते हैं और जहाँ संकेतों की आवश्यकता थी या वर्णन-लघुता अपेक्षित थी वहाँ वे अति दीर्घ हो गये हैं। इस असन्तुलन के कारण प्रबन्धता बिगड़ गयी है।

प्रबन्ध काव्य में व्यापार की प्रशस्यता चरित्र के सम्बन्ध से बनती है। संतुलित व्यापार चरित्र-चित्रण को प्रौढ़ता प्रदान करते हैं। किसी पात्र के गुण-दोष उसके व्यापारों से ही समक्ष आते हैं। श्रव्य काव्य में व्यापारों की स्थिति पाठक या श्रोता की दृष्टि से कुछ क्लिष्ट होती है, किन्तु दृश्य काव्य में व्यापारों के प्रत्यक्ष होने के कारण वस्तु-भाग बहुत सुबोध हो जाता है। अथवा जिसको नाटकीय परिभाषा में अभिनय कहते हैं वह व्यापार-प्रदर्शन के सिवा

और कुछ नहीं है। इससे यह सिद्ध है कि नाटक की परिकल्पना में व्यापार का प्रमुख स्थान होता है।

साहित्य के प्रणयन में मानसिक या बौद्धिक व्यापारों का भी अमूल्य योग रहता है। यदि साहित्य का प्रतिभा की अभिव्यक्ति में कोई स्थान है तो बुद्धि और मन के व्यापारों को भुलाया नहीं जा सकता। कल्पनाओं की योजना, वस्तु-विन्यास और विस्तारों में बुद्धि की उपयोगिता सिद्ध तथ्य है। बौद्धिक व्यापारों के भेद से ही रामचरितमानस और साकेत का अन्तर हुआ है। कादम्बरी की विस्तारमयी उलझनों में या बाणभट्ट की भूमिका में बुद्धि के स्पन्दनों का अन्तर स्पष्ट है किन्तु जब मानसिक स्पन्दन आयास-मुद्रित होकर परतंत्र हो जाता है तब स्वतन्त्र व्यापार-परंपरा कुंठित हो जाती है। सहज फल से विपरीत फल निष्पन्न होने के कारण न केवल रस-प्रक्रिया व्याहत होती है, अपितु कला का विकास भी अवगुंठित होता है।

साहित्य में जहाँ बाह्य और आन्तरिक, दोनों प्रकार का संतुलन एवं सामंजस्य रहता है वहाँ उत्कृष्ट साहित्य बनता है क्योंकि उसमें स्वाभाविकता, जीवन की सहजरूपता, अक्षुण्ण रहती है। ऐसा सन्तुलन प्रबन्ध में ही नहीं, मुक्तक में भी मिल सकता है। सूरदास के वात्सल्यविभोर पदों में ऐसे उदाहरण प्रचुरता से मिल सकते हैं। इसी से उन पदों का साहित्यिक मूल्य इतना ऊँचा है और इसी कारण उनकी गणना भारतीय साहित्य की अनन्त निधि के उज्ज्वल रत्नों में है।

जीवन में व्यापारों की अनर्घ्यता असंदिग्ध है, किन्तु व्यापारों की परीक्षा परिस्थितियों और मनोभावों के आधार पर ही सही ढंग से की जा सकती है। एक परिस्थिति वह है जबकि किसी भिखमंगे के पीछे पड़ जाने पर आपके हाथ से फेंका हुआ पैसा उसकी आँख को घायल कर देता है और दूसरी परिस्थिति में उसके न माँगने पर भी उसकी दशा पर तरस खाकर जल्दी में भागते-भागते आपके द्वारा फेंके हुए पैसे से उसकी आँख घायल हो जाती है। जहाँ तक पैसे फेंकने की क्रिया और आँख के घायल होने का प्रश्न है, दोनों उदाहरणों में वह समान है, किन्तु परिस्थितियों में भेद है। दोनों परिस्थितियों में पैसा भिन्न-भिन्न मनोभावों की प्रेरणा से फेंका जाता है, जिनका सीधा सम्बन्ध आपके चरित्र से भी है। चारित्रिक अभिव्यक्ति के लिए ऐसी परिस्थितियों को भुलाया नहीं जा सकता। बाह्य व्यापार अन्तर्व्यापार के सम्बन्ध से ही पूर्ण कहा जा सकता है। जिसको चरित्र कहते हैं उसे, अन्तर्व्यापार और बाह्य व्यापार दोनों को साथ-साथ रख कर ही, परख सकते हैं।

साहित्य में उक्त परिस्थितियों का अपना मूल्य होता है। उनसे चरित्र-

चित्रण और चरित्र-मूल्यांकन दोनों में बड़ी सहायता मिलती है। जहाँ प्रबंध काव्य में अथवा किसी नाटक, उपन्यास, कहानी आदि में जब किसी वातावरण विशेष में होकर कथानक अपनी गति से अग्रसर होता है तो वहाँ प्रौढ़ता लाने के लिए व्यापार और परिस्थिति की संगति अनिवार्य है, अन्यथा चरित्र एवं मनोवैज्ञानिक स्थिति बिगड़ जायेगी चरित्र-चित्रण की पृष्ठभूमि में परिस्थितियाँ रहती हैं जिनका कलाकार के कौशल में विशेष स्थान होता है। इस प्रकार व्यापार की सीमाओं में न केवल परिस्थितियाँ आती हैं, अपितु कलाकार का कौशल भी आता है।

ऊपर यह कहा ही जा चुका है कि साहित्य में व्यापारसंगति आवश्यक है। अनेक व्यापार एक दूसरे से गुथकर ही कथानक का निर्माण करते हैं। छोटे से छोटे मुक्तक में भी जिसमें हम किसी रस की स्थिति मानते हैं, कभी-कभी व्यापार एक-दूसरे को सहयोग देते हुए दिखायी पड़ते हैं। कहना न होगा कि किसी भी रस की स्थिति में व्यापार-संगति अपेक्षित है। एक व्यापार दूसरे व्यापार पर अपनी छाया डालता है और एक-दूसरे का प्रेरक बनता है। एक व्यापार दूसरे व्यापार को जाग्रत करने के लिए भाव-माध्यम स्वीकार करता है और इसी भाव के माध्यम से दोनों के बीच संतुलन स्थापित होता है। इसलिए भाव और कर्म दोनों से एक ही साथ जो सम्बन्ध जुड़ा दीख पड़ता है वह सब व्यापार की माया है। एक व्यापार दूसरे से जुड़कर ऐसी शृंखला तैयार कर देता है जिसमें कोई विच्छेद दृष्टिगोचर नहीं होता। वहीं हमें जीवन की परम्परा दृष्टिगोचर होती है।

यद्यपि मुक्तक काव्य में कोई चारित्रिक शृंखला सामने न आने से व्यापारों की किसी परम्परा के लिये अवकाश नहीं होता फिर भी कुछ मुक्तकों में एक विशेष परिधि में एक लघु व्यापार-क्रम मिल ही जाता है। वहाँ एक व्यापार दूसरे व्यापार को उसी प्रकार व्यक्त करता है जिस प्रकार किसी दुर्दिन में धूप-छाया एक-दूसरे को। कभी-कभी किसी व्यापार का संकेत मात्र दूसरे को उन्मुक्त कर देता है, अतएव व्यापार संकेत से लेकर रण-कौशल तक में व्यक्त हो सकता किन्तु घटनाओं के सम्बन्ध से जो व्यापार काव्य या नाटक में अवतीर्ण होते हैं, वे घटनाओं को जोड़ने में उतने ही प्रशस्त सिद्ध होते हैं जितने घटनाओं को घटाने में।

प्रबन्ध काव्य में व्यापार का अवरोध मुक्तक की स्थिति पैदा कर देता है क्योंकि उसमें जो व्यापार-शृंखला अपेक्षित है, वह टूट जाती है और ऐसे अवरोध की आवृत्तियाँ प्रबंध को बर्णन-संग्रह-मात्र बना देती हैं। इससे यह कहना अनुचित न होगा कि कहानी, उपन्यास, एकांकी, नाटक, खंडकाव्य, महा-

काव्य, मुक्तक, प्रबन्ध आदि सब में व्यापार विद्यमान रहता है। काव्य-कौशल और कलात्मक संगठन-विघटन तक में व्यापार की उपादेयता प्रतिष्ठित है। फाग, बारहमासा, चौमासा, गीत आदि तक में व्यापार अपने महत्त्व को शृंखला-रूप में सुरक्षित रखता है।

रति और उत्साह व्यापार के क्षेत्र में दो प्रमुख भाव हैं जिनमें व्यापार-शृंखला के लिए सबसे अधिक अवकाश होता है। ऐसी बात नहीं है कि अन्य स्थायीभावों में व्यापार-प्रक्रिया को अवसर ही नहीं मिलता, किन्तु उक्त दोनों भावों की अपेक्षा कम। उदाहरण के लिए 'भय' को ले सकते हैं। कितने ही अवसरों पर भय व्यापार को अधिक तीव्र कर देता है और कुछ ऐसे अवसर होते हैं जहाँ भय का अतिरेक निराशा को जन्म देकर व्यापार की गति को बाधित कर देता है। ऐसे अवसरों पर कोई अन्य भाव व्यापार को कुण्ठा से मुक्त करता है।

साहित्य में कुछ भाव विरोधी होते हैं जिनकी स्थिति व्यापार को बाधित करती है। फिर भी कभी-कभी विरोधी भावों की संगति बन जाती है। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध शृंगार के स्थायीभाव 'रति' का विरोधी कहलाता है, किन्तु नख-दन्त-क्षत आदि जो अन्यथा रौद्र रस के अनुभाव होते हैं, रति के क्षेत्र में शृंगार के अनुभाव बन जाते हैं और दोनों की संगति होने से भी व्यापार-परम्परा बाधित नहीं होती। शान्तरस साहित्य में अपनी विचित्र स्थिति रखता है। श्रव्य काव्य के क्षेत्र में उसकी गणना नव रसों में होती है, किन्तु दृश्य काव्य के क्षेत्र में पहुँच कर वही रस-क्षेत्र से बहिष्कृत हो जाता है क्योंकि 'शम' की स्थिति से अभिनय बाधित होता है। इसलिए नाटक में शान्तरस वर्जित है। नाटक में शान्त-वर्जना व्यापार के मूल्य का प्रमाण है।

व्यापार की अभिव्यक्ति का एक माध्यम संघर्ष है जो साहित्य का प्रमुख तत्त्व है। प्रबन्ध काव्य में संघर्ष पात्रों के चरित्र को प्रस्फुटित करता है। संघर्ष कायिक और मानसिक, दोनों प्रकार का हो सकता है। मानसिक संघर्ष कायिक व्यापारों को अस्पष्ट और धुँधला बना देता है। मन जितना संघर्ष-मुक्त होगा बाह्य व्यापार उतने ही उन्मुक्त और स्पष्ट होंगे। चरित्र के विकास में मनोवेगों का बड़ा हाथ होता है। अमुक व्यक्ति ने ऐसा क्यों कहा अथवा क्यों किया ? इस प्रश्न का उत्तर किसी मनोवेग में निहित मिलता है। इसका अभिप्राय यह है कि कायिक और वाचिक व्यापारों का बीज अन्तर में बोया जाता है। हमारी क्रियाएँ और उक्तियाँ अन्तर-प्रेरित होती हैं, किन्तु अन्तर में जहाँ एक भाव के विरोध में दूसरे भाव का उद्भव हो जाता है वहीं संघर्ष का जन्म हो जाता है और कायिक और वाचिक व्यापार शिथिल एवं कुंठित हो जाते हैं।

कभी-कभी कायिक या वाचिक व्यापारों का सम्बन्ध अन्तर से जोड़ना संभव नहीं होता जैसे, सहसा किसी भिनगे के आँख में पड़ जाने पर आँख का मिच जाना। यह शुद्ध कायिक व्यापार है। साहित्य में ऐसे व्यापारों का विशेष महत्त्व नहीं होता। ऐसा व्यापार अनवहित व्यापार से भिन्न होता है। व्यापार-परंपरा में, जीवन के उत्कर्ष और अपकर्ष में, कभी-कभी अनवधान पश्चात्ताप को प्रेरित करके मानसिक व्यापारों की शृंखला की स्वयं एक कड़ी बन जाता है। कभी-कभी पश्चात्ताप की अभिव्यक्ति अनवधान को व्यंजित कर देती है।

कभी-कभी किसी वस्तु, व्यक्ति या क्रिया की मानसिक स्थिति इतनी प्रौढ़ हो जाती है कि हमारे कायिक या वाचिक व्यापारों से उसकी सहसा अभिव्यक्ति हो जाती है। जो गोपी 'दही लो' की आवाज़ लगाने के बजाय 'श्याम लो' की आवाज़ लगाती है उसके मन में श्याम की व्याप्ति सिद्ध है। रावण के मन में राम, चाहे शत्रु रूप में ही सही, निरन्तर प्रस्तुत रहते थे। इससे रावण की मनोदशा स्पष्ट हो जाती है। यह मनोदशा अन्तर्व्यापार की ही एक स्थिति होती है। काव्य में इसका प्रतिरूपण मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बहुत मूल्यवान् होता है।

इस प्रकार व्यापार काव्य में अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध होता है। उससे पात्रों का चरित्र प्रस्फुटित और विकसित होता है, वातावरण की अभिव्यंजना होती है, मानसिक और बाह्य संघर्ष का परिचय मिलता है, मनोवैज्ञानिक कारणों की भूमिका तैयार होती है, कथोपकथनों को धरातल मिलता है और काव्यगत उद्देश्य की सिद्धि होती है। यह कहने की भी आवश्यकता नहीं कि रस-निष्पत्ति में भी व्यापार बहुत सहायक होता है।

७

साहित्य : उपयोगिता और सौन्दर्य

उपयोगिता और सौन्दर्य

साहित्य का मानव से घनिष्ट सम्बन्ध है। जहाँ साहित्य है वहाँ मानव है। साहित्य की कोई गति मानव की उपेक्षा नहीं कर सकती। उसके प्रत्येक पद-प्रक्षेप के साथ संस्कृति का इतिहास अंकित होता है ; उसकी लय में मानवता की लय उद्भूत होती है। फिर साहित्य मानव से अलग कैसे खड़ा हो सकता है ?

कहने की बात नहीं कि साहित्य का मानव से अमिट सम्बन्ध है। इतिहास ही नहीं, दैनिक चर्या भी साक्षी है कि मानव का लक्ष्य पूर्णता है। उसके सारे प्रयत्न उसी ओर संलग्न हैं। यदि वह पूर्णता की प्राप्ति नहीं कर पाता तो इसका कारण उसकी साधना का दोष है। पूर्णता का पथिक अपूर्णता के मार्ग पर चल कर अपना लक्ष्य सिद्ध करने की बात सोच भी कैसे सकता है ? यदि सोचता है तो वह भूमि पर खड़ा होकर आकाश के तारों को तोड़ना चाहता है। सही मार्ग का अनुसरण गन्तव्य की प्राप्ति में अमोघ सहायता देता है। जहाँ पथ है, जहाँ गति है वहाँ पथिक अपने गन्तव्य स्थल पर न पहुँचे यह असम्भव है। हाँ, पहुँचने में समय का प्रश्न अवश्य हो सकता है, किन्तु विलम्ब लक्ष्यानुसंधान का बाधक नहीं है। कुछ ऐसे साधन भी होते हैं जो लक्ष्य-सिद्धि के निमित्त प्रेरक और सहायक होते हैं। मनुष्य को पूर्णता की ओर लेजाने में साहित्य भी एक ऐसा ही साधन है।

साहित्य अपनी अनेक सरणियों में किसी न किसी लक्ष्य का साधक है और वह अपनी पूर्णता में मानव को पूर्णता की ओर ही ले जाता है। यों तो उसके किसी लक्ष्य तक पहुँचने में साहित्य मानव की समुचित सहायता करता है किन्तु साहित्य की उत्तमता का परिचय देने वाला मनुष्य का वह लक्ष्य है

जिसकी ओर ले जाने में साहित्य उसकी पूरी सहायता कर रहा है। जो सच्चे मानी में प्रगतिशील साहित्य है वह आबद्ध मानव को मुक्ति का साधन है। वह बंधन में तो किसी को भी नहीं डालता, किन्तु जिस मनुष्य में उससे प्रेरणा लेने की क्षमता है, उसको वह हर हालत में सहायता देता है।

साहित्य किसी एक व्यक्ति की सृष्टि और सम्पत्ति नहीं है। वह तो मनुष्य की सामूहिक सिद्धि है। साहित्य अपने आप में पूर्ण है, वह पूर्ण मानव का एक समूचा रूप है। साहित्य के क्षेत्र में वैयक्तिक प्रयास उसके किसी अवयव की पूर्ति ही कर सकता है ; अतएव व्यष्टिगत रचनाएँ साहित्य के अंगमात्र की सूचक होती हैं, पूर्ण साहित्य की प्रतिनिधि नहीं। साहित्य मनुष्य को लक्ष्य दिखलाता है, उसे मार्ग दिखलाता है और उसे प्रेरणा देकर गतिमय बनाता है। यही साहित्य की उपयोगिता है।

इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचना असंगत न होगा कि साहित्य में गति होती है जो उसके किसी लक्ष्य की ओर संकेत करती है। साहित्य की गति मानव की गति है और उसका लक्ष्य मानवता है जिसकी पूर्णता साहित्य की परिधि है। मानवता का पथिक आबद्ध नहीं है, स्वतन्त्र है, किन्तु उसकी स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता या स्वेच्छाचारिता भी नहीं है। स्वेच्छाचारिता संकुचित दृष्टिकोण एवं निम्न स्वार्थ से वलयित होती है। स्वतंत्रता में स्वार्थ अवश्य रह सकता है, किन्तु उच्च स्वार्थ जो परार्थ का बाधक नहीं होता। उसमें परमार्थ की गति निहित रहती है।

जो साहित्य मानव को स्वतंत्र नहीं बना सकता, उसे दानवता के कठोर चंगुल से मुक्त नहीं करा सकता, वह दुर्बल साहित्य है। 'साहित्य' संज्ञा सार्थक ही तब होती है, जबकि साहित्य मानव-कल्याण का प्रेरक और रक्षक होता है। कदाचित् कल्याण की स्पृहा ने ही मानव को साहित्य से संबद्ध किया था। मानव-कल्याण का तात्पर्य समष्टि-कल्याण है। जो भावना समष्टिगत कल्याण की साधक नहीं वह व्यक्तिगत स्वार्थमात्र है। यह ठीक है कि 'मानव-कल्याण' 'व्यष्टि' की उपेक्षा नहीं कर सकता, किन्तु जहाँ व्यष्टिगत हित के ऊपर समष्टिगत हित का बलिदान कर दिया जाये, वहाँ मानव-कल्याण दंभ और प्रवंचनामात्र समझना चाहिये।

समाज को एक सागर से और व्यक्ति को एक बूंद से उपमा दी जा सकती है। सागर अपनी पूर्णता में बूँद का रक्षक है, किन्तु बूंद अपने आप में सागर की रक्षक नहीं है जब तक कि ऐसी अनेक बूँदें एक लक्ष्य होकर सागर न बन जायँ। यदि प्रत्येक बूँद का प्रयत्न सागर में खोकर भी सागर के महत्त्व और गौरव को रक्षित रखना है तो उस प्रयत्न में समष्टिगत कल्याण की भावना

अवश्य संनिविष्ट है जो उसकी महिमा की द्योतक है। यदि बूँद अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को प्रतिष्ठित करने के लिए अपनी समष्टि की उपेक्षा करती है तो उसका यह प्रयत्न न केवल 'सागरत्व' का विरोधी है, वरन् आत्म-ध्वंसक भी है।

जहाँ यह आवाज़ निकलती है कि साहित्य बाह्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति मात्र है, वहाँ उपयोगिता खोजना व्यर्थ है। ऐसी आवाज़ उठाने वाले 'व्यक्ति-साधक' हैं, लोक-साधक नहीं। 'कला कला के लिए है', यह आवाज़ भी व्यक्तिवाद के कंठ से ही निकली है, लोक-मंगल की साधनावस्था इसको अंगीकार नहीं करती।

लोक-मंगल उपयोगिता का समर्थक है। इसी से साहित्य में 'शिव' का प्रतिपादन होता है। इससे स्पष्ट है कि साहित्य का प्रेरक भी 'शिव' है और प्रेरित भी 'शिव' है। 'सत्य' 'शिव' का आधार है और 'सुन्दर' उसका विकास करता है। यदि मानवता नित्यनवीन है, तो उसका कल्याण भी नित्यनवीन है। सुन्दरता का विकास नवीनता का इतिहास है। नित्य का सहचर 'शिव' सुन्दर के साथ पूर्ण मानवता की सिद्धि करता है। पूर्ण मानवता में ही देवत्व की कल्पना की जाती है। साहित्य अपनी उपादेयता के पथ से सत्य का आधार और सौन्दर्य की गति लेकर मानव की पूर्णता में योग देता है। मानव को पूर्णता तक ले जाने के सम्बन्ध से साहित्य की क्षमता ही उसे 'साहित्य-देवता' का स्थान प्रदान करा सकती है। उसी क्षमता में देवी सरस्वती का निवास है।

जो लोग साहित्य की उपादेयता को भुला देते हैं वे वास्तव में मानव के साथ उसके सम्बन्ध को भुला देते हैं। यदि उनकी दृष्टि में दोनों का सम्बन्ध आजाये तो वे साहित्य के लक्ष्य की उपेक्षा नहीं कर सकते। सुन्दरता के भक्तों को यह न भुला देना चाहिये कि सुन्दरता का आधार ही उपादेयता है। इस तथ्य का अनुसंधान वे अपने जीवन में करें। यदि वे यह जानते हैं कि जीवन में उपयोगिता सुन्दरता से पहला स्थान पाती है तो जीवन उपयोगिता की अवहेलना कैसे कर सकता है? सच तो यह है कि साहित्य जीवन के लिए है, वह जीवन के लिए उपयोगी है। सौन्दर्य साहित्य को अधिक अर्हणीय बना देता है। फिर यह प्रश्न ही क्यों उठना चाहिये कि 'कला कला के लिए है'।

भारतीय मत के अनुसार साहित्य 'विद्या' है, कला नहीं। विद्या मानव को उसका और उसके सम्बन्धों का ज्ञान कराती है जिसके दो पक्ष हैं: 'सिद्धान्त-पक्ष और उपयोग-पक्ष'। 'विद्या ददाति विनयम्' से विद्या का 'प्रयोग-पक्ष' प्रमाणित होता है, किन्तु आध्यात्मिक विवेचना आदि में विद्या का सिद्धान्त-पक्ष स्पष्ट है। यदि पाश्चात्य मत के अनुरूप हम साहित्य को कला भी मानलें तो

भी उसके उपयोग-पक्ष का अवमूलन नहीं किया जा सकता। यदि सौन्दर्य की अभिव्यंजना आल्हादन करा सकती है तो कला के क्षेत्र से उपयोग का बहिष्कार नहीं किया जा सकता। यदि साहित्य यश, व्यवहार-कौशल, आल्हादन आदि के उपलाभ में सहायक होता है तो उसकी उपयोगिता स्वयंसिद्ध हो जाती है। सुन्दर फूल को देखकर यदि हमारे चित में प्रफुल्लता आती है तो सौन्दर्य में उपयोगिता सिद्ध है।

यह ठीक है कि कोरी उपयोगिता सौन्दर्य के बिना प्रसारित नहीं हो सकती। उसी प्रकार कोरा सौन्दर्य उपयोगिता के बिना टिकाऊ नहीं हो सकता। भाषा, अलंकार, छन्द आदि का सौष्ठव साहित्य के उपयोगी होने पर ही अपनी सत्ता की रक्षा कर सकता है। उपयोगिता और सौन्दर्य, दोनों मिलकर ही साहित्य को महत्त्व प्रदान कर सकते हैं। एक दूसरे का पूरक बन कर ही साहित्य की शोभा बढ़ाता है। अतएव जिसको हम साहित्य संज्ञा से अभिहित करते हैं उसमें उपयोगिता और सौन्दर्य दोनों का अपना-अपना पद है।

८

साहित्य-सौन्दर्य के मापदण्ड

'अमुक कृति सुन्दर है' यह अकेला वाक्य अनेक विद्वानों के मुख से एक ही कृति के सम्बन्ध में सुना गया है किन्तु पूछने पर उनके अभिप्रायों में भिन्नता प्रकट हुई। इससे कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य-सौन्दर्य के मापदण्ड अनेक हो सकते हैं। क्यों न हों वे अनेक जबकि साहित्य की व्याख्याएँ ही अनेक हैं। किसी ने उसे 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहा और किसी ने 'रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्' कहा। किसी ने उसे 'जीवन की व्याख्या' किसी ने 'जीवन का दर्पण' और किसी ने उसे 'जीवन अथवा प्रकृति का अनुकरण' बतलाया। अब भी कितनी ही नयी व्याख्याएँ बन गयी हैं और कौन कह सकता है कि भविष्य में कोई नयी व्याख्या न बनेंगी ?

यहाँ यह शंका करने की आवश्यता नहीं कि काव्य और साहित्य एक कैसे हैं ? दो नामों में एक ही अर्थ निहित है। 'काव्यञ्च द्विविधं, गद्यञ्च पद्यञ्च' कहकर 'काव्य' और 'साहित्य' शब्द के भेद को दूर कर दिया गया है। विषय-प्रतिपादन की संगति के लिए यहाँ साहित्य शब्द का ही प्रयोग किया जायेगा जो 'काव्य' शब्द का भी अर्थ देगा। सहित के भाव को पंडितों ने साहित्य कहा है। इस 'सहित' शब्द के भी दो अर्थ किए जाते हैं—(१) कल्याण की भावना से युक्त और (२) जीवन सहित या जीवन को लेकर चलने वाला।

साहित्य के विषय विश्व के उन्मुक्त क्रोड से चुने जाते हैं। विषयों का अगाध और अनन्त भण्डार साहित्यकार के सामने उन्मुक्त है। वह उनमें से क्या चुनता है, यह उसकी रुचि पर निर्भर है किन्तु वह जो कुछ बना कर देता है वह न केवल उसको ही सुन्दर लगता है वरन् दूसरों को भी। जब अनेक रुचि वाले लोगों को अच्छा लगता है तो स्पष्ट है कि उसमें सौन्दर्य की विविधता होती है।

साहित्य का सौन्दर्य कहाँ निहित रहता है और उसका मापदण्ड क्या है ? यह प्रश्न अति महत्त्वपूर्ण होते हुए भी विवादास्पद है। साहित्य एक बहुत व्यापक शब्द है। उससे समस्त जीवन की अभिव्यक्ति और सर्वांगीण चेतना का बोध होता है। किसी एक व्यक्ति, जाति या राष्ट्र में उस 'समस्त' और 'सम्पूर्ण' को अपने प्रत्यक्ष शब्द-चित्रों में सँजोने की शक्ति नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति का ही नहीं, जाति या राष्ट्र तक का विकास अपने-अपने ढंग से होता है। इस कारण साहित्य के स्वरूप की कोई एक नियत व्याख्या या परिभाषा नहीं मिल सकती। जब साहित्य की परिभाषा के सम्बन्ध में ही मतभेद है तो उसके सौन्दर्य के मापदण्डों के सम्बन्ध में मतैक्य होना आवश्यक नहीं है।

भारतीयों के सहित के भाव ने भी आधुनिक विचारकों के लिए एक विशाल क्षेत्र खोल दिया है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि साहित्य का सम्बन्ध जीवन से है और जीवन अपनी समग्रता और सम्पूर्णता में किसी सीमा विशेष में आबद्ध नहीं किया जा सकता। जीवन से अभिप्राय किसी व्यक्ति के जीवन से नहीं है, अपितु समग्र मानव-जीवन से है। व्यक्ति का जीवन देश-काल की सीमाओं के परिच्छेद से खंडित हो जाता है किन्तु जीवन या मानव-जीवन में देश-काल की सीमाएँ निलीन हो जाती हैं। जीवन था, है, और यदि मनुष्य अपना संहार ही न कर डाले तो शायद रहेगा भी। ऐसे सार्वभौम और सार्वकालिक जीवन का गहन आश्लेष करने वाला साहित्य भी पूर्ण, सार्वभौम और सार्वकालिक है। वह चिरनवीन और शाश्वत है।

सम्पूर्ण जीवन को किसी एक व्यक्ति या जाति का साहित्य ग्रहण और व्यक्त नहीं कर सकता, अतएव किसी एक व्यक्ति या जाति का साहित्य भी पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकता। व्यक्ति या जाति का साहित्य अपनी-अपनी परिस्थितियों में पूर्ण हो सकता हैं किन्तु उसकी सार्वभौम और सार्वकालिक सत्ता न होने से उसको साहित्य का खंडरूप ही कह सकते हैं। जिस व्यक्ति या समाज ने अपने साहित्य को पूर्ण समझ रखा है वही साहित्य के सम्बन्ध में अपनी व्याख्या को भी पूर्ण कहने का दावा कर सकता है और वही साहित्य-सौन्दर्य के मापदण्डों को नियत एवं इत्थमिदं कह सकता है।

सौन्दर्य आनन्द का भाव है। जो वस्तु या स्थिति अपने सम्पर्क से हमारी आत्मा को विभोर कर दे, वही सुन्दर है। कुछ लोग सौन्दर्य को शुद्ध आध्यात्मिक तत्त्व मानते हैं किन्तु यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। निसर्ग या कृत्रिम सौन्दर्य के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। यह ठीक है कि वस्तु-सौन्दर्य की प्रतीति मन या चेतना द्वारा होती है किन्तु उसके सम्पर्क के लिए वस्तु तो चाहिये ही। प्रतीक के रूप में वस्तु या व्यक्ति का आरोप भी

किया जा सकता है। अनेक मूर्तियाँ देव-देवियों की प्रतीक हैं। उनका सौन्दर्य काल्पनिक है किन्तु उस सौन्दर्य की भावना कराने के लिए ही मूर्तियों की उद्भावना करायी गयी। उन्हीं के सम्बन्ध से मन देव-सौन्दर्य को ग्रहण करता है। आकार ग्रहण कराने का साधन है। सौन्दर्य के क्षेत्र में उसका इतना ही मूल्य है। वस्तु-सम्पर्क के बिना सौन्दर्य की भावना कठिन ही नहीं, असम्भव भी हो जाती है।

सौन्दर्य का सम्बन्ध हमारी ग्रहण-शक्ति से भी है। उसमें रुचि की प्रधानता होती है। जब वस्तु इन्द्रिय-सम्पर्क में आती है तो संस्कारमयी रुचि उसे स्वीकृत या तिरस्कृत कर देती है। रुचि की स्वीकृति या तिरस्कृति के लिए कोई पदार्थ चाहिये। वस्तु या व्यक्ति में आरोप भी किया जा सकता है। जब आरोप्य और आरोपमान का अन्तर अभ्यास से मिट जाता है तभी शुद्ध आध्यात्मिक सौन्दर्य की भावना होने लगती है। इसलिए निर्गुणोपासना का क्षेत्र सर्वगम्य नहीं है क्योंकि निराकार को एकदम ग्रहण करना सम्भव नहीं है। इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है और जिसे हम रुचि कहते हैं वह भी अभ्यास और सम्बन्ध के कारण बनती है।

विद्वानों ने सौन्दर्य के मूल तत्त्व सन्तुलन (balance), संगति (harmony), सापेक्षता (co-relation) और समता (symmetry) माने हैं। अरस्तू के अनुसार शृंखला, समता एवं निश्चित सीमा, ये तीन गुण ही हैं। भारतीयों ने सौन्दर्य को नित्यनवीनता में दृष्टिगोचर किया है—

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः"

बिहारी ने जिस सौन्दर्य की अपने इस दोहे—"लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर। भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।।" में प्रशंसा की है, उसमें भी नित्यनवीनता का यही लक्षण प्रतीत होता है।

सौन्दर्य की नित्यनवीनता उसके सम्बन्ध में तृप्ति नहीं होने देती। कुमारसंभव में कालिदास ने इसी भाव को व्यक्त किया है। अग्निमित्र के सम्बन्ध में गणराज के मुख से निकले हुए ये शब्द भी—मैं ज्यों ज्यों राजा के निकट जाता हूँ उसका रूप मेरे नयनों को सागर के मोहक रूप के समान प्रतीत होता है, सौन्दर्य की व्याख्या में 'अतृप्ति' की भावना को प्रतिष्ठित करते हैं।

इन्द्रियाँ सौन्दर्य को उसके पूर्णरूप में कभी ग्रहण नहीं कर पाती हैं। इन्द्रियजन्य अनुभूति किसी विशेष दृष्टिकोण से होने के कारण अखण्ड नहीं हो सकती। इस कारण बार-बार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखने पर 'सुन्दर' में कोई न कोई नवीनता दिखायी पड़ती है। गोपियाँ कृष्ण को बार-बार देखती हैं किन्तु उनका मन नहीं भरता है। वे उनको देखती ही रहना चाहती हैं। पलकों का गिरना तक भी उनको अखरता है।

सुन्दर के सम्बन्ध में अतृप्ति की भावना आल्हादमयी होती है। यह अतृप्ति सौन्दर्य की व्याप्ति, अव्ययता और अखण्डता को सिद्ध करती है। वह शाश्वत और चिरनवीन है। इसीलिए कीट्स ने कह दिया—'A thing of beauty is a joy for ever'। कामायनी के कवि ने भी 'उज्ज्वल वरदान चेतना का, सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं' कह कर सौन्दर्य के अनुभूति-पक्ष को ही प्रकाशित किया है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए जर्मन दार्शनिक कांट के कहा—Beauty is rather light, which exists in and rather for a percipient and not otherwise.

सौन्दर्य कहाँ नहीं है ? उसका भण्डार चारों ओर खुला पड़ा है इसी को देखकर कवि ने कहा—'इस जगत के रोम रोम में भरी सहज सुन्दरता।' किसी ने उसको प्रकृति में देखा, किसी ने मानव में। इन्द्रधनुष को देखकर वर्डसवर्थ का हृदय उछलने लगा। कोई रजनी के सौन्दर्य में विभोर होकर गा उठा—'कहाँ बेचने जाती हो तुम गजरे ये तारों वाले' और कलित कुञ्जों को देखकर किसी का हृदय नाच उठा और उसके मादक उद्गार इस प्रकार निकल पड़े—

देख कुंज रवमय कुसुमित
उल्लास-नृत्य उर करता है।
ढाल मधुरता के प्याले,
अन्तर को छवि से भरता है।

जिस अखण्ड सौन्दर्य को कवि ने एक पहलू से देखा था तो उसमें प्रकृति की अप्सरा ने उसके लोचनों को लुभा लिया, किन्तु सुन्दरता ने अँगड़ाई ली और कवि ने उसे दूसरे पहलू से देखा तो उसे मानव सौन्दर्य में गरिमा दीख पड़ी और मानो साक्ष्य देता हुआ वह बड़ी ईमानदारी से बोल उठा—

सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम।

सौन्दर्य का सम्बन्ध एक ओर वस्तु से और दूसरी ओर आत्मा से होता है। सत् और चित् के साथ आत्मा का एक गुण आनन्द भी है जो दोनों से विभिन्न है। जब वस्तु या पदार्थ के आश्रय से आनन्द का आविर्भाव होता है तो उसे लोक-भाषा में सौन्दर्य कहते हैं। जो आनन्द अपने मौलिक रूप में अखण्ड एवं अमेय है, वस्तु के आश्रय से उसी का आविर्भाव परिमित प्रतीत होता है, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि घट-मठ के आश्रय से अनन्त आकाश प्रतीत होता है। घट-मठादि के आकाश की भाँति वस्तु-सौन्दर्य अखण्डानन्द का प्रतिनिधि नहीं है। वस्तु-सौन्दर्य आनन्द का केवल व्यक्त रूप है। चन्द्र एक के लिए दाहक होता है और दूसरे के लिए मोहक। जहाँ वह मोहक है वहाँ आनन्द

व्यक्त है और जहाँ वह दाहक है वहाँ वह मन को आनन्द की प्रतिकूल दशा में प्रभावित करता है, अतएव आनन्द के स्थान पर दाह या वेदना की प्रतीति होती है। सौन्दर्य की अनुभूति मन की सविशेष अवस्था है। मन की निर्विशेष या स्वस्थ दशा में वस्तु-सम्बन्ध विगलित हो जाने से सहजानन्द या विशुद्धानन्द का आविर्भाव होता है। इसी आनन्द का निरूपण कबीर ने इन शब्दों में किया है—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन हौं गई, मैं भी ह्वै गई लाल।।

मजनूँ की लैला या राधा का कृष्ण भी इस लाल से अभिन्न है। यही घनीभूत आनन्द है। इसी को अरविन्द ने सौन्दर्य कहा है। परमायोगियों के स्वस्थ मन में कदाचित् इसी आनन्द-भाव का आविर्भाव होता है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि सौन्दर्य वस्तु-सम्बन्ध से आनन्द के आविर्भाव की अवस्था है। जब रुचि, प्रवृत्ति और सम्बन्ध के कारण पदार्थ मन को तन्मय कर देते हैं तो आत्मा के आनन्द-तत्त्व का आविर्भाव होता है। पदार्थ के सम्बन्ध से यही आनन्द सौन्दर्य नाम से अभिहित किया जाता है। कौशल, लाघव आदि नामों से आख्यात यह सौन्दर्य क्रियाओं तक में अभिव्यक्त हो जाता है।

कहना न होगा कि सौन्दर्य की प्रतीति में रुचि आदि का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। रुचि का सम्बन्ध संस्कारों से है जो हमारे मन पर बनते रहते हैं। इसी कारण सौन्दर्य का सम्बन्ध मन से है। बिहारी ने ठीक ही कहा है—

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय।।

संस्कारों के बनाने में साहचर्य, उपयोगिता आदि सम्बन्धों का भी महत्त्व है। अपने उक्त दोहा में बिहारी ने रुचि के साथ 'समै समै' का योग करके उपयोग की ओर भी संकेत किया है। साहित्य-सौन्दर्य को भी उपयोगिता से विरहित नहीं किया जा सकता है।

शब्दार्थ संगति साहित्य का कोमलतम तन्तु है, जिसे कवि या लेखक चिन्तन, मनन एवं अभ्यास से प्राप्त करता है। पंत 'भाषा को संसार का नादमय चित्र और ध्वनिमय स्वरूप' कहते हैं। उनके अनुसार यह विश्व की हृत्तन्त्री की झंकार है, जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है। भावाभिव्यक्ति तो अन्य प्रकार से भी होती है जिसे आजकल के अनेक प्रयोगवादी जानते हैं किन्तु शब्द द्वारा भाव-बोध ही भाषा को परमोच्च सौन्दर्य प्रदान करता है। शब्दों का परस्पर संयोग श्रुत से अश्रुत की ओर, बैखरी से मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा

के अचिन्त्य आलोक की ओर कहाँ तक ले जाता है, यह साहित्य की एक अमोघ कसौटी है। अर्थ में शब्द का मर्म निहित होता है और सार्थक शब्दों से ही साहित्य का निर्माण होता है तथा अर्थ में 'सहित' का भाव रहने से साहित्य नाम सार्थक होता है। यों तो शब्दार्थ में अनर्थकारिणी शक्ति भी होती है किन्तु साहित्य की कसौटी वास्तव में उसकी हितकारिता है।

अर्थ भी तो एक ही शब्द के अनेक हो सकते हैं किन्तु वह किस अर्थ का प्रकाशन करता है, यह उसके प्रति अन्य शब्दों के योग पर निर्भर है। वाक्य में शब्दों का यह अटूट सम्बन्ध ही उनकी संगति है। 'मोहन जाता है' वाक्य में 'जाता है' क्रिया से मोहन का सामान्य सम्बन्ध है किन्तु 'मोहन भी जाता है', इस वाक्य में 'जाता है' क्रिया से मोहन का विशेष सम्बन्ध है। इसी प्रकार 'श्याम ने अपनी बात बदल दी', इस वाक्य में 'बदल दी' क्रिया 'श्याम' से सामान्य सम्बन्ध रखती है किन्तु 'श्याम ने तो अपना रंग ही बदल दिया', इस वाक्य में 'बदल दिया' क्रिया ने 'रंग' के योग से एक नया रंग धारण कर लिया और 'बदलना' धातु ने 'रंग' की एक विशेष शक्ति के साथ अर्थ की अभिव्यक्ति करदी। यही शब्दों की 'पारस्परिक संगति' और उनकी 'अर्थ-शक्ति' का सदुपयोग है। यहाँ भी हमें साहित्य-सौन्दर्य का माप-दण्ड दिखायी पड़ जाता है। साहित्य के 'शोभाकर' धर्मों—अलंकारों—की स्थिति भी यहीं व्यक्त होती है।

हाँ, तो जब अनेक शब्द अर्थ की दृष्टि से सुसंगति प्राप्त कर लेते हैं वहीं सौन्दर्य का आविर्भाव हो जाता है। इस सुसंगति में शब्द-चयन एवं अर्थ-गौरव के साथ-साथ भाव-सन्तुलन एवं समता का भी स्थान है।

सौन्दर्य के तीन रूप हैं : (१) निसर्ग-सौन्दर्य, (२) कृत्रिम-सौन्दर्य तथा (६) आध्यात्मिक सौन्दर्य। अन्तिम को दार्शनिक लोग सौन्दर्य की चरमावस्था कहते हैं। साधनावस्था में वह भी मिश्रित हो सकता है किन्तु उसकी परिणति विशुद्ध सौन्दर्य में होती है। वहाँ सम्बन्ध-भावना का विगलन हो जाने से चेतन का चरमोत्कृष्ट रूप में विस्फुरण होता है। निसर्ग-सौन्दर्य जिस प्रकार विधाता की कृति में प्रतीत होता है, उसी प्रकार मानव-कृति में कृत्रिम-सौन्दर्य की प्रतीति होती है। साहित्यिक सौन्दर्य का सम्बन्ध मानव-कृति से है। फिर भी इसमें तीनों प्रकार के सौन्दर्य का समन्वय रहता है। साहित्य प्रकृति से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं कर सकता। प्राचीनतम से लेकर अर्वाचीनतम साहित्य इसका साक्षी है। मनुष्य के जीवन से प्रकृति का सम्बन्ध अटूट होने से उसका सम्बन्ध साहित्य से भी अटूट है। दृश्य काव्य में प्रकृति की माधुरी को समक्ष उतरना ही पड़ता है किन्तु श्रव्य काव्य में भी उसके स्वाभाविक शब्द-चित्र हृदय को लुभाते हैं। मानव-कृति अपने विपुल स्पन्दनों से साहित्य में चरित्र एवं नैतिकता

के आदर्श की प्रतिष्ठा करती है। रूपकों में तो वह हमारे लोचनों का ही विषय बन जाती है। साहित्य में इनकी गणना विभावादि में होती है। आध्यात्मिक सौन्दर्य रूपात्मक सौन्दर्य से, आश्रय के सम्बन्ध से, भिन्न होता हुआ भी अनुभूति में अभिन्न होता है। विभावादि के संयोग से जब कोई भाव रसनीयता को प्राप्त हो जाता है तो, वह भी ब्रह्मानन्द सहोदर होकर अध्यात्म-लोक में प्रतिष्ठित हो जाता है।

इस प्रकार साहित्य-सौन्दर्य का सम्बन्ध उसके दोनों पक्षों से है—बाह्यपक्ष या कलापक्ष से तथा अन्तःपक्ष या भाव-पक्ष से। दोनों पक्षों की सन्तुलित समता ही वास्तविक सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व कर सकती है। सौन्दर्य की प्रतिष्ठा में केवल भाषा और शैली ही बस नहीं है, भावों का योग भी अनिवार्य है। इन दोनों के सम्बन्ध से भारत के साहित्य-मनीषियों ने अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिया जिनमें प्रमुख हैं—(१) रससम्प्रदाय, (२) ध्वनिसम्प्रदाय, (३) वक्रोक्तिसम्प्रदाय (४) अलंकारसम्प्रदाय, (५) रीतिसम्प्रदाय और (६) औचित्यसम्प्रदाय।

(१) रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक भरत मुनि थे। इस मत के समर्थकों में मम्मट और विश्वनाथ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस सम्प्रदाय में रस काव्य (साहित्य) की आत्मा माना गया है।

(२) दूसरा मत ध्वनि सम्प्रदाय वालों का है। इस मत के मूल प्रवर्तक का नाम अज्ञात है। आनन्दवर्धन इसके प्रमुख समर्थक थे। इस सम्प्रदाय वालों ने ध्वनि का महत्त्व प्रतिष्ठित करके उसी को काव्य की आत्मा बतलाया है। ये लोग ध्वनिप्रधान काव्य को उत्तम काव्य मानते हैं। ध्वनिप्रधान काव्य के उदाहरण में हम सूरदास का यह पद दे सकते हैं—

ऊधो जाहु तुम्हें हम जाने।

×　×　×

सूर स्याम जब तुमहिं पठायो तब नेकहु मुसकाने।।

जिस काव्य में ध्वनि गौण हो जाती है वह मध्यम कोटि का काव्य होता है जैसे,

भू पर तुरत लेट जाती हूँ,
पवन छेड़ ज्योंही करता।

अधम काव्य वह होता है जिसमें ध्वनि होती ही नहीं। चित्रकाव्य की गणना अधम काव्य के अन्तर्गत ही होती है।

(३) तीसरा प्रसिद्ध मत कुन्तकाचार्य का है जिन्होंने वक्रोक्ति सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। काव्य और श्लेष के नाम से रुद्रट ने वक्रोक्ति के दो भेद किये, यद्यपि इनसे भी पहले इसका विवेचन भामह और दंडी कर चुके थे। रुद्रट के

अनुसार वचनालंकृति ही वक्रोक्ति है। भामह ने लोक-वचन के अतिक्रमण को ही वक्रोक्ति संज्ञा प्रदान की है। दंडी ने समस्त काव्य को ही वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति के भेद से दो वर्गों में बाँट दिया है। इस मत के प्रवर्तक आचार्य कुंतक या कुंतल ने कहा—'जिस उक्ति में लोक और शास्त्र में प्रचलित अर्थ से विशिष्ट मार्ग ग्रहण किया जाये उसे वक्रोक्ति कहते हैं। उन्होंने 'वक्रोक्ति काव्य-जीवितम्' कह कर वक्रोक्ति को ही काव्य-प्राण के रूप में प्रतिष्ठित किया परन्तु कुंतक इस प्रकार की उक्ति को वक्रोक्ति कहने में शायद संकोच करते—

इत आवत चलि जात उत, चली छै सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरन सी रहै, लगी उसासन साथ॥

साथ ही इस दोहा को देखकर वे इसे शायद कविता कह कर पुलकित हो जाते—

ललन चलन सुनि पलन में अँसुवा झलके आय।
भई लखाई सखिन हू, झूँठे ही जमुहाय॥

(४) अन्य प्रसिद्ध सम्प्रदाय अलंकार सम्प्रदाय है। भामह, दंडी, रुद्रट, केशव आदि इसके समर्थक हैं। डा० श्यामसुन्दरदास के मत से अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थायी धर्म हैं। उनके बिना भी कविता हो सकती है जैसे,

वह आता,
मग में जाता,
दो टूक कलेजे के करता, पछताता,
पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दानों को, भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली का,
फैलाता।
वह आता।

'निराला की यह रचना अलंकारविहीन अवश्य है किन्तु क्या काव्य नहीं है ?' इससे कुछ विद्वानों का मत है कि अलंकार काव्य-सर्वस्व नहीं हैं किन्तु उनसे काव्य की शोभा बढ़ सकती है। कवि पंत अलंकारों के बड़े समर्थक हैं। उनके मत में—"अलंकार वाणी के आचार, विचार, व्यवहार और नीति हैं। पृथक्-पृथक् स्थितियों के पृथक्-पृथक् स्वरूप और भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न चित्र हैं। ये वाणी के हास, अश्रु, पुलक, स्वप्न और हाव-भाव हैं। संगीत में जो स्थान नाद का है काव्य में वही स्थान अलंकार का है। दोष वहाँ आ जाता है जहाँ ये वर्णन के माध्यम न रह कर स्वयं वर्ण्य हो जाते हैं।"

(५) पाँचवाँ मत वामनाचार्य का है जो रीतिसम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। विशिष्ट पद-रचना का नाम रीति है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कह कर वामन ने रीति के महत्त्व को अंकित किया है। रीतियों का विधान गुणों के सम्बन्ध से होता है। प्रमुख गुण ओज, माधुर्य और प्रसाद, ये तीन ही माने गये हैं। यद्यपि गुणों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है किन्तु समस्त गुण इन्हीं तीनों में समाहित हो जाते हैं। इस सम्प्रदाय में गौड़ी, वैदर्भी और पांचाली, ये तीन रीतियाँ तथा परुषा, मधुरा और कोमला, ये तीन वृत्तियाँ प्रशस्त हैं।

(६) छठे मत के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं जिन्होंने औचित्य सम्प्रदाय चलाया था। आचार्य क्षेमेन्द्र का कहना है कि यदि रस काव्य की आत्मा है तो औचित्य जीवन-रूप है। आत्मा और जीवन दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। जिस प्रकार जीवन में यौवन के स्थायित्व के लिए पारद-रस की आवश्यकता है उसी प्रकार काव्य की आत्मा रस होते हुए भी उसके स्थायित्व के लिए औचित्य की आवश्यकता है। औचित्य के समावेश के बिना रस-चर्वणा बाधित होती है। साधारणीकरण की प्रक्रिया में औचित्य का बड़ा भारी हाथ है।

इन सब सम्प्रदायों में रस-सम्प्रदाय ही सर्वाधिक मान्य है। रस काव्य की आत्मा है। रस शरीरी है और गुण, अलंकार, उक्ति, रीति आदि उसके शरीर हैं। जो सम्बन्ध शरीर और शरीरी का है वही रस, रीति, उक्ति आदि का है। रससम्प्रदाय अभिव्यक्ति-पक्ष के मूल्य को स्वीकार करता हुआ भी अनुभूति-पक्ष को विशेष महत्त्व देता है। इसके विपरीत अन्य सम्प्रदाय अनुभूति पक्ष को स्वीकार करते हुए भी अभिव्यक्ति-पक्ष पर अधिक बल देते हैं। वस्तुतः इन दोनों का समन्वय ही अभिप्रेत है। इसी में साहित्य का सौन्दर्य निहित है।

क्रोचे ने साहित्य सौन्दर्य को भावना की अखण्ड अभिव्यक्ति कहा है। उसके अनुसार सौन्दर्य मूल रूप में अखण्ड है। उसके अनेक उपकरण हैं जो बाह्य होने के कारण अखण्ड में खण्ड की प्रतीति कराते हैं। आचार्य कुंतक भी सौन्दर्य को पूर्ण मानते हैं क्योंकि उसकी अनुभूति का आधार हृदय है। हृदय के समग्र गहन भाव-सागर में भावातिरेक ही सौन्दर्य है। उसका प्रभाव सम्पूर्ण हृदय पर होता है। कुंतक ने सौन्दर्य के दो भेद किये हैं : (१) सौभाग्य और (२) लावण्य। इन्हीं को हम विषय-प्रधान और विषयी-प्रधान भी कह सकते हैं।

यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि सौन्दर्य का सम्बन्ध 'सत् और चित्' से है। साहित्य भी सौन्दर्य को सत् और चित् से विरहित करके ग्रहण नहीं करता है। चित् और अचित् का मौलिक अन्तर इस बात में है कि एक कार्य और अकार्य में भेद करके देखता है और दूसरे के लिए उनमें कोई भेद

नहीं होता। कार्य का सम्बन्ध शिव या मंगल से है और अकार्य का अशिव से। चेतन की सृष्टि में अशिव का समावेश अनुचित है। इस विचार को लेकर कुछ विद्वान् साहित्य-सौन्दर्य का मापदण्ड सत्य और शिव से उसके सम्बन्ध के आधार पर करते हैं।

सत्य, शिव और सुन्दर त्रिमूर्ति हैं। समाज में प्रतिष्ठित होकर सत्य शिव बनता है और सुन्दर उन दोनों में ही अपने को अभिव्यक्त करता है प्राचीनों ने वाणी में प्रिययुक्त सत्य की ही व्यवस्था की थी और सौन्दर्य का यही मापदण्ड स्थिर करके उन्होंने 'अप्रियं सत्यं मा ब्रूयात्' का आदेश दिया था।

भारतीय समीक्षकों ने सौन्दर्य को आह्लादकारिणी मूल प्रेरणा-शक्ति माना है। गीता में योगिराज कृष्ण ने वाणी के तप का वर्णन करते हुए कहा है—'अनुद्वेगकरं, सत्यं, प्रियं तथा हितं' भाव के सम्मिश्रण के आधार पर ही वाणी का तप सम्भव है। अरस्तू ने साहित्य में जिस सत्य, शिव और सुन्दर की प्रतिष्ठा की थी उसे भारतीय मनीषियों ने श्रेय और प्रेय में पहले से ही प्रतिष्ठित कर रखा था। फिर भी साहित्य की दिशाओं में ग्रीक विद्वान् का एक नूतन पद-प्रक्षेप तो था ही, चाहे वह व्याख्यात्मक ही सही।

भारतीयों ने सौन्दर्य को प्रिय, आकर्षक और कटुता से दूर, माधुर्ययुक्त माना है। यहाँ सौन्दर्य की व्याख्या का एक विकास-क्रम मिलता है। भरत-मुनि ने सौन्दर्य को विभावों के अन्तर्गत ही सम्मिलित कर लिया था। यदि उदात्त भाव से देखें तो वस्तुतः विभावों के अन्तर्गत अखिल सौन्दर्य निहित है। रूप और रस, दोनों को सौन्दर्य का द्योतक कहकर प्रधानता रस को दी गयी। इस प्रकार आनन्द भाव सौन्दर्य का मापदण्ड बना। रस-सूत्र के अन्य व्याख्या-कारों ने भी आनन्द को ही साहित्य-सौन्दर्य का प्रमुख मापदण्ड माना है। अतएव जो साहित्य पाठक को तन्मय कर दे वही सुन्दर है।

साहित्य व्यक्ति और समाज के हित का साधक भी है। समाज के निर्माता और व्यक्तिगत उन्नति के प्रेरक के रूप में साहित्य शिव-तत्त्व को धारण करता है। वह समाज के व्यक्तियों के लिए ऐसा पथ प्रदर्शित करता है जिस पर चलकर वे एकस्थ हो सकें।

साहित्य जिस शिव की प्रतिष्ठा करता है वह क्षणिक या भंगुर नहीं है। उसमें मानव का अक्षय कल्याण निहित होता है जो सत्य पर आधारित होता है। जो चिरशाश्वत है वही साहित्य का सत्य है। वह संभावनाओं का पोषक होता है। ऐसी बात नहीं है कि वह ऐतिहासिक या वैज्ञानिक तथ्य हो। होरी कोई ऐतिहासिक व्यक्ति था, ऐसी बात नहीं है किन्तु ऐसा व्यक्ति इस समाज में

मिल सकता है। यही संभाव्य सत्य है। साहित्य इसको नहीं छोड़ता। होरी की परिस्थितियाँ जिस वातावरण से निर्मित हैं वे इसी लोक की परिस्थितयाँ हैं। ऐसी परिस्थितियों को लेकर अनुभूति के आधार पर कुशल साहित्यकार की कल्पना किसी पात्र को जन्म दे सकती हैं, जो पाठकों के अनुभूति-लोक में सत्य प्रतीत होता है। जिस कृति में सम्भावना का स्पर्श नहीं है वह सत्य से दूर होने के कारण पाठकों की संस्कार-संगति में नहीं बैठ सकती और ऐसी रचना का मस्तिष्क और हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता है।

साहित्य की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती मानी गयी है। उसका सम्बन्ध हंस, पुस्तक और वीणा से जोड़कर प्रतीक रूप में साहित्य में सत्य, शिव और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की गयी है।

जो वस्तु हमारे लिए रोचक होती है वह सुन्दर होती है, यह तो ठीक ही है किन्तु जिसमें समाज की रुचि होती है कवि अपनी अनुभूति को वही रूप दे देता है। अतएव समाज-रुचि काव्य या साहित्य की प्रेरक है। रुचि से तात्पर्य सुरुचि से है, कुरुचि से नहीं है। इस प्रकार समाज-रुचि में कवि या साहित्यकार की हितैषणा भी निहित रहती है। इसीलिए कहा गया है—

अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथस्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते॥

कुछ पाश्चात्य साहित्यिकों ने सत्य और सौन्दर्य का अभेद बतलाया है। कीट्स ने 'Beauty is truth, truth beauty that is all ye know on earth and all ye need to know' कह कर इसी मत को प्रस्तुत किया है। यह ठीक है कि दोनों में अभेद होता है किन्तु कीट्स के इस वाक्य में रागात्मक तत्त्व की उपेक्षा दीख पड़ती है।

स्पिन्गार्न का कहना है कि "सौन्दर्य की प्रभावान्विति को नैतिक या अनैतिक कहना उसी प्रकार अर्थहीन है जिस प्रकार त्रिभुज के किसी कोण को × × कहना।"

रस्किन ने सौन्दर्य के साथ उसकी अनुभूति का भी समावेश किया है। उसका कहना है कि सौन्दर्य की खंडाखंडता पर विचार न करके आनन्दभाव के आधार पर उसके मूल रूप का विवेचन करना चाहिये। उसने सौन्दर्य के दो भेद किये हैं—(१) सैद्धान्तिक और (२) व्यावहारिक। सैद्धान्तिक सौन्दर्य निरा सौन्दर्य होता है। इसकी गणना पशुवृत्ति के सौन्दर्य के अन्तर्गत होती है। यह सौन्दर्य केवल अनुभूतिजन्य होता है। इसकी अनुभूति पशुओं को भी होती है। दूसरे प्रकार का सौन्दर्य व्यावहारिक होता है। कल्पना बुद्धि (चिन्तन) और भावना इसके तीन तत्त्व हैं। इन्हीं तीनों तत्त्वों को रस्किन ने साहित्य-सौन्दर्य का

मापदण्ड बतलाया है। उनका कहना है कि काव्य-बिम्ब को पाठक अपनी बुद्धि के सद्भावों के माध्यम से ही ग्रहण कर सकता है और तभी वह द्रवीभूत होकर सौन्दर्यानुभूति में अपने अहं का निगलन करके आनन्द प्राप्त कर सकता है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि सौन्दर्य का मापदण्ड उसका सौन्दर्य भाव ही है। ब्रेडले, स्पिन्गार्न आदि विद्वानों के साथ क्रोचे भी इसी मत का समर्थक है। अभिव्यंजना-सौन्दर्य पर प्रकाश डालते हुए क्रोचे ने कहा है कि "चित्त की तन्मय स्थिति में कवि के जो उद्गार निकलते हैं वे निश्चित रूप से सुन्दर होते हैं और उन्हीं में सफल अभिव्यंजना निहित है।" वह काव्य में सत्य और शिव का विरोध करता हुआ कहता है—"काव्य का क्षेत्र देश, काल या नीति के बंधनों से आबद्ध नहीं है। सत्य विज्ञान है, शिव का क्षेत्र आचार-शास्त्र है और सौन्दर्य का क्षेत्र सौन्दर्य-शास्त्र है। सौन्दर्य ही साहित्य के सबसे अधिक निकट है क्योंकि साहित्य 'कटु' को लेकर नहीं चलता किन्तु सत्य की अनुभूति कटु भी हो सकती है। इसी प्रकार आचार-शास्त्र की मूलाधार शिला न्याय है। इसमें सद्भाव ही होता है किन्तु साहित्य में न्याय का उतना कठोर बन्धन नहीं है।

इस प्रकार क्रोचे साहित्य को सत्य और शिव के क्षेत्रों से निकालकर सुन्दर में ही प्रतिष्ठित करता है। हृदयाकर्षण या रोचकता सुन्दर का आवश्यक तत्त्व है। अतएव क्रोचे के अनुसार साहित्य-सौन्दर्य का मापदण्ड सत्य और शिव न होकर सौन्दर्य तत्त्व ही है।

पाश्चात्य समीक्षकों में सिडनी और ड्राइडेन के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन दोनों ने साहित्य-सौन्दर्य के अन्तर्गत लोकादर्श की चर्चा भी की है। सिडनी नीति और आनन्द को साहित्य के मूल तत्त्व मानता है। ड्राइडेन ने साहित्य में नीति तत्त्व की प्रधानता का विरोध किया है। उसने कहा है कि "नीति या उपदेश का सम्बन्ध बुद्धि से है और साहित्य का सम्बन्ध भाव-प्राधान्य से। अतएव नीति-तत्त्व की प्रधानता साहित्य में नहीं होनी चाहिये।"

सत्य के विरोध में कुछ विद्वानों का कहना है कि साहित्य का आधार सत्यमात्र नहीं होता। उसमें कल्पना का भी योग होता है। साहित्यकार की अपेशल अनुभूतियाँ कल्पना से ही सजती हैं। पीछे जिस समता और सापेक्षता का उल्लेख किया गया है, उन दोनों की रक्षा कल्पना द्वारा ही होती है। उदाहरण के रूप में कामायनी को ले सकते हैं। कामायनी की सौन्दर्य-सृष्टि में कल्पना-तत्त्व प्रमुख है। यह ठीक है कि वहाँ कल्पना अनुभूति का पल्ला छोड़कर नहीं भागी, इसीलिए सत्य भी सुरक्षित है। कामायनी के रूप-वर्णन में कल्पना का विलास देखिये :—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग॥

× × ×

या कि, नव इन्द्र नील लघुश्रृंग
फोड़ कर धधक रही हो कान्त।
एक लघु ज्वालामुखी अचेत,
माधवी रजनी में अश्रान्त॥

कामायनी में ऐसी अनेक पंक्तियों का प्राचुर्य है। एक अन्य पद में श्रद्धा के प्रश्न में कल्पना के माधुर्य को देखिये—

कौन तुम ? संसृति-जलनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक।
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक ?

जब चिन्तन और अनुभूति कल्पना का साथ छोड़ देते हैं तो अभिव्यक्ति निराधार हो जाती है। उसमें सन्तुलन, सापेक्ष्य आदि तत्त्वों का ह्रास हो जाने से उसकी उत्तमता बाधित हो जाती है और उसकी गणना ऊहोक्तियों में होने लगती है। अधिकांश रीतिकालीन कृतियों की यही दशा हुई।

कल्पना की विशेषता इसी में है कि उसका स्पर्श अनुभूति की गहराई तक व्याप्त हो। इसका एक चित्र महादेवी की विरहानुभूति में टँका हुआ मिलता है—

"विरह का जलजात जीवन,
विरह का जलजात॥"

पंत के ये शब्द—"वियोगी होगा पहला कवि × × ×"—भी कल्पना की इसी विशेषता में सौन्दर्य का परिचय देते हैं।

कल्पना की विशेषताएँ ये हैं: वह विरोधी भावों में एकता स्थापित करती है। इससे साहित्य में भावनाओं का द्वन्द्वात्मक समावेश नहीं होता इससे साहित्य के अखंड सौन्दर्य की क्षति नहीं होने पाती। इसके अतिरिक्त कल्पना चेतन की क्रिया है। इसके कारण स्थूल पदार्थ नूतन सौन्दर्य के स्थायी कलेवर के साथ साहित्य में आता है।[1] वह सदसत् के बीच की एक अद्भुत कड़ी है जो

[1] It was itself but it became different and it assumed a form.

अमूर्त को मूर्त और असंभव को संभव करके दिखलाती है। वैसे कल्पना कलामात्र के लिए अनिवार्य है किन्तु साहित्य के लिए तो यह चेतना का अमोघ वरदान है। वह साकार स्वप्न-लोक की निराकार देवी है, फिर भी निराकार ब्रह्म की भाँति अपने मायालोक से अपने उपासकों की मानसिक तुष्टि-पुष्टि करती है। 'उच्छ्‌वास' की बालिका ने केवल पंत को ही मुग्ध नहीं किया अपितु अपने काल्पनिक सहज सौन्दर्य से पाठकों को भी लुभा लिया है—

सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन।
कान से मिले अजान नयन,
सहज था सजा सजीला तन।
सुरीले ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका गान॥

साहित्यकार की कल्पना असंभव में विहार कर सकती है, किन्तु बुद्धि के धरातल से सम्बन्ध विच्छिन्न करके नहीं। इसलिए कविवर दिनकर कल्पना की प्रशंसा करते हुए भी उससे भूतल पर उतर आने के लिए मनुहार करते हैं—

व्योम-कुंजों की परी अयि कल्पने।
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं।
व्योम-कुंजों की सखी अयि कल्पने।
आ उतर हँस ले ज़रा वन-फूल में॥

कल्पना के सम्बन्ध से साहित्य अभाव की पूर्ति करने में भी समर्थ होता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् एडलर का यह कहना ठीक ही है कि 'हम जीवन के किसी भी अभाव या क्षति की पूर्ति कल्पना या साहित्य के द्वारा कर लेते हैं।' क्षति-पूर्ति सुन्दरता की द्योतक है। अभाव का निवारण भाव या आनन्द की प्रतिष्ठा करता है। अतएव साहित्य-सौन्दर्य में कल्पना का प्रमुख स्थान है। अनेक अवसरों पर जीवन में हीनता की भावना उत्पन्न हो जाती है। जब वह प्रभुत्व की कामना को प्रेरित करती है तो साहित्य का आविर्भाव होता है। यह कामना जितनी उत्कट और उत्कृष्ट होती है साहित्य भी उतना ही उच्च एवं उत्कृष्ट होता है।

कुछ विद्वान् साहित्य की प्रेरणा या उसके प्रयोजन के मूल में सौन्दर्य की गवेषणा करते हैं। किसी ने वासना को साहित्य का प्रेरक माना है और किसी ने प्रभुत्व-कामना को। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् कार्ल युंग ने दोनों के समन्वय को साहित्य का प्रेरक माना है। इसी प्रकार कुछ विद्वान् साहित्य का मर्म प्रयोजन से मापते हैं। मम्मटाचार्य ने यश, धन, व्यवहारकुशलता, कल्याण, उपदेश और

अमंगल से रक्षा, इन छः प्रयोजनों को साहित्य-प्रेरणा के रूप में समाविष्ट किया है। पौरस्त्य और पाश्चात्य मतों का समन्वित सार प्रस्तुत करते हुए हम कह सकते हैं कि मनोरंजन, धार्मिक, नैतिक और साहसिक प्रेरणा, शोकार्त को सान्त्वना तथा उद्विग्न को शान्ति साहित्य के मूल प्रयोजन हैं।

प्रसाद का कहना है कि "इस लोक में वस्तु के दो पक्ष देखने में आते हैं, भाव और अभाव। वे दोनों भिन्न प्रभाव वाले होते हैं। सत्य का अभाव असत्य है, शिव या मंगल का अभाव अमंगल है और प्रकाश का अभाव अंधकार है, किन्तु सुन्दर का अभाव असुन्दर नहीं है अर्थात् सौन्दर्य-भाव का कोई निषेधात्मक (negative) भाव नहीं है।" इसलिए सौन्दर्य का मापदण्ड सौन्दर्येतर नहीं हो सकता।

प्रसाद ने सौन्दर्य के मूल में समरसता को देखा है। जीवन में समरसता के आने पर ही सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। यही भावात्मक सौन्दर्य है। शुद्ध भावात्मक सौन्दर्य के साक्षात्कार में वैषम्य बाधक सिद्ध होता है। इसी भाव को लेकर उन्होंने कहा है—

समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखंड घना था॥

साहित्य हमें राग-द्वेष से उन्मुक्त कर 'समरस' भूमि पर प्रतिष्ठित कर देता है। प्रसाद के अनुसार यही सुन्दरता है और यही आनन्द है। यही आत्म-विस्तार की अवस्था है। विरोधी भाव होने पर आत्मविस्तार असंभव हो जाता है। जहाँ विरोध होगा वहाँ संकीर्णता होगी। विरोध में दुख निहित रहता है और दुख की अनुभूति के साथ आकर्षण या सौन्दर्य की भावना भी लुप्त रहती है। इसी आशय को कामायनी के इन शब्दों से प्राप्त कर सकते हैं—

अकेले तुम कैसे असहाय
भजन कर सकते तुच्छ विचार।
तपस्वी आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्मविस्तार॥

कुछ विद्वानों ने तो साहित्य का प्रयोजन विरोध मिटाना माना है। उनका कहना है कि साहित्य विरोधात्मक तत्त्वों को एकत्र कर उनमें एकसूत्रता तथा सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। संभवतः इसी बात को ध्यान में रखकर हडसन ने (१) आत्माभिव्यक्ति की कामना, (२) मनुष्य के जीवन

व कार्यों के प्रति हमारा लगाव, (३) यथार्थ जगत् के प्रति हमारा आकर्षण व कल्पना लोक का निर्माण, तथा (४) रूप-विधान की कामना, इन चार को साहित्य की प्रेरक प्रवृत्तियाँ माना है। यह सम्बन्ध की भावना ही अविरोध की भावना है।

इस सम्बन्ध में अज्ञेय का एक भिन्न दर्शन है। उनके अनुसार साहित्य सौन्दर्य का मापदण्ड जीवन और उसकी परिस्थितियाँ हैं जिनको डा० रामकुमार वर्मा ने 'समस्या' कहा है।

निराला का 'सौन्दर्य' यथार्थ के क्षेत्र का है। यद्यपि 'राम की शक्ति-पूजा' में उन्होंने भावनात्मक अविरोध में सौन्दर्य की खोज की है किन्तु 'तुलसीदास' सांस्कृतिक उद्‌बोधन का प्रतीक है। कला की दृष्टि से भी एक से दूसरे में विकास है। यह 'विकास' ही कदाचित् साहित्य-सौन्दर्य का मापदण्ड है। 'चल रहा लकुटिया टेक' और 'सड़क पर पत्थर तोड़ने वाली' का मार्मिक चित्रण भी इस विकास की ओर संकेत करता है।

पंत ने पहले लोक जीवन को छोड़कर प्रकृति से अपना सम्बन्ध जोड़ा और उसी के सुकुमार चित्रण में उन्होंने अपने हृदय की कोमल भावनाओं को उँडेल दिया। उसी ने साहित्य-सौन्दर्य का रूप ग्रहण किया। बहुत दिनों तक वे भटकते रहे और उन्माद में ऐसा भी कहते रहे—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।

बाह्य माधुरी में पंत का कवि-हृदय अधिक समय तक रमण न कर सका। भ्रान्त पथिक की भाँति जीवन की संध्या ने उन्हें लोक-जीवन की ओर मोड़ दिया। उन्होंने अपने अन्तर और बाहर का समन्वय किया जिससे लोक-सेवा का आदर्श आविर्भूत हुआ। प्रणय और लावण्य उनके मूल स्वर रहते हुए भी लोक-सेवा में उन्होंने अविकार शिव को खोज निकाला—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य स्वरूप
लोक-सेवा में शिव अविकार॥

और उन्होंने सत्य को हृदय, लोचन और लोक-सेवा से सम्बन्धित करके क्रमशः प्रणय, लावण्य और शिव की प्रतिष्ठा की। इन पंक्तियों से न केवल यह स्पष्ट है कि पंत सुन्दर का सम्बन्ध सत्य और शिव से मानते हैं, वरन् यह भी स्पष्ट है कि जिसको 'सुन्दर' कहा जाता है वह केवल लोचनों का विषय ही नहीं है अपितु उसका धरातल वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार का है। व्यक्तिगत धरातल

पर उसका आविर्भाव बुद्धि और हृदय में होता है और सामाजिक धरातल पर लोक-कल्याण में। इस प्रकार पन्त के अनुसार साहित्य-सौन्दर्य के मापदण्ड प्रज्ञा, सत्य, प्रणय तथा शिव हैं। इनका समन्वित रूप ही वास्तविक सौन्दर्य है। इसमें कला-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों की प्रतिष्ठा है।

प्रसंगवश यह कह देना अनुचित न होगा कि कुछ दिनों से 'कला कला के लिए' की आवाज बड़ी दृढ़ता से उठ रही है। मूलत: यह आवाज़ पश्चिम से उठी और आज इसने यहाँ भी अपना घर बना लिया है। पश्चिम में काव्य को कला माना गया है, अतएव वहाँ जो कला के प्रयोजन हैं वही काव्य या साहित्य के प्रयोजन भी हैं। 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त में गुण होते हुए भी वह दोषमुक्त नहीं है। इस का आदर्श तो उच्च है किन्तु इसका बहुत दुरुपयोग हुआ है। इसके अनुसार कला पूर्ण, निरपेक्ष एवं तटस्थ है। इसके समर्थकों का कहना है कि "विधि-निषेध से परे प्रत्येक वस्तु का अपना एक अलग क्षेत्र होता है जिसमें वह पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। जब सौन्दर्य, विज्ञान, गणित, दर्शन आदि का माप-दण्ड नहीं तो नीति, धर्म, आचार आदि का अंकुश कला क्यों स्वीकार करे? कला किसी भी प्रकार के प्रयोजन से परे है। किसी भी प्रकार के आर्थिक या नैतिक मूल्यों से उसका मूल्यांकन करना उसके प्रति अन्याय करना है। साहित्य से परे किसी भी वस्तु को उसका नियामक कहना उसके स्वायत्तशासन में बाधा डालना है। यदि उसका कोई प्रयोजन है तो इतना भर कि वह केवल सहृदयों में आनन्द का संचार करती रहे।"

"भावनाओं की यथातथ्य अभिव्यक्ति हो तो हुआ करे, अभिव्यक्ति में कोई भी बाधा क्यों आये! यदि अनुभूतियों की नग्न अभिव्यंजना हो तो बुराई भी क्या है? हाँ, वे सुन्दरता में अवतीर्ण हों, कलाकार के लिए यही बस है। सुन्दरता ही कला की उपयोगिता है और सुन्दरता ही कला का माप-दण्ड है।" इस प्रकार कलावादी कला या साहित्य में किसी प्रयोजन को प्रामुख्य न देता हुआ विश्व का भी बहिष्कार कर देता है। वह तो साहित्य का लक्ष्य 'सुन्दरता' को मानता है।

अब प्रश्न यह है कि क्या कला का प्रयोजन कलाकार का ही आनन्द है? इसका उत्तर 'है' में नहीं है। यह ठीक है कि साहित्यकार भी आनन्द की लहरों में मन को विभोर करने के लिए—नाचने, गाने और ताली बजाने के लिए साहित्य की सृष्टि करता है परन्तु वह जीवन से अलग होकर नहीं गाता है। साथ ही वह जीवन के ही गीत गाता है। वह समाज के स्वर से गाता है, नाचता है लोक के धरातल पर और ताली बजाता है सुख-दुख, जीवन के दोनों करों से। इससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि 'कला कला के लिए' के साथ-साथ

ही जीवन के लिए भी है। दोनों सिद्धान्तों की समन्विति में ही कला की पूर्णता सुरक्षित रह सकती है।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कला का उदय और विकास जीवन से सम्बन्ध रखता है और कला जीवन की व्याख्या कर जीवन को प्रतिबिम्बित कर या उसका अनुकरण कर उसे गति और शक्ति देती है। कला से जो व्यावहारिकता आती है उसका जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है। वह जीवन में प्राण फूंकती है। अतएव जीवन कला का साध्य बनता है, साधन नहीं। साहित्य हमारी मति, धृति और कृति को प्रेरित करता है। जिसको उच्च साहित्य कहते हैं वह जीवन के किसी लक्ष्य की ओर संकेत करता है। साहित्य में जीवन-पथ की समस्याओं का हल बड़ी सरसता से प्रस्तुत किया जाता है। जीवन से सहानुभूति रखना साहित्य का मर्म है। उससे सहानुभूति रखकर ही वह उसे शक्ति दे सकता है और तभी वह उसे पूर्णता की ओर ले जाने का प्रयत्न कर सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जीवन के अभावों का निवारण करता हुआ साहित्य भावों की तुष्टि-पुष्टि करके जीवन का सहचर बना रहता है।

भारत में सैद्धान्तिक पक्ष से अधिक कला के व्यावहारिक पक्ष पर जोर दिया गया है। कला के विषय जीवन और समाज हैं। 'स्वान्तः सुखाय' की भावना विषय-निर्वाचन अथवा शैली-प्रतिपादन तक तो ठीक है किन्तु इससे परे वह अपनी ही क्षति करती है। कला केवल सत्य तक ही नहीं पहुँचती, वरन् शिवमय सत्य तक उसकी पहुँच है। कला का यही लक्ष्य उसमें आदर्श की भी प्रतिष्ठा करता है। यह ठीक है कि कला सौन्दर्य की धात्री है, किन्तु कला-सौन्दर्य अपने को केवल यथार्थ में ही नहीं खो सकता। यथार्थ में उलझ कर कला जीवन के निर्माण में, उसके कल्याण में, विशेष योग नहीं दे सकती। यथार्थ और आदर्श का समन्वय ही श्रेष्ठ कला का आधार बनता है। दैनिक सत्य भी आदर्श-मंडित होकर कला का रूप धारण करता है।

इसी भाव का समर्थन श्री मैथिलीशरण ने इस प्रकार किया है—

'जो रहा है जो जहाँ सो हो रहा।
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु कहना चाहिए कब क्या कहाँ ?
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ ॥'

यह ठीक है कि तुलसीदास ने 'स्वान्तः सुखाय' को महत्त्व दिया, परन्तु केवल यश व अर्थ के परे, नीति एवं मर्यादा उसमें अवश्य निहित हैं। इनमें अन्तःकरण का सुख भी मिल सकता है। श्रेय और प्रेय नामतः भिन्न होते हुए भी परिणामतः अभिन्न हैं। यदि 'स्वान्तः सुखाय' का मूल्यांकन विकृत अन्तःकरण के

सम्बन्ध से किया जाये तो परिणाम भयंकर हो सकता है। अपने विकृत रूप में 'स्वान्तः सुखाय' की परिणति स्वेच्छाचारिता में होने से कला का नीति से विच्छेद भी हो सकता है। वहीं कला में समाज की अवहेलना प्रकट होती है। तुलसीदास कलावादी नहीं थे, वे तो लोक-मंगल की भावना से प्रेरित थे, अतएव 'हितवादी' थे। वे समाज में जिस कल्याण की अवतारणा चाहते थे उसकी प्रतिष्ठा उन्होंने अपने साहित्य में की। अतएव वे साहित्य को उपयोग से पृथक नहीं करना चाहते थे। उनके इन शब्दों से भी यही व्यक्त होता है—

भूषन भनिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

निःसन्देह कलाकार वही है जो अपनी विशेष अनुभूतियों तथा भावनाओं को अपने आनन्द के साथ दूसरों के हित के लिए भी व्यक्त करे। कला का क्षेत्र केवल सौन्दर्य ही नहीं, मंगल भी है। स्व एवं पर-मंगल अविच्छिन्न हैं। पर-मंगल के लिए 'स्व' को संकुचित करना ही पड़ता है। साहित्य 'स्वान्तः सुखाय' हो किन्तु उससे पाठक या श्रोता की तृप्ति हो। इस प्रकार कला का सुन्दर 'सत्य-शिव' विहित है। जो (सत्य) लोचनों का अनुपम लावण्य है वही लोकसेवा का अविकार 'शिव' है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल भी मनोरंजनमयी, कला को शिव-विहित मानते हैं। उनके मत से 'कला का लक्ष्य एकमात्र मनोरंजन ही नहीं है। यदि ऐसा हो तो कला एक प्रकार की विलास-सामग्री बन जाये।' कला और जीवन के अटूट सम्बन्ध का समर्थन श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी किया है—

मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिए
चाहिए पारस्परिकता ही प्रिये!

भारतीय दृष्टिकोण ने कला को कभी भी जीवन से विलग नहीं देखा था। हाँ, विदेशी प्रभाव ने इस दृष्टिकोण को कुछ बदल दिया था। इससे रीतिकाल में कला केवल मनोरंजन की सामग्री बन गयी थी। फिर भी रीतिमुक्त काव्य उक्त प्रभाव से मुक्त था। उसमें पर्याप्त 'प्रेरणा' और 'मंगल' का समावेश था।

आधुनिक हिन्दी साहित्य पर भी पश्चिम का प्रभाव आया किन्तु वह अंग्रेजी के द्वारा आया। अधिकांशतः वह छायावाद तक ही सीमित रहा। उस प्रभाव के कारण छायावाद के कवि एवं उसके समर्थक आचार्य 'कलावादी' बन गये। यहाँ तक कि उनके कलावाद में पलायनवाद तक का प्रभाव हो गया किन्तु इस नये वाद के पोषक जीवन से भागते हुए भी उसको विस्मृत न कर सके।

छायावाद के प्रसिद्ध कवि प्रसाद का दृष्टिकोण 'आँसू' से उमड़ कर 'झरना' और 'लहर' में होता हुआ 'कामायनी' तक पहुँचा किन्तु उसका जीवन से विच्छेद न हो सका। उनके 'आँसू' में भी जीवन-कण दीख पड़े—

चुन ले रे कन कन से
जगती की सजग व्यथाएँ।
रह जायेंगी कहने को
जन-रंजन करी व्यथाएँ॥

जगती का कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
फिर पाप पुण्य हो जावे॥

'आँसू' में लोक-प्रेरणा और पाप को पुण्य में बदलने की भावना निहित है। यही उसका जीवन से सम्बन्ध है। 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' में पलायन की गंध आते हुए भी जीवन से विच्छेद दिखायी नहीं पड़ता।

कला वस्तुतः पलायन की शिक्षा दे ही नहीं सकती। कला आकर्षण प्रदान करती है, और वह जीवन के प्रति। यह ठीक है कि संसार दुख-सुख की विषमताओं से पूर्ण है किन्तु यह बात नहीं कि यहाँ निरन्तर दुख ही दुख हो। दुख के अविरल प्रवाह में भी सुख के विराम आ ही जाते हैं। सुख के क्षण आकर चले जाते हैं किन्तु दुख का डेरा पड़ा हुआ लगता है। सुख की कल्पनामात्र से अभाव की सुकुमार बालिका आकांक्षा जब अतृप्ति का रूप धारण कर लेती है तो मानव विकल हो उठता है और यह लोक उसे विषम और कटु प्रतीत होने लगता है। निराशा उसे जितना पीड़ित करती है वह उतना ही व्यग्र होता चला जाता है। वह यहाँ से मुक्ति चाहता है किन्तु वह है कहाँ ? जीवन का यह कटु सत्य है। कुछ अविवेकी तो इस अवस्था में आत्मघात तक कर लेते हैं। विवेकी लोगों की तो बात ही अलग है। वे दुख-सुख दोनों में समान आचरण करते हैं। सहृदय व्यक्तियों का आचरण भी भिन्न ही होता है। उनकी दबी हुई आकांक्षा कल्पना का आश्रय लेकर उनके साहित्य में फूट निकलती है और वे इस लोक-पीड़ा से मुक्ति के लिए आतुर होकर एक नये लोक की कल्पना करते हैं।

कुछ आलोचक यह कह सकते हैं कि यह दुर्बल मन की साधना है। इससे कलाकार को कितना तोष मिलता होगा, यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता किन्तु व्यक्त होकर, अन्तर से बाहर आकर, अवसाद उनके मानसिक भार को हल्का अवश्य करता होगा।

ऐसे व्यक्तियों की आकांक्षा दुर्दम होकर कला को जन्म देती है, जिसमें

कठोरता और कोमलता का सहज मिलन होता है। क्रूर आघातों के साथ-साथ मर्मांगों का परिचय मिलता है। उग्र और व्यग्र मिलकर इस जीवन की प्रतिमा प्रस्तुत करते हैं। यह ठीक है कि ऐसी कला साहस, धैर्य, तोष, सहिष्णुता आदि स्वस्थ जीवन तत्त्वों को कुंठित कर देती है। असफल प्रेमी ऐसी ही कुंठा में एक नये संसार की कामना करता है और प्यार की सुरक्षा चाहता हुआ कहता है—

चाहता है यह पागल प्यार,
अनोखा एक नया संसार।
जहाँ सपने हों पहरेदार।।

इसमें सन्देह नहीं कि जीवन में कभी-कभी ऐसे क्षण भी आते हैं जिनमें ऐसी कुंठाओं का आविर्भाव हो जाता है। यदि इनको कोई बड़ा व्याघात न मानकर जीवन-सागर की लहरों के रूप में स्वीकार किया जाये तो अवसादमय निर्वेद के स्थान पर स्वप्न और सत्य के सम्बन्ध का प्रादुर्भाव हो जाये। यदि विश्राम शक्ति-संचय के लिए हो, स्वप्न-लोक की सैर मन बहलाने के लिए हो तो साहित्य-साधना उसका तिरस्कार नहीं कर सकती। कला कुरूप तो वहाँ होती है जहाँ जीवन-संगीत से स्वर-विच्छेद हो जाता है। क्षणिक विश्राम की आवश्यकता का निर्देश तो सजग प्रहरी भी करते दिखायी पड़ते हैं। अभिज्ञान शाकुन्तल में कंचुकी के शब्द इसी विश्राम को व्यक्त करते हैं—

पालि प्रजा सन्तान-सम थकित चित्त जब होय।
ढूँढ़त ठाँव इकन्त नृप जहाँ न आवे कोय।।
सब हाथिन गजराज ज्यों लैके बन के माँह।
घाम लग्यो खोजत फिरत, दिन में शीतल छाँह।।

अतएव कला या साहित्य का उद्देश्य जीवन को पीठ दिखा भागना नहीं, वरन् उसमें प्रविष्ट होकर, उसके अन्तरतम में निहित सौन्दर्य को ढूँढ़ कर और हमें उसमें अनुरक्त करके गति देना ही उसका लक्ष्य है। जीवन के कलुष और रुदन से भागने पर क्या कोई मानव उसके सौन्दर्य सुख से वंचित न होगा ? जीवन के गहनतम तिमिर में भी प्रकाश की किरणें थिरकती हैं उनको देखना कवि का धर्म-कर्म है और तभी वह गा सकता है—

इस जगती के रोम रोम में
भरी सहज सुन्दरता।

कला से जीवन की अमित सेवा होती है। वह जीवन को सुखमय बनाती है, वह मनुष्य को सहज ही ऊँचा उठा देती है। दुखी को संगीत, रोगी को कविता और सैनिकों को रणगीत सुनाने से कला का जो प्रयोजन सिद्ध होता है उससे लोक-हित और सेवा-भाव स्पष्ट है।

साहित्यकार का काम वास्तव में शंकर का काम है। उन्होंने देव-समाज के लिए गरल-पान किया था उसी प्रकार साहित्यकार भी लोक-कल्याण के लिए कुरूप का निगरण कर लेता है। तभी 'सहित सुन्दर' की अभिव्यंजना होती है। अपने अभिवन्दनीय नाम नीलकंठ की प्राप्ति शंकर को समाज-कल्याण के निमित्त विषपान करने पर ही हुई थी। जिस प्रकार 'विषरस भरे कनकघट' को सुन्दर कहना समीचीन नहीं, उसी प्रकार अमंगलकर साहित्य किसी भी बाह्य सौन्दर्य से सुन्दर कहलाने का अधिकारी नहीं है।

जो साहित्य जीवन को उच्च और सुन्दर बनाने का साधन है, वही वास्तव में साहित्य है। उसका लक्ष्य मानव को दानव बनाना कभी नहीं हो सकता। उसकी शक्ति मनुष्य को देव बनाने में उपयुक्त होती है। कला का साध्य लोक-हित है। उसके लिए कला में उत्तम साधनों की आवश्यकता है। जिन नग्नताओं के चित्र देखकर मानव-प्रवृत्तियाँ परिष्कृत होने के स्थान पर विकृत हो जायें, वह कैसा साहित्य, भले ही उसका लक्ष्य कितना ही ऊँचा क्यों न हो! जीवन के यथातथ्य वर्णन के लिए भी साहित्य में समुचित स्थान है किन्तु उसका चित्रण ऐसे कौशल से होना चाहिये कि उसका विकृतांग हमें मोह न सके। जहाँ विकृतियों के प्रति घृणा न होकर लोभ हो जाये वहीं समझना चाहिये कि साहित्य अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो गया। ऐसा साहित्य व्यर्थ ही नहीं, अपकारक भी होता है।

आज साहित्य के क्षेत्र में जो प्रयोग चल पड़े हैं, वे कहाँ रुकेंगे यह कहना तो सम्भव नहीं है किन्तु उन्होंने अपने लिए एक नया मार्ग चुना है। शिल्प और शैली में प्रयोगवाद की आधारशिला निहित है। नये उपमान, नये प्रतीक और नये मुहावरे गढ़कर प्रयोगवादियों ने एक नया प्रयत्न तो अवश्य किया है और किसी सीमा तक साहित्य को बंधन से मुक्त भी किया है किन्तु—

यदि मैं तोता होता,
तो क्या होता।
तो क्या होता? (झूमकर)
तो तो तो तो ता ता ता ता।।

ऐसी कविताएँ साहित्य को बन्धन से मुक्त करके कहाँ ले जायेंगी, इसे तो कोई प्रयोगवादी ही बतला सकता है। ऐसी पंक्तियों की जड़ हृदय और मस्तिष्क पर कितनी दृढ़ता से जमी हुई है, इनके बनाने वाले ही अधिक सचाई से कह सकते हैं:—

अलसाये आयी गये
अभी गयी,
मैंने देखा,
एक पेड़,
चाँद का।

यहाँ एक नयी शैली है, चित्रकाव्य की झलक है और शायद सन्ध्या भाषा का सा कोई रहस्य भी हो। सौन्दर्य की कोई बात तो दीखती ! फिर इन रचनाओं को सुन्दर कह कर सुन्दरता का मापदण्ड क्या बतलाया जाये ? प्रयोगवादी कह सकते है कि जैसे बुद्ध, ईसा, गांधी प्रभृति महात्माओं ने सत्य के प्रयोग किये थे उसी प्रकार वे भी प्रयोग कर रहे है। मूल में वे प्रगतिवाद का विरोध कर रहे हैं। वे उन पूँजीपतियों के प्रतिनिधि हैं जो प्रगतिवादी कवियों द्वारा अपना भडाफोड़ होते देख नये-नये प्रयोग करके जनता का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। प्रयोगवादी रचनाएँ कलापक्ष में भले ही कुछ सौन्दर्य रखती हों, उनमें कोई विशेष सार तो दीखता नहीं है।

यह तो माना जा सकता है कि अभिव्यक्ति-पक्ष का भी साहित्य में अपना मूल्य है किन्तु वही सब कुछ नहीं है। वह तो केवल बाह्य पक्ष है। क्रोचे के समर्थक उसके द्वारा साहित्य के अन्तर को समृद्ध नहीं कर सकते। यह तो अनुचित नहीं है कि साहित्य के उपकरणों का चयन आधुनिक जीवन से भी किया जाये, किन्तु प्राचीन को आधुनिक से एकदम विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। हमारा सम्बन्ध अभी तक कबीर, सूर, तुलसी से ही नहीं, प्राचीन परम्पराओं से भी है। हम जीर्ण वसन के प्रति मोह नहीं रखते किन्तु नूतन के तैयार होने पर ही। हम नये रूपक, नये प्रतीक, नये शब्द और पुराने शब्दों के कुछ नये अर्थों का स्वागत करते हैं किन्तु 'कुछ' के लोभ में 'सब' का विसर्जन नहीं कर सकते। 'कमल' और 'चन्द्र' अब भी अपनी-अपनी महत्ता रखते हैं, चाहे उन्हें नये उपमानों के रूपों में कोई नूतनता ही क्यों न दे दी जाये।

प्रयोगवादियों ने अभिव्यंजनावाद के जिस रूप का पल्ला पकड़ा है, वह उससे भिन्न है जिसका समर्थन छायावादियों के हाथों में हुआ था। छायावादियों ने जीवन से सीधा सम्बन्ध न जोड़ कर प्रकृति के माध्यम से जोड़ा था। प्रकृति को एक नया पद दिया गया। जीवन के अनेक लक्षण प्रकृति को अर्पित करके उन्होंने प्रकृति को ही मानव के रूप में देख डाला। जो संस्कार छायावादियों के मन पर जमे हुए थे उन्होंने उनको प्रकृति को सौंप दिया और वे ज्योत्स्ना में एक नवेली का सौन्दर्य देखने लगे—

> नीले नभ के शतदल पर
> वह बैठी शारदहासिनि
> मृदु करतल पर शशिमुख धर
> नीरव, अनिमिष, एकाकिनि

कुछ लोगों के मत से प्रकृति का अनुपम सौन्दर्य काव्य में उतर कर उसे भी सुन्दर बना देता है। कल-कल-निनादिनी सरिताएँ, मर्मरकारी निर्झर, शस्यश्यामला उदार धरा, रजतसुन्दर हिमशिखर, संगीतउन्मुक्त विहग आदि

जब काव्य में उतरते हैं तो उनकी माधुरी साहित्य को भी सिहरन प्रदान कर देती है। छायावाद प्रकृति का विशेष ऋणी हो सकता है किन्तु साहित्य की क्या कोई भी ऐसी विधा है जिस पर प्रकृति का ऋण, उसका आभार न हो ? प्रकृति सबको सजाती है अतएव प्रकृति-सुन्दरी का सहज सौन्दर्य-चित्र साहित्य-सौन्दर्य का एक माप-दण्ड मान लिया गया है, चाहे वह उपमानों के रूप में आये, चाहे मानव के रूप में और चाहे स्वतन्त्र रूप में।

इस विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि साहित्य-सौन्दर्य का मापदण्ड कोई एक नहीं हो सकता। प्रत्येक युग अपनी-अपनी मान्यता लेकर पदार्पण करता है। और तो और, व्यक्तियों की रुचि तक में अपनी-अपनी विशेषता होती है। उनके अनुरूप सौन्दर्य के माप-दण्ड भी बदलते रहते हैं। इतिहास और भूगोल के अतिरिक्त सामाजिक वातावरण भी मापदण्डों के निर्धारण में अपना महत्त्व रखता है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि कलापक्ष और भाव-पक्ष दोनों के समन्वित रूप में ही साहित्य का सौन्दर्य निहित रहता है। इन दोनों पक्षों के सम्बन्ध से साहित्य में अनेक गुण देखे जाते हैं, जिनमें अनुरंजनकारिता, प्रेरक तत्त्वों की विद्यमानता, भाव-प्रेषणीयता, प्रभाव-स्थायित्व लोक-हित-सम्पादन-शक्ति, लोक-संग्रह, समय का प्रतिनिधित्व, यथार्थ और आदर्श का समन्वय, सत्य, शिव और सुन्दर का समन्वय, अनुभूति, चिन्तन, कल्पना और अभिव्यंजना का संतुलित मिलन, उक्ति-प्रभविष्णुता, वर्ण्य और वर्णन में औचित्य की प्रतिष्ठा, व्यंजना-शक्ति, अभिव्यक्ति-कौशल और जन-जीवन की भाषा (जिसको भूषण-सौन्दर्य प्राप्त हो, किन्तु उस पर उनका भार न हो) प्रमुख हैं। ऐसे गुणों से युक्त साहित्य अवश्य ही सुन्दर कहलायेगा। यदि सद्वनिता और सत्कविता में कोई दूषण देखता है तो उनका मूल्य नहीं घट जाता। सुन्दरता सुन्दरता ही रहेगी—

> सुन्दरता रु सुबास की, महिमा घटी न मूर।
> पीनस वारो जो तजै, सोरा जानि कपूर।।

उक्त गुणों से युक्त साहित्य अवश्य ही महान् होगा। जो साहित्य दानव और देव को दिखा कर पहले के प्रति मानव के हृदय में घृणा पैदा करता है और दूसरे के प्रति आकर्षण, वही सत्काव्य है, वही सुन्दर है। मनुष्य न तो दानव है, न देव, परन्तु उसके प्रयत्न देवत्व की ओर हैं। साहित्य उन प्रयत्नों में से सर्वोत्कृष्ट है। जब उसका निर्माण मनुष्य की समग्र दैवी सम्पत्ति से होता है तभी वह अपने लक्ष्य की सिद्धि में सफल होता है। वही शक्ति-सम्पन्न, प्रेरक, शील-सम्पन्न, मंगल-भवन और अमंगलकारी और वही सुन्दर होता है। सौन्दर्य इनसे पृथक् रहकर साहित्य में देवता की प्रतिष्ठा नहीं करा सकता।

१

गीत और संगीत

साहित्य और संगीत, दोनों, ललित कलाओं में परिगणित होने के कारण, एक ही वर्ग के हैं। दोनों का प्रजनन आनन्द से होता है और दोनों के प्रभाव में भी आनन्द ही रहता है। काव्य के गीत-क्षेत्र में साहित्य और संगीत अभिन्न-जैसे रहते हैं। यद्यपि गद्य में संगीत की विशेष आवश्यकता नहीं होती, फिर भी संगीत का प्रवाह तो उसमें भी वांछनीय समझा जाता है। ऐसी बात नहीं है कि गद्य में संगीत के अभाव से आनन्द का भी अभाव रहता है क्योंकि आनन्द कोई वस्तु नहीं है जिसका स्वरूप बनता-बिगड़ता रहता हो: वह तो मानव की अन्तर्वर्तिनी एक वृत्ति विशेष है जो अनुकूल परिस्थितियों में आविर्भूत और प्रतिकूल परिस्थितियों में तिरोहित होती रहती है। साहित्य में एक संगीत ही तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न नहीं कर देता जिससे आनन्द-वृत्ति का आविर्भाव हो उठता हो। सजीव प्रतिरूपण एवं विभावन-व्यापार वैयक्तिक दुख-सुख के ऊपर, सामान्यता की सीमा पर, कलाकार के आनन्दोद्‌गार की अनुभूति कराते हैं; अतएव साहित्य को संगीताश्रित मानना तो मानों उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करना है। हाँ, यह कह सकते हैं कि संगीत आनन्द-वृत्ति के प्रादुर्भाव में, उसके आविर्भाव-पथ में, सहजानुकूल्य प्रस्तुत करने की क्षमता रखता है। कदाचित् यही कारण है कि भक्त कवियों के गीत-काव्य का जनता द्वारा इतना समादर किया गया है। अनुभव यही रहा है कि जिस कविता में गीतात्मकता नहीं रही है, जो संगीत के घाट नहीं उतर सकी है, वह जनमन को, सर्व-साधारण को इतना मुग्ध नहीं कर सकी है। समाज के प्रत्येक कोने से मानव-चित्त को खींच लाने में संगीत की अद्‌भुत शक्ति की अवहेलना नहीं की जा सकती। जिनकी भक्ति में आस्था नहीं है, वे भी कीर्तन के मनोरंजन और संगीत के आकर्षण में विश्वास रखते दीखते हैं। बीड़ी न पीने वाले, धूम्रपान

के घोर-विरोधी लोग भी नृत्य की 'छम-छम' के साथ उठी हुई लयबद्ध ध्वनि—'सरकार नम्बर पाँच, ले लो बीड़ी नम्बर पाँच'—को सुनकर क्षणभर के लिए विनोदार्थ ठहर ही जाते हैं। आनन्द की क्षणिक वृत्ति में उनकी घृणा का विलय हो जाता है। इस कारण गीत और संगीत की शक्ति की उपेक्षा का कोई कारण विद्यमान नहीं है। जब तक मानव-जीवन में आनन्द का महत्त्व है, गीतों की सत्ता है, तब तक संगीत को साहित्य के मृदुल एवं सरस हृदय में प्रतिष्ठा मिलती ही रहेगी।

गीत को संगीत से और संगीत को गीत से पृथक् करके देखने का अभिप्राय होगा दोनों के मौलिक स्वरों का अपहरण करना किन्तु आजकल नियन्त्रित वादन को ही संगीत नाम दिया जाने लगा है। कितना ही नाम-परिवर्तन क्यों न हो जाये, संगीत अपनी गीतात्मकता को नहीं छोड़ सकता। इसी प्रकार गीत संगीत का बहिष्कार करके अपने अस्तित्व पर कुठाराघात नहीं कर सकता। गीत और संगीत दोनों वाणी-विलास के ही दो रूप है। उनकी मौलिक प्रकृति एक है। सम्भवतः इसी कारण भगवती भारती के एक हाथ में पुस्तक और दूसरे में वीणा की उद्भावना की गयी है। मैं समझता हूँ जितना साम्य सरस्वती के दो हाथों में है, उतना ही गीत और संगीत में भी है।

संगीत साधन और साध्य दोनों रूपों में मिलता है। साधन रूप संगीत का साध्य आनन्द और साध्य रूप में वह स्वयं आनन्द से अभिन्न होता है। साधन रूप में वह दुख को भुलाकर आनन्द की व्यवस्था और वृत्ति का निर्माण करता है। साध्य की दशा में आनन्दोद्गार और उद्गारी संगीत से अपृथक् होते हैं। यह शंका हो सकती है कि क्या विभोर होने की दशा में भी कलाकार अपने स्वर, तान और लय के साथ सचेत एवं सावधान रह सकता है ? यदि नहीं रह सकता तो संगीतकार की आनन्द-दशा में संगीत बिगड़ क्यों नहीं जाता ? और यदि वह सावधान रह सकता है तो क्या तन्मयता केवल दंभ नहीं है ? इस शंका के समाधान के लिए केवल यही कहा जा सकता है कि उच्चकोटि का संगीतकार संगीत-विभोर होकर भी संगीत की धारा बहाये जा सकता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वीरता के उद्रेक में शिरोच्छेदन के उपरान्त भी वीर-रुण्ड असि-धारा बहाये चला जाता है।

भारतीय दृष्टिकोण से आनन्द का ऐसा कोई साधन नहीं है जो धर्ममय न हो। गुह्यातिगुह्य कर्मों में भी आनन्द की रक्षा धर्म की व्यवस्था से ही मानी जाती है, इसलिए संगीत का आदि सम्बन्ध धर्म से जोड़ने में कोई संकट नहीं है। इसका प्रमाण वेदों में साम (गान) की सम्मान्य परिगणना प्राप्त करना है, किन्तु 'धर्मस्य त्वरिता गतिः' के अनुसार धर्म रूढ़ियों के दलदल में नहीं फँस

सकता। धर्म की विशेषताओं को जब रूढ़ियों की जंग गतिहीन और व्यर्थ बना देती है तो युग परिवर्तन की खराद उसे उतार कर सक्रिय, उपयोगी और सप्रभ बना देती है। धर्म की विशेषताएँ युगों की आवश्यकताओं के अनुसार बदलती रहती हैं, अतएव संगीत आदि कलाओं का माप-दण्ड भी बदलता ही रहता है। संगीत के सिद्धान्तों और प्रयोगों में वैदिक काल से अब तक न जाने कितने परिवर्तन हो गये होंगे किन्तु धर्म की भाँति संगीत के सामान्य गुण जिन पर उसका अस्तित्व अवलम्बित है, गतिमय किन्तु अपरिमित रहते हैं। यों तो कला का सौन्दर्य रुचि का विषय है, और रुचि, एक से दूसरे देश में ही क्या, एक से दूसरे व्यक्ति तक में बदल जाती है। कच्चे-पक्के गानों के सम्बन्ध में इसी प्रकार की रुचि काम करती है। फिर भी देश-काल के द्वारा एक सामान्य रुचि का पोषण होता ही रहा है। इसी कारण अद्यतन भारतीय संगीत प्रधानतः भारतीयों की आधुनिक विकसित रुचि को ही तृप्त करता है।

संगीत अपने प्रसार की दृष्टि से जितना धार्मिक हो सकता है, उतना ही सामाजिक भी। देखने में तो धर्म का व्यक्तिगत रूप भी आता है किन्तु धर्म की सृष्टि किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं हुई, सामाजिक संगठन और विकास के लिए हुई है। ऊपर जिस भारतीय संगीत की चर्चा की गयी है, उसका रूप सामाजिक ही है, वैयक्तिक नहीं है। जो संगीत केवल अभ्यास पर ही नहीं, शिक्षा पर भी निर्भर है, उसे सामाजिक कहने में क्या आपत्ति है? परन्तु आनन्दोद्‌गार की दशा में जो संगीत अशिक्षित (अनट्रेण्ड) व्यक्ति के कण्ठ और करतल से फूट कर उमड़ पड़ता है, वह अवश्य ही वैयक्तिक संगीत होता है। संगीत की विकासमयी नवीनता भी वैयक्तिक मौलिकता हो सकती है किन्तु वैयक्तिक निधि के रूप में वह सुरक्षित नहीं रह सकती। अभिव्यक्ति की दशा में सुन्दरता की ग्राह्यता की सम्भावना का परिवारण नहीं हो सकता।

संगीत का सम्बन्ध केवल श्रव्य काव्य से ही नहीं है, दृश्यकाव्य से भी है। वह अपनी मधुर लहरियों से दर्शकों के उर को उर्मिल बनाता है। दृश्य काव्य की व्यापार धारा का उन मनोहर लहरों में होकर जाना दर्शकों को कितना सुखद एवं तृप्तिप्रद होता है, यह केवल अनुभव की बात है। मूक अभिनय के अतिरिक्त नृत्य को भी संगीत का बड़ा सहारा मिलता है।

संगीत से सुख-दुख की धूप-छाँह, जीवनगत ऊँच-नीच, का सम्बन्ध भी बड़ा गहन है किन्तु साहित्य से उससे भी अधिक गहन है क्योंकि प्रथम तो संगीत साहित्य का आश्रय लेकर आविर्भूत होता है, दूसरे जब संगीत आविर्भूत नहीं होता तब भी साहित्य अपनी भावावली से रसोर्मियों का संचार करता रहता है। गीत (साहित्य) स्वयं संकेतों में सुरक्षित रहकर संगीत को सुरक्षित रखता है। नाद की स्थिति विशेष ही में तो साहित्य 'गीतत्व' प्राप्त करता है,

उसी स्थिति में 'संगीत' साकार अथवा मूर्त बनता है। नाद के रहने तक संगीत साकार रहता है। नाद-विलय के साथ ही 'संगीत' विलीन हो जाता है।

कहना न होगा कि संगीत गीत ही का एक अमूर्त अंग है। जब 'गीत' को कण्ठ, वाद्य आदि का सहयोग मिल जाता है तो संगीत भी अभिव्यक्त हो जाता है किन्तु प्रश्न यह उठता है कि संगीत का स्रष्टा किसे माना जाये ? गीत बनाने वाले को या गीत गाने वाले को ? मैं समझता हूँ संगीत का असली कर्ता 'गीत बनाने वाला' ही है क्योंकि गीत और संगीत में अंशांशी सम्बन्ध दीख पड़ता है। ऐसी स्थिति में यह उचित नहीं है कि अंशी से पृथक् अंश के प्रादुर्भाव की कल्पना की जाये किन्तु कलाकार तो उसे भी कहा जाता है जो गीत के अमूर्त संगीत को कण्ठ, वाद्य आदि के सहारे साकार सौन्दर्य प्रदान करता है। अतएव संगीत का प्रमुख कर्ता गीतकार और आविर्भावकर्ता 'गायक' अथवा 'वादक' होता है।

जो हो, यह नहीं भुलाया जा सकता कि संगीत और साहित्य जीवन के रस की दो समान धाराएँ हैं। यदि उद्दीपनों का रस-निष्पत्ति में कोई महत्त्व है, यदि रण-वाद्यों के वादन से वीर सैनिकों में वीर भाव सजग हो सकता है और यदि कोकिल का कलकण्ठ या चातक की ध्वनि रति को उद्दीप्त कर सकती है तो यह भी मानना पड़ेगा कि साहित्य और संगीत का भी गहन सम्बन्ध है।

१०

कला और सौन्दर्य

सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होने पर भी कला से कोरे सौन्दर्य की ही प्रतीति नहीं होती, वरन् कलाकार की कल्पना, भावना, और व्यक्तीकरण की क्षमता की भी प्रतीति होती है—उसकी रुचि और प्रवृत्ति की भी प्रतीति होती है। कहना न होगा कि कलाकार का काम एक ऐन्द्रजालिक का सा है। वह जितना प्रतिभाशाली और कुशल होगा, उसकी कृति में उतना ही गहन सौन्दर्य विनिविष्ट होगा। कुशल वह इस दृष्टि से होता है कि अपनी उद्भावनाओं को सामान्यतम रूप में रख कर और सामान्य भावना को वृत्ति रूप में सचेत करके उसे वह सहज ही में अधिकृत कर लेता है। यदि उसमें यह क्षमता, यह कौशल नहीं है तो अनुभूतियों का कितना ही बड़ा आकर उसके पास क्यों न हो, शब्दों पर उसका कितना ही पूर्ण अधिकार क्यों न हो, और चाहे उसे कल्पना का कितना ही बल क्यों न प्राप्त हो, कौशल के अभाव में सौन्दर्य की मनोहारिणी अभिव्यक्ति वह कदापि नहीं कर सकता, बिलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि खिलौना बनाने वाले के पास हाथी बनाने के सब उपादान होते हुए भी, कौशल के अभाव में वह रुचिर हाथी नहीं बना सकता, और न उसकी कृति से क्रेता को आकर्षण और तृप्ति-लाभ ही हो सकता है।

अनुकृत और मौलिक, अपने दोनों रूपों में, कला विलास करती है, किन्तु वह अपने मौलिक रूप में ही अपने कर्ता की शुद्ध कल्पना और प्रतिभा की अभिव्यंजना कर सकती है। ठीक है कि अनुकरण में मौलिक पावनता सुरक्षित नहीं रह पाती, पर वह उसका सर्वथा उन्मूलन नहीं कर देता। कोरे अनुकरण में मौलिकता केवल दंभ है किन्तु कोरा अनुकरण दुष्कर है। सामान्यतः अनुकृति में मौलिकता का अंश कहीं न कहीं अवश्य रहता है।

कला के आधार को सौन्दर्य का निकष माना जाता है। आधार जितना

स्थूल होगा, सौन्दर्य उतना ही अमार्मिक होगा। इसी कारण कला की उत्कृष्टता मूर्ताधार की न्यूनता पर निर्भर मानी जाती है। सम्भवतः इसी दृष्टि से विद्वानों ने माना है कि कला में मूर्ताधार जितना कम होगा, वह उतनी ही उत्कृष्ट होगी। इसीलिए संगीत-कला और काव्य-कला का स्थान वास्तुकला, मूर्तिकला, और चित्रकला से ऊँचा माना जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि भावना से सरसित कल्पना का गौरव ही कला को गौरव और सूक्ष्म सौन्दर्य प्रदान करता है।

कल्पना का नाम लेते ही हमें उसे भावना से पृथक् करके देखना चाहिये। दोनों में वही सम्बन्ध माना जा सकता है जो उन्माद और भ्रान्ति में होता है। कल्पना के ऊपर से ऐन्द्रिक और बौद्धिक नियन्त्रण उठा लेने पर उसका रूप उन्माद का सा रह जायेगा, और भावना के ऊपर से उस नियन्त्रण के उठ जाने पर उसका रूप केवल 'भ्रान्ति' का रह जायेगा, परन्तु इसका आशय यह कभी नहीं है कि कल्पना उन्माद की समीपस्थ है। कल्पना और भावना अपने परिणामी रूपों में भिन्न सी आभासित होती हुई भी परिणाम रूप में एक ही दीख पड़ती हैं। दोनों से जीवन का सरस प्रतिरूपण सुलभ बनता है। कलाकार, दोनों से एक ही साथ, उसी प्रकार लाभ प्राप्त करता है जैसे बढ़ई अपने हथौड़े और निहाने से एक ही साथ खाट के पाये में छेद करने का काम लेता है, यद्यपि दोनों यंत्रों के काम पृथक् रहते हैं।

कला दृश्य और दर्शक को—स्व और पर को—तथा उनके बीच में बनाने वाले सम्बन्ध को प्रस्तुत करती है। अतएव कला विषमता में समता, अनेकता में एकता लाने एवं अप्रस्तुत को प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है। कला का लक्ष्य मानव-एकता होना चाहिये। यदि वह उसकी पुकार नहीं करती, यदि उसके स्वर में व्यापक मोहकता नहीं है, तो उससे मानव-दुर्बलता एवं कुरूपता अवश्य अभिव्यक्त होगी। यह कला का काम नहीं है और न ऐसी कला आनन्द-प्रसविनी ही हो सकती है। हो सकता है कि उससे किसी व्यक्ति या वर्ग की रुचि तृप्त हो जाये, किन्तु पुल बनकर रुचि-भेद के तटों को एक नहीं कर सकती। निपुण कलाकार ऐसी कला को गर्हित समझ कर प्रोत्साहन नहीं देता।

कला चारों ओर से परिस्थितियों की दीवारों को तोड़कर दर्शक को आनंदित करती है और उस व्यापक शक्ति और सम्बन्ध की भावना को उसमें जाग्रत करती है, जिसकी अनुभूति स्वयं कलाकार को हो चुकी है। उच्च कलाकार की कला का अंकुर लहलहाता हुआ फूल-फल कर कला के विकास के लिए अनेक बीज प्रदान करता है। अतएव कला की प्रभविष्णुता मोहक प्रेरणा भी है।

कला किसी रूप, गुण, दशा या भाव का प्रतिरूपण करने के अतिरिक्त देश या समाज के किसी काल विशेष का चित्र भी प्रस्तुत करती है। कलाकार अमूर्त सौन्दर्य को रूप प्रदान करने के लिए अपने समय और समाज में प्रचलित प्रतीकों का प्रयोग करता है। प्रतीकों का प्रयोग उसे इसलिए करना पड़ता है कि वह अपने अभिप्राय को सहज ग्राह्यता तथा व्यापक ग्राहकता दे सके। कहना न होगा कि कला का 'नूतन' सदैव 'पुरातन' से बनता है। प्रतिभाशाली कलाकार अपनी कृति पर समय की मुद्रा लगा कर भावी पीढ़ियों के लिए जीवन-चित्र प्रस्तुत करता है। ऐसे कलाकार को खोजना व्यर्थ ही नहीं, असंभव भी होगा, जो देश और काल की परिधि से अलग रह कर शिक्षा, धर्म, नीति और व्यवहार का सजीव एवं मार्मिक चित्र खींच सके। उपेक्षा से उपेक्षित की सत्ता का निराकरण नही हो सकता। उत्सर्ग-व्यापार से ही उत्सृष्ट की अभिव्यंजना हो जाती है। सामयिक वर्णों के उपयोग के बिना कोई कलाकार सुवर्ण एवं मनोहर रूप-चित्र नहीं बना सकता। ऐसी कोई कला नहीं हो सकती जो उन सब समसामयिक विचारों और मान्यताओं से, जिनमें वह जन्म ग्रहण करती है, नितान्त वियुक्त होकर पनप सकती हो।

वास्तविक कला के स्वरूप का एकमात्र परिचय यह है कि वह रूढ़ियों में फँसकर गतिहीन नहीं होती : उसमें एक प्रवाह रहता है। मधुरतम संगीत किसी धार्मिक भजन में हो, ऐसी बात नहीं है, वरन् वह तो उस मानव-कण्ठ में होता है जो मृदुलता, सत्य, साहस आदि के तत्कालीन जीवन-स्वर में बोलता है। प्राचीन धार्मिक भजन, यदि प्रातःकाल, भास्कर एवं वसुन्धरा से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर चुका है, तो उक्त मानव-कंठ उनसे रूठ कर अलग नहीं रह सकता। कला का ऐसा कौन-सा भेद है जिसमें जीवन न बोलता हो? कोई भी महापुरुष अपने कतिपय भावों और व्यापारों में एक नूतन प्रतिमा होता है और कोई भी आदर्श रमणी वह मनोहर चित्र है जिससे दर्शकों की आकृति मुद्रित हो जाती है। ऐसी प्रतिमा, ऐसे चित्र के दर्शन, गीत, कविता, कहानी, उपन्यास आदि सब में जीवन प्रतिध्वनित होता है। विश्व की कल्याणमयी सत्ता में सौन्दर्य की गवेषणा करके उसे अभिव्यक्त करना—उसे मानव के प्रेरणामय आमोदन के लिए उसके सामने रख देना—कलाकार का काम है। कहना न होगा कि आनन्द का विलास 'शिव' और 'सुन्दर' के 'सत्य' में होता है। तीनों की सम्मिलित सत्ता ही 'आनन्द' का दूसरा नाम है। कलाकार का 'सुन्दर' 'शिव' और 'सत्य' की अभिव्यक्ति किये बिना नहीं रह सकता। 'असत्य' 'शिव' और 'सुन्दर' की बात करना वन्ध्या के पुत्र की वार्ता से कम न होगा। सत्य के धरातल पर 'आनन्द' की ओर बहने वाली इस जीवन-धारा

का एक तट 'शिव' है और दूसरा 'सुन्दर'। इनसे जीवन का कितना गहन सम्बन्ध होना चाहिये, इसके कहने ओर समझाने की आवश्यकता नहीं है।

'शिव' ही का व्यावहारिक नाम 'उपयोगी' है। जीवन में 'उपयोगी' और 'सुन्दर' मिलकर रहते हैं। फिर भी नाम-भेद से कला के भी ललित और उपयोगी दो भेद माने जाते हैं। उपयोगी कलाओं का तात्कालिक लक्ष्य चाहे उपयोग ही रहता हो, अन्तिम लक्ष्य सौन्दर्य है और जिनको ललित कला कहा जाता है वे भी जीवन के लिए अनिवार्यतः उपयोगी होती हैं। यदि केवल उपयोग या सौन्दर्य के सहारे ही कलाओं का भेदीकरण होता है तो इस भेद को मिटा देना ही कलाकार का प्रथम कर्तव्य होगा।

जहाँ कहीं किसी वस्तु की अच्छाई या उपयोगिता की बात की जाती है वहाँ उससे यही अभिप्राय होता है कि वह वस्तु तोषप्रद एवं तृप्तिकारिणी है। उसके सम्बन्ध में हुई हमारी सदनुभूति वह अनुभूति है जिससे हमारी उन आकस्मिक प्रवृत्तियों को परिपूर्णता एवं सफलता मिलती है जो उसको बनाती हैं किन्तु उन प्रवृत्तियों की एक विशेषता होती है : वह यह कि इनके प्रयोग और तोष से अन्य महत्तर प्रवृत्तियाँ बाधित नहीं होतीं। महत्त्व का निर्णय जीवन के सम्बन्ध से होता है। इतना ही नहीं कि उस महत्त्व की परख केवल व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध से हो जाती है, अपितु वैयक्तिक जीवन तथा वैयक्तिक जीवनों की पारस्परिक व्यवस्था के सम्बन्ध से उसकी खोज भी करनी होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि कलाकार को अर्थानुसार अपनी अनुभूतियों को व्यवस्थित करना होता है। उसके हाथों से अनुभूतियों की ऐसी व्यवस्था होती है जिसमें कल्याण सौन्दर्य का पथ-दर्शक होता है। उस व्यवस्था में अनेक अनुभूतियों को बनाने वाली वृत्तियाँ निर्विरोध होकर उपस्थित होती हैं। इसलिए वह कृति जो औरों के मस्तिष्क में अव्यवस्थित होती है, कलाकार के मस्तिष्क में—उसकी कल्पना के संसार में—सुव्यवस्थित बन जाती है। इस व्यवस्था की आयोजना में कलाकार की असफलता भी बड़े महत्त्व की होती है।

रूप, गुण, भाव और दशा, का ऐसा प्रतिरूपण जो वास्तविक से अभिन्न प्रतीत हो कला का लक्ष्य है। स्वानुभूत संवेदना का वह प्रेषण, जिसे दूसरे सहज ही ग्रहण करके स्वानुभूति समझने लगें, कला की क्रिया है। कलाकार की संवेदनानुभूति किसी कलाकार की कलाकृति अथवा साक्षात् जीवन, इन दोनों में से किसी से अथवा दोनों से हो सकती है। संवेदन की वास्तविकता का परीक्षण मानवीय एकता के निकष पर बड़ी सरलता से हो सकता है। संवेदन वही है जो मानव को मानव से संयुक्त करे, जो अनेकता में एकता का

सूत्र बने। इस एकता की सिद्धि मानवीय बन्धुता एवं ईश्वरीय पितृता के साक्षात्कार तथा स्वीकृति द्वारा, अथवा साम्यभावना द्वारा ही संभव है। इस दृष्टि से संवेदनाओं के दो प्रकार बनते हैं :—धार्मिक संवेदनाएँ तथा सहज संवेदनाएँ। जो संवेदनाएँ मानव-बन्धुता या ईश्वरीय पितृता की भावना से प्रेरित होती हैं, वे धार्मिक होती हैं और हर्ष, स्फूर्ति, कोमलता, शान्ति, आदि सहज संवेदनाएँ है।

सौन्दर्य की अनुभूति के लिए एक विशेष मानसिक क्रिया अनिवार्य है। वह है वृत्ति। जब तक अनुकूल वृत्ति नहीं होती, सौन्दर्य की यथातथ्य अनुभूति नहीं होती। यही कारण है कि अजीर्ण की दशा में सुन्दर एवं स्वादिष्ट व्यंजन भी बुरे लगते हैं। विरहिणी उद्दीपक वस्तुओं को इसलिए कोसती है कि उसकी वृत्ति प्रतिकूल बनी होती है। वृत्ति यद्यपि स्वभावज होती है, फिर भी संसर्गजन्य संस्कारों के प्रभाव से अछूती नहीं रहती। वृत्ति का उद्भव या परिवर्तन वैयक्तिक प्रकृति की कोमलता व कठोरता पर निर्भर होता है। यही कारण है कि कुछ लोगों की वृत्ति में दूसरों की अपेक्षा शीघ्र परिवर्तन हो जाता है। जिस प्रकार कला में सौन्दर्य की अनुभूति के लिए वृत्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति की रीति भी बड़ी आवश्यक होती है।

यद्यपि रीति का केवल इतना सा काम है कि वह मनुष्य को उस स्थिति में रख दे जहाँ से वह कला के सौन्दर्य को ठीक-ठीक देख सके। रीति का सफल अधिगम शिक्षा और अभ्यास से ही होता है। हाँ, कभी-कभी उसके ज्ञान का उदय स्वतः भी हो उठता है। सौन्दर्यानुभूति की अर्हणीयता अथवा अनर्हणीयता का ज्ञान भी रीति द्वारा ही होता है ; अतएव सौन्दर्यानुभूति की रीति वस्तु-परीक्षण की विचित्र शैली है।

सौन्दर्यानुभूतियाँ दो स्तरों पर रखी जा सकती हैं : एक तो वे अनुभूतियाँ जिनमें एक विशेष मनस्तत्त्व जो इतर अनुभूतियों में प्रवेश नहीं करता, जिसे सौन्दर्य-भावना भी कह सकते हैं, और दूसरी वे अनुभूतियाँ जिनमें विचित्र मनस्तत्त्व न होकर सामान्य तत्त्व ही होता है, परन्तु रूप विशेष होता है, जैसे उदासीनता, दूरी, अव्यक्ति तथा आत्म-सामान्यता।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या अनुभूतियों की माप हो सकती है ? क्या वे एक दूसरी से भारी-हल्की होती हैं ? इसका उत्तर केवल 'नहीं' है। अनुभूतियों के कारण अथवा परिणाम हल्के-भारी कहे जा सकते हैं ; हम अनुभूतियों को ऐसा नहीं कह सकते। अनुभूत पदार्थों की प्रभविष्णुता में अन्तर हो सकता है, यथा तीव्र, वा मन्द आलोक। ध्यानविषयक प्रयत्न भी न्यूनाधिक कहे जा सकते हैं, परन्तु अनुभूति की दशा या कार्य (चाहे वे अन्य बीसियों बातों में

परिवर्तनशील हों) प्रभाव में घट-बढ़ नहीं सकते। हाँ, यह माना जा सकता है कि हमें किसी वस्तु का अस्पष्ट या स्पष्ट, विशद या सूक्ष्म अनुभव हो सकता है।

इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सौन्दर्य का प्रभाव हमारे पूर्ण मानस पर पड़ता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक लहर का सम्बन्ध पूर्ण सागर से होता है—अनंत और व्यापक सागर से। पश्चिम के कितने ही विद्वानों ने भी इसी आधार पर सौन्दर्य को अखंड माना है। यही अखंड सौन्दर्य, वस्तु या पदार्थ-सम्बन्ध से जब कला में जन्म लेता है, तब यह खंड जैसा प्रतीत होता है। कला अखंड सौन्दर्य का ज्ञान होने के कारण अखंड है किन्तु किसी वस्तु में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होने पर उसकी प्रतीति खंड-रूप में होने लगती है।

सौन्दर्य का सम्बन्ध सत्य से है—उस सत्य से जो एक, अनन्त और व्यापक है। सौन्दर्य का भी वही महत्त्व है किन्तु जितना सत्य इन्द्रियगोचरता को प्राप्त होता है, वह उस अनन्त सत्य का एक अंशमात्र होता है। सौन्दर्य भी उसी के सम्बन्ध से व्यक्त होता है। इस प्रकार प्रभाव और व्याप्ति की दृष्टि से सौन्दर्य पूर्ण और अखंड होता है किन्तु वस्तुगत होने पर उसकी अनुमिति का माध्यम इन्द्रियाँ होने के कारण वह ससीम और परिच्छिन्न दीख पड़ता है। यही अखंड का खंडात्मक रहस्य है।

कला मनुष्य की कृति है। वह उसे सुन्दरतम रूप में देखना चाहता है। इसी कारण कला के क्षेत्र में नित्य नये प्रयोग होते रहते हैं। नवीनता रमणीयता या सौन्दर्य का एक प्रमुख मापदण्ड है। देश और काल के सम्बन्ध से, ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव से, रुचि-विकास होता रहता है जिसके कारण वह कृति जो कभी सुन्दर मानी जाती थी, अपना वह मूल्य अक्षुण्ण न रख सके, यह सम्भव है। कभी 'अँगरखी' भारतीय मानव ने सुन्दर मान रखी होगी, फिर कभी कुर्ता सुन्दर मान लिया गया, आज बुशशर्ट ने अँगरखी, कुर्ता, कोट और कमीज़ सबका मान भंग कर दिया हैं, कारण कि रुचि-विकास से सौन्दर्य की भावना ने अपने मूल्य बदल दिये हैं।

इतिहास के आधार पर वर्तमान को नाप कर हम भविष्य के सम्बन्ध में इतना ही कह सकते हैं कि मनुष्य की रुचि में परिवर्तन होता रहा है। इस परिवर्तन को लोगों ने विकास आदि अनेक नाम दिये है और इसी विकास के गर्भ में कला और सौन्दर्य के मूल्य भी निहित हैं।

११

लोक-गीत

विद्वानों का मत है कि लोक-गीत (Ballad) ऐसा वर्णनात्मक गीत होता है जिसका निर्माण और गायन नृत्य के अवसर पर होता है और जो लोक-परम्परा के प्रवाह में ही अपने अस्तित्व की रक्षा करता है। मूल लोक-गीत की रचना वह सामूहिक नाटकीय प्रक्रिया है जिसमें परिस्थिति-चित्रण का आश्रय रहता है। उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया महाकाव्य की सी होती है और घटनाओं के विकास में क्रम की व्यवस्था रहती है। पाश्चात्य साहित्य में लोक-गीतों के सम्बन्ध में प्राय: यही मत ग्रहण किया गया है।

अंग्रेजी का Ballad शब्द पुराने फ्रेंच शब्द Ballare से निकला हुआ है जिसका अर्थ 'नाचना' है। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में जातीय या धार्मिक उत्सव अथवा किसी विशेष घटना को मनाने के लिये जन-समुदाय एकत्र होकर, गान और नाच द्वारा, घटना-सम्बन्धी स्मृतियों को तत्क्षण काव्य-बद्ध करता था और बड़ी रुचि से उसे स्मृति में सुरक्षित कर, यदा-कदा, यत्र-तत्र गाया करता था। समयान्तर से इस ढंग से गीत बनाने का एक ढर्रा पड़ गया और सारे गीत एक छन्द विशेष में बनने लगे, जिसका नाम भी Ballad छंद पड़ गया।

लोक-गीतों की दो विशेषताएँ होती हैं : एक तो भाषा और दूसरी देश के निवासियों के सामाजिक जीवन की झाँकी। जिस प्रकार प्राचीन काल में वेद मौखिक परम्परा से सुरक्षित रहे, उसी प्रकार ये गीत भी मौखिक परम्परा से सुरक्षित होकर आज तक चले आ रहे हैं। इनमें लोगों के कृत्रिम जीवन के उतने रंगीन चित्र नहीं हैं, जितने असभ्य, रोमानी और वीर-जीवन के सुन्दर चित्र हैं। आज साहित्यकारों का ध्यान इस ओर भी गया है और इस साहित्य को स्मृति या कण्ठ के बन्धन से मुक्त करके लोक-दृष्टि के समक्ष लाया जा

रहा है। कहा जा चुका है कि इन गीतों में रंगीनी है, वीरता के दृश्यों का प्राचुर्य है और भाव-बाहुल्य है। भाषा के प्राचीन लोक-गीत 'दूहा' या 'सोरठा' छंद में मिलते हैं। काठियावाड़, गुजरात, राजस्थान आदि प्रान्तों का प्राचीन साहित्य इसका प्रमाण है। देश के सीधे-सादे लोग 'दोहा' या 'सोरठा' को प्रायः गाया करते हैं क्योंकि इसका स्मरण रखना और गाना सरल है। देश के ग्वाले, गड़रिये और किसान अपने काम की तरंगों में अपनी उमंगों को मिलाकर लोक-गीतों को गाया करते हैं। अनेक बार एक के प्रारम्भ करने पर अनेकों के मुख से वह गीत छलक उठता है। उनके भावों में न जाने कितना उन्माद होता होगा, जब वे अपने देश के नर-नारियों की उन घटनाओं का स्मरण करते हैं जिन्होंने अविरल ज्योति-धारा का प्रवाह किया है। इन लोक-गीतों के रचयिता की खोज अभी तक नहीं हो सकी है और न यही कहा जा सकता है कि लोक-गीत किसी एक व्यक्ति की रचनाएँ हैं या अनेकों की। हाँ, एक बात निश्चित है, वह यह कि लोक-गीत बहुत पुराने और लोक-प्रिय हैं।

लोक-गीतों में कवि अथवा रचयिता के व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव रहता है। साहित्य या कलात्मक कविता में कवि का व्यक्तित्व प्रतिफलित होता रहता है किन्तु लोक-गीतों में व्यक्तित्व का अभाव ही उनकी विशेषता है। लोक-गीतों के मर्म को जानने वाले पाश्चात्य पण्डित प्रो० चाइल्ड लोक-गीत और काव्य का भेद प्रकट करते हुए कहते है—"लोक-गीतों का ऐतिहासिक एवं प्राकृतिक स्थान उस कलात्मक काव्य से पुराना है जिसको लोक-गीत मार्ग-प्रदर्शन करते हैं और जो उनको उखाड़ता रहता है और कभी-कभी तो नष्ट-भ्रष्ट भी कर देता है। लोक-गीतों में समग्र समाज की अभिव्यक्ति होती है, किसी व्यक्ति की नहीं। उनमें राजनीतिक दल-भेद तथा पुस्तकीय संस्कृति से समाज की एकता वर्ग या दलों में विभक्त नहीं होती। उनमें भावों और विचारों का एक-रूप समाज व्यक्ति को जातीय रूप में अभिव्यक्त करता है। ऐसी कविता तात्त्विक दृष्टि से सामान्य मानव-प्रकृति की अभिव्यक्ति के रूप में अखण्ड विश्वरुचि की वस्तु होती है।

लोक-गोत प्रायः रोमानी कृति हैं। उनमें प्रेमी और प्रेमिका की कहानी में प्रेमी या प्रेमिका के वीर कृत्यों का भी वर्णन होता है। बारहमासी या बारह-मासा भी लोक-गीतों की ही एक शैली है। देश के प्रत्येक भाग, और अनेक लोक-भाषाओं में 'बारहमासी' का प्रचलन है। गुजराती, काठियावाड़ी, मारवाड़ी, मेवाती, ब्रज, अवधी, बँगला, खड़ी बोली आदि सभी भाषाओं और बोलियों में इस शैली ने लोकप्रियता प्राप्त करली है। ये बारहमासियाँ प्रायः दोहों में हैं। प्राचीन बँगला साहित्य का इतिहास बारहमासी दोहों का साक्षी है। इन लोक-गीतों की एक शैली 'प्रश्नोत्तर' भी है। प्रेमी और

प्रेमिका के प्रश्नोत्तरों से ही इनका कलेवर निर्मित होता है और प्रथानुकूल ऐसे लोक-गीत प्राय: दो गायकों या दो मंडलियों द्वारा प्रश्नोत्तर के रूप में गाये जाते हैं। अनेक लोकोक्तियाँ भी लोक-गीतों में टँकी रहती हैं। भडली-वाक्य (काठियावाड़ी रचना) इसी प्रकार की है। ये वाक्य धर्मशास्त्र की भाँति सूत्र-रूप में मिलते हैं। ऋतु-ज्ञान आदि की रक्षा में भी लोक-गीतों ने अमोघ कार्य किया है। एक उदाहरण में देखिये :—

पूरव ताणे काचबी जो आथमते सूर।
भडली वायक एम भणे दुधे जमाड़ू कूर।

अर्थात् 'सूर्यास्त के समय यदि पूर्व में इन्द्र धनुष दिखायी दे तो, भडली कहती है कि वह लोगों को खीर खिलायेगी, अर्थात्, मानसून सफल होगी और वर्षा होगी।'

इस तरह की लोकोक्तियाँ प्रत्येक देश की भाषा में मिलती हैं। अंग्रेजी की एक इसी अभिप्राय की लोकोक्ति देखिये :—

A Rainbow in the morning
Is a Shepherd's Warning,
A Rainbow at night
Is a Shepherd's delight.

भारत के अनेक प्रान्तों और भाषाओं में जो लोक-गीत प्रचलित हैं, वे परम्परा की एकता का सन्देश देते हैं। इस परम्परा का चिन्ह संस्कृत-साहित्य में मिलता है। संस्कृत की लोक-कथाएँ लोक-साहित्य की परम्परा का साक्ष्य देती हैं। गुणाढ्य की बृहत्कथा में लोक-कथाओं को स्मृति और कण्ठ के बन्धन से मुक्त करने का प्रयास ही दीख पड़ता है। इसकी भाषा 'पैशाची प्राकृत' भी एक प्रौढ़ प्रमाण है। सोरठ के एक विद्वान, पादलिप्ताचार्य ने दूसरी शती में संस्कृत में भी एक संकलन किया था जिसका नाम उसने 'तरंगलोला' रखा था। बाद के संकलन यथा कथासरित्सागर (सोमदेवकृत—११ वीं शताब्दी), क्षेमेन्द्र की बृहत्कथा मंजरी, वैताल पंचविंशिका, सिंहासन द्वात्रिंशिका, और शुक-सप्तति आदि रचनाएँ भी लोक-साहित्य की निधि के रूप में ही संस्कृत या अन्य भाषाओं के विद्वानों को उपलब्ध हुई हैं। विद्वान् तो यहाँ तक भी कहते हैं कि बौद्ध जातक बुद्ध के बहुत पहले की प्रचलित लोक-कहानियाँ हैं। उन्हीं में कुछ रंग देकर उन्हें धार्मिक रूप दिया गया है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि लोक-गीतों की परम्परा प्रत्येक देश में है। वे सर्वत्र प्राय: एक ही से होते हैं। अंग्रेजी लोक-गीत जिनको Ballad कहते हैं, 'प्रेम-गीत' होते हैं, जिनमें छोटी या बड़ी कोई कहानी होती है। उनमें

लोक-जीवन का वर्णन होता है। भारतीय भाषाओं में मिलने वाले लोक-गीतों में भी यही बात मिलती हैं। उनमें भारत देश के घरेलू जीवन यथा बाल-विवाह और उसके परिणाम, नव-बाल-बधू के प्रति सास-ननद के दुर्व्यवहार आदि के सजीव चित्र मिलते हैं। शादी-विवाहों पर स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले गीतों में भी जीवन के ऐसे ही चित्र मिलते हैं। ये गीत माँ से बेटी तक निर्बाध गति से चले जा रहे हैं। न जाने इनकी रचना करने वाला कौन महाभाग्य रहा होगा। गुजरात और पंजाब, गुजरात और राजस्थान और राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के अनेक लोक-गीत बिल्कुल एक से हैं जिनसे इन प्रान्तों के पुरातन सम्पर्क का आभास मिलता है। राधा और कृष्ण की प्रेम-कथाओं ने देश के अनेक प्रान्तों के लोक-गीतों में चिर-आवास बना रखा है।

भारतीय नारियों के अनेक व्रतों में, कहानी और गीत दोनों रूपों में, बहुमूल्य लोक-साहित्य संचित है। इस नारी-साहित्य के भी दो अंग हैं—एक तो कन्याओं का साहित्य और दूसरा विवाहिता नारियों का साहित्य। व्रत-भेद से दोनों अंगों में भेद का होना स्वयंसिद्ध है।

भील आदि कुछ पिछड़ी जातियों का भी कुछ मौखिक साहित्य है और उसमें गीत प्रधान हैं। इन लोक-गीतों में कथा-प्रवृत्ति के साथ रहस्य-प्रवृत्ति का भी योग है। उनका अलौकिक अंश ही 'रहस्य' का आधार है, जिसको न तो वे स्वयं समझते हैं और न समझा ही सकते हैं। उनके वे गीत अनेक धार्मिक मान्यताओं को प्रतिष्ठा देते हैं। राजस्थान में मध्यकाल में, और उससे कुछ पहले भी, अनेक छोटे-छोटे राजा और जागीरदार रहते थे जो अपने-अपने राज्यों को बढ़ाने के निमित्त अथवा सुन्दरियों के निमित्त युद्ध छेड़ देते थे। ऐसी अनेक घटनाओं के वर्णन उक्त लोक-गीतों में संचित हैं, किन्तु वे लोक-जीवन को नहीं भुला सके हैं। चारण और भाटों ने प्रायः 'वीर-गीत' गाये हैं। ये भी लोक-गीत ही हैं। इनमें कोई कहानी अवश्य रहती है। ये कहानियाँ 'दूहों' या 'सोरठों' में ही रही हैं। लोक-गीतों के भी दो रूप हैं—छोटे और बड़े। छोटे गीत प्रायः ग्वाले, गड़रिये (भेड़-बकरी चराने वाले) आदि गाते हैं और बड़े गीत प्रायः भाट-चारणों की सम्पत्ति बने हुए हैं। इनके कहानी कहने और गीत गाने का ढंग बहुत चमत्कारी होता है। भाट लोग ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनमें भाव की अपेक्षा ध्वनि का अधिक प्रभाव ओत-प्रोत रहता है। अलंकारों से मिली हुई ध्वनियाँ ही भाटों के गीतों का सौन्दर्य होती हैं। उक्त गीतों की भाषा 'ब्रज' होती है, किन्तु, यत्र-तत्र और कभी-कभी सर्वत्र भी, राजस्थानी और गुजराती का प्रभाव स्पष्ट रहता है। इस भाषा में आधे अप्रयुक्त शब्द होते हैं और आधे बोली के। उनके गाने में वैयक्तिकता और अनगढ़ सौन्दर्य रहता है। भाट-चारणी दोहे या गीत मारवाड़ी में बहुत लिखे

जाते हैं, जिसको आजकल राजस्थानी कहा जाता है। भाट-चारणी साहित्य की अभिव्यक्ति एक अद्भुत भाषा में हुई है जिसमें सिंधी, राजस्थानी और ब्रज भाषा का मिश्रण है।

भारत में इन लोक-गीतों के व्यावसायिक गायकों की कई क़िस्में है। भाट, चारण, रावल्य, और तुरी तो हिन्दू गायक होते हैं और मीर, लुंघा और ढाढ़ी मुसलमान गायक होते है। हिन्दू गायकों में से भाट और चारण राजपूतों से सम्बन्धित रहे हैं। रावल्यों का सम्बन्ध काठी राजाओं से रहा है। तुरी लोग ढेढ़ जैसी जातियों से सम्बन्धित रहे हैं तथा मीर, लुंघा और ढाढी लोगों को मुसलमान परिवारों में अधिक प्रश्रय मिलता रहा है। ये ढाढी लोग बाबी मुसलमानों में बहुत माने जाते हैं और यहाँ तक कहा जाता है कि बाबी कमाते हैं और ढाढी खाते हैं।

लोक-गीत गाने वाले या कहानी कहने वाले टुकड़े-टुकड़े करके गाते हैं। वे बीच-बीच में हुक्का पीने या अफीम की गोली लेने के लिए अवकाश प्राप्त कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त चारणों और भाटों के कथानक में अनेक छोटे-छोटे अन्तर भी हो जाते हैं और पुनरावृत्तियाँ तो इतनी होती हैं कि उन्हें सुरूप देने के लिए बड़ी कतर छाँट की आवश्यकता होती है। इन गीतों में कुछ ऐसे भी होते हैं जो नारी-लोक में सुनाने योग्य होते हैं किन्तु उनमें अश्लीलता का कहीं नाम तक नहीं होता।

यदि विश्व में लोक-जीवन नाम की कोई चीज रही तो लोक-गीत भी जीवित रहेंगे। कला और प्रेस के हाथों से भी लोक-गीत का ध्वंस नहीं हो सकेगा। कलात्मक साहित्य से अलग रहकर अनुश्रुति (lore) की परम्परा में लोक-गीत का जीवन-प्रवाह सदैव मिलेगा। प्रो० किटरिज का यह मत सही है कि "लोक-गीतों के अध्ययन करने का अर्थ जनता के काव्य का अध्ययन करना है और जनता का काव्य कला-पूर्ण काव्य से भिन्न है। "लोक-गीतों की प्राचीनता का सही अनुमान कठिन है। कौन कह सकता है कि इस परम्परा का उदय कब हुआ होगा।" मि० सिजविक के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि "लोक-गीतों की सृष्टि साहित्य की सृष्टि से, यहाँ तक कि वर्णमाला की सृष्टि से भी पहले की है।" वह निरक्षर जनता की सम्पत्ति के रूप में ही हम तक आयी है। लोक-गीतों को हम मौखिक साहित्य भी कह सकते हैं।

"शिक्षा इस मौखिक साहित्य की सहायक नहीं होती। संस्कृति इसको बड़े वेग से नष्ट कर देती है। पढ़ी-लिखी जाति अपनी परम्परागत कहानियों की अवहेलना करने लगती है, उनसे उसे लज्जा होने लगती है (लज्जा की मात्रा चाहे अधिक न हो)। परिणाम यह होता है कि उसकी मौखिक प्रेषण-शक्ति इच्छा

के सहित लुप्त हो जाती है और एक दिन समस्त जनता का साहित्य केवल निरक्षरों की सम्पत्ति रह जाता है और यदि पुरातत्त्व प्रेमी उसे संगृहीत न करलें तो अपना अस्तित्व ही खो बैठता है।"[1]

आज भी देहातों में देखें तो हजारों गीत, आख्यायिकाएँ एवं दन्तकथाएँ गाँव के अपठित लोगों के मुख से अथवा चारण-भाट-बंदीजनों के मुख से सुनने को मिलेंगी। इनमें से कुछ, अधिक हृदयस्पर्शी होने के कारण विशेष प्रचलित हो जाते हैं और अन्त में किसी अक्षरज्ञाता उत्साही पुरुष के हाथ में पड़कर पुस्तक के लिखित रूप को धारण कर लेते हैं। देश, काल और वक्ता-भेद के अनुसार इन मौखिक लोक गीतों के अनेक रूप मिलते हैं, जिनमें से कई लेख-बद्ध हो जाते हैं।

व्यक्ति-गुण और परिस्थितियों के भेद से ही उन गीतों का अन्तर प्रकट होता है किन्तु गीतकार, विशेष के रूप में न होकर सामाजिक प्रतिनिधि के रूप में ही, समाज के भावों और विचारों को प्रस्तुत करता है। अतएव लोकगीत का मौलिक गुण व्यक्ति-परकता या व्यक्ति-संवेदना का अभावमात्र है। इनमें गीतकार का कोई मूल्य नहीं होता और संयोगवश नहीं, प्रत्युत कारणवश, वे हमारे पास अपने रचयिता के नाम के बिना ही आये हैं।

चौथी विशेषता यह है कि यदि उनका कोई रचयिता हो सकता है तो जनसमुदाय ही हो सकता है, न कि व्यक्ति-विशेष। प्रसिद्ध कहानी लेखक जेम्स ग्रिम का मत है कि लोक-गीत का रचयिता व्यक्ति नहीं, बल्कि जन-समुदाय है क्योंकि लोग-गीतों में जन-समुदाय की आत्मा सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित होती है। मानव-जाति-विज्ञान (Anthropology) और मानव-समुदाय के आदिम संस्कार-सम्बन्धी अन्वेषणों के आधार पर प्रो० किटरिज जन-समुदाय का काव्य-निर्माता होना असम्भव नहीं मानते हैं। "सामाजिक अवसरों या उत्सवों पर समुदाय की मनोवृत्तियाँ और भावनाएँ एक ही लक्ष्य या उद्देश्य की ओर रहने से किसी ऐसे गीत या गीतों का अनुमान कर लेना, जिनमें संवेदना की एकता के कारण व्यक्तियों के भाव एक ही प्रकार से प्रकाशित हों, बुद्धि का अत्याचार न होगा।"

इस मत के सम्बन्ध में यह मानने में तो कोई आपत्ति नहीं कि विशेष मनोभावों के तीव्रतम होने की दशा में ही लोक-गीत बनते हैं और उनको बनाने की प्रेरणा जनसमुदाय देता है; परन्तु जनसमुदाय की उत्तेजनाओं को संकलित करके गीत-रूप में संकलित करने वाला कोई न कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति उस समाज में अवश्य रहता है।

प्रो० गमीयर ने लोक-गीतों की उत्पत्ति के विषय में इस बात पर विशेष

---

[1] प्रो० किटरिज

ज़ोर दिया है कि लोक-गीत के निर्माण का कार्य अचिंतितपूर्व कृत्य है अर्थात् किसी घटना को मनाने के लिए उपस्थित जन-समूह का उत्तेजित हृदय तत्काल ही सामूहिक प्रयास के रूप में गीत-काव्य की रचना कर देता है। इस मत को बहुत कम विद्वान् मानते हैं। यद्यपि प्रो० चाइल्ड ने अभिनय और संगीत के गुणों को प्रधानता दी है परन्तु उन्होंने निश्चित रूप से नृत्य और संगीत ही से लोक-गीत की उत्पत्ति नहीं बताई है। उनके मत से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में चारणों अथवा भाटों की जाति-विशेष में वंश-परम्परा से यह काम रहा होगा कि वह जन-अभिरुचि के अनुरूप समय-समय पर गीत-काव्य बनाकर समुदाय में उनका प्रचार करे।

गीत-काव्य निश्चित रूप से जनतन्त्रीय काव्य है। वह जनता का, जनता के लिए निर्मित, और जनता द्वारा निर्मित, लोकप्रिय काव्य है। कलात्मक कविता के विपरीत इसकी विशेषता यह होती है कि इसमें मानव-समाज की आदिम मनोवृत्तियाँ और भावनाएँ, उनके हर्ष-उल्लास, शोक-विषाद, प्रेम-ईर्ष्या, भय-आशंका, घृणा-ग्लानि, आश्चर्य-विस्मय भक्ति-निवृत्ति आदि भाव अपने सरल और विशुद्ध रागात्मक रूप में प्रकाशित होते हैं। इसमें सभ्य जीवन का कृत्रिम आडम्बर, अलंकार की अस्वाभाविक चमत्कृति और प्रपंचमय जीवन की कपटपूर्ण प्रवंचना का बहुत कम आभास मिलता है। वास्तव में सच्चा काव्य वही है जिसमें मानव-जीवन का निष्कपट अभिव्यंजन होता है।

संसार की जातियाँ और देश भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु मानव-समाज की व्यापक एकता लगभग सभी देशों और जातियों में एक सी है। यही कारण है कि लोक-गीतों के अन्वेषकों ने संसार के भिन्न-भिन्न भू-भागों की भिन्न-भिन्न जातियों के लोक-गीतों में विषय और वर्णन-शैली तथा इतर विशेषताओं की आश्चर्यजनक समता पायी है। कहीं-कहीं तो कथाएँ तक मिलती-जुलती हैं। सब देशों के गीत-काव्यों की तुलना करके देखने पर सब में प्राकृतिक सरलता, आडम्बरशून्यता, अन्धविश्वासों की बहुलता, प्रेम, ईर्ष्या, वीरता आदि भावों की द्योतक रोचक कथाएँ प्राप्त होती हैं। अतएव यह कह देना कि 'आधुनिक लोक की भिन्नता यदि कहीं एकता का रूप धारण कर सकती है तो लोक-गीतों और लोक-गाथाओं के रंग-मंच पर।'

तुलना की कसौटी पर विश्व-गीतों में निम्नलिखित समताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

(१) अपने प्रिय को पाने के लिए सच्चे प्रेमी या सच्ची प्रेमिका का अटूट प्रयत्न सफल होता है और आसुरी रीति से ब्याह होता है।

(२) विमाता या सौत की ईर्ष्या प्रेम-पथ की बाधा के रूप में प्रस्तुत होती है।

(३) विश्वासघात प्रेम-पथ में अनेक दुर्घटनाओं का कारण बनता है।

(४) वीर-गीतों में तो आदर्श वीरता होती ही है, किन्तु प्रेम-गीतों में भी आदर्श वीरता के आख्यान प्रस्तुत हैं।

(५) मानव-भाग्य एक पहेली के रूप में प्रस्तुत होता है और नायक नायिका का मिलन ही पहेली का उत्तर होता है।

(६) पुनर्जीवन का सिद्धान्त विश्व-विश्वास के रूप में प्रकट होता है।

(७) अलौकिक सत्ता में विश्वास मिलता है।

(८) कथा उपदेशात्मक अरोचकता से मुक्त होती है।

(९) धार्मिक दृढ़ता को प्रशस्ति मिलती है।

(१०) पशु-पक्षी मानव-सहायक बनते हैं।

लोक-गीतों की रचना और बाह्य रूप के सम्बन्ध में भी कुछ स्मरण रखने योग्य साधारण बातें हैं जिनसे उनकी उत्पत्ति और विशेषता के कारणों पर प्रकाश पड़ता है :—

(१) प्राचीन लोक-गीतों में ध्रुवक (refrain) का बहुधा प्रयोग मिलता है। इससे यह अनुमान बहुत मान्यता प्राप्त कर लेता है कि ये समूह-गीत हैं, किसी एक व्यक्ति के नहीं। कुछ लोक-गीतों में ध्रुवक का प्रयोग नहीं मिलता। इससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे गीत ध्रुवक-प्रथा के लोप हो जाने पर बने, अथवा व्यक्ति उनका रचयिता रहा है।

(२) आवृत्ति लोक-गीतों का एक प्रमुख लक्षण है। यों तो ध्रुवक या टेक भी आवृत्ति ही है किन्तु उसका प्रयोग छंद के किसी नियत स्थल पर, विशेषत: अन्त में, मिलता है। कदाचित् आवृत्ति-प्रयोग विषय की ओर ध्यान आकर्षित करने की दृष्टि से रहा हो किन्तु प्राचीन लोक-गीतों की यह एक विशेषता है।

(३) तीन और सात (इन दो संख्यावाचक शब्दों) का प्रयोग-बाहुल्य मिलता है जैसे त्रिलोक, त्रिगुण, सप्तर्षि, सप्तसमुद्र आदि।

पाश्चात्य विद्वानों ने लोक-गीतों के अनेक प्रकार बतलाये हैं :—

(१) **परम्परागत लोक-गीत** (Traditional Ballad)—ये मौखिक रूप में उपलब्ध हुए हैं। ये ही सच्चे गीत काव्य माने जाते हैं। इनमें से कुछ तो लिखित रूप में आ गये हैं किन्तु कुछ अब भी मौखिक रूप में ही प्रचलित हैं। इनमें व्यक्तित्व की छाप नहीं होती। इनका सामाजिक रूप ही इनकी विशेषता है।

(२) **चारणी लोक-गीत**(Minstrel Ballad)—इनकी रचना चारण, भाट, ढाढी आदि व्यवसायी गायकों द्वारा होती है। ये व्यक्तिगत कृति होने से

व्यक्तित्व की छाप से अंकित होते हैं। इनमें व्यक्तिस्वाभाविक जटिलता आ ही जाती है किन्तु पहले प्रकार के गीतों में सरलता और स्वाभाविकता अक्षुण्ण रहती है। ये अपेक्षाकृत पीछे की कृतियाँ हैं।

(३) **विकृत लोक-गीत** (Broadside Ballad)—ये गीत आरम्भ में तो परम्परागत गीत ही होते हैं, पर समय के बड़े अन्तर से और निम्न कोटि की जनता के मुख में पड़ कर ये न केवल अपना मौलिक रूप ही खो बैठते हैं, वरन् कहीं-कहीं तो कथागत घटनाएँ भी विकृत कर बैठते हैं। उत्तर भारत और मध्य प्रदेश में प्रचलित आल्हा गीत इसी कोटि का है। 'ढोला मारू' गीत के भी कई विकृत रूप प्रचलित हैं जो देहात के ढाढियों के मुख से गान के रूप में सुने जाते हैं।

(४) **साहित्यिक लोक-गीत** (Literary Ballad)—पिछले तीन प्रकार के गीतों के विपरीत इनके लेखक साहित्यिक विद्वान् होते हैं। इनमें कला के कुशल हाथों से साहित्यिक विधान रूप सँवारते हैं। ये गीत बहुत अर्वाचीन रचनाएँ हैं। सुभद्राकुमारी चौहान का 'झाँसी की रानी' गीत इसी कोटि का है।

लोक-गीतों में मुख्यतया श्रृंगार या वीर या दोनों की प्रधानता होती है। अन्य रसों का पुट आवश्यकतानुसार मिलता जाता है।

१२

भारतीय लोक-गीतों की परम्परा

चिरकाल से संगीत और कविता का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। संस्कृत का गीत या लोक-गीत शब्द भी 'संगीत' को अपने अर्थ में धारण किये हुए है। इसमें संदेह भी क्या है कि मानव-हृदय की आदिम मनोवृत्तियों को प्रकाशित करने में संगीत ने बड़ा भारी सहयोग दिया है। संस्कृति और धर्म के प्राण रूप वेदों की ऋचाओं तक में संगीत की मनोहर तानें भरी हुई हैं। सामवेद ने तो संगीत-लोक में भारत के झंडे को सबसे ऊँचा फहरा दिया है।

संगीत के अतिरिक्त दूसरी विशेषता जो लोक-गीतों में पायी जाती है वह है उनका नाट्य और अभिनेय गुणों से युक्त होना। नाट्य में नृत्य और अभिनय सम्बन्धी सभी गुण रहते हैं और ये दोनों गुण मानव-अभिरुचि के आकर्षण के सहज साधन हैं। भारतीय नाटकों की उत्पत्ति से यह तथ्य प्रकट और प्रमाणित हो जाता है कि धार्मिक प्रेरणाओं से उत्साहित होकर जनता प्राचीन काल में किसी देव-मंदिर या अन्य पवित्र स्थान में एकत्र होकर किसी समकालीन अथवा पूर्वघटित घटना की स्मृति में कीर्तन, गुणगान, नृत्य आदि किया करती थी और ऐसे ही अवसरों पर किसी वीर या धार्मिक पुरुष की कृतियों का रूपक रचकर प्रदर्शन किया करती थी। पुराणों में श्रीकृष्ण के पुत्र-पौत्रों से सम्बन्धित एक इसी प्रकार के नाटकीय समारोह की आयोजना का उल्लेख मिलता है। नाटक से सम्बन्धित नट् धातु भी इस तथ्य का प्रमाण देती है। भरत और धनंजय भी इस मत का समर्थन करते हैं कि मानव-हृदय की भावनाओं को प्रकाशित करने में नृत्य ने आदि काल से सहयोग दिया है।

'रास' शब्द भी हमारे ध्यान को इस ओर आकर्षित किये बिना नहीं रह सकता। हमारा प्राचीनतम लोक-साहित्य नृत्यसम्बद्ध रहा है। नर और नारी लयात्मक गीत से वृत्ताकार घूमते हुए लोक-गीत गाते थे, जो प्रायः श्रृंगारिक

होते थे। उनकी यह प्रक्रिया 'रास' कहलाती थी। कभी-कभी तो केवल नर ही, और बहुधा स्वयं नारियाँ ही 'रास' किया करती थीं। मथुरा 'रास' का मूल स्थान था और ईसा के बहुत पहले ही इसका सम्बन्ध श्रीकृष्ण से जोड़ दिया गया था, जो इसके प्रवर्तक माने जाते थे। वृष्णि, सात्वत और आभीर नाम की घूमनेवाली जातियों ने सबसे पहले गोपाल की उपासना प्रारम्भ करके रास को अर्द्धधार्मिक मान्यता प्रदान की।

रास ने शौरसेनी बोली में मध्य देश के आदिम गीत प्रस्तुत किये। इसने लोक-लय को भी जन्म दिया जिसका नृत्य में उपयोग किया जा सकता था और जिसने, यदि संस्कृत नाटक की सृष्टि नहीं की तो, उसे प्रभावित तो अवश्य किया। कृष्ण—रास-नृत्य का नायक, नागर गोपाल, परम प्रेमी, साक्षात् प्रेम-देव, मदन से भी अधिक मनोहर—श्रृंगार रस का केन्द्र बन गया और लोक-कल्पना ने राधा में कृष्ण के निमित्त सुन्दर वधू को ढूँढ़ निकाला।

भास ने करीब २२ सौ वर्ष पूर्व अपने 'बालचरित' नामक नाटक में गोपियों के साथ श्रीकृष्ण के 'हल्लीसक' नृत्य का वर्णन किया है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में प्रचुर लोक-साहित्य उपलब्ध था जिसका एक प्रमुख उदाहरण तामिल का 'शिलप्पदिकारम्' है। इसमें श्रीकृष्ण (मायावन्) की कथा है जो अपनी प्रिया राधा (नप्पिन्नइ) के साथ गोप-मण्डली में ग्यारह प्रकार के नृत्यों का प्रदर्शन करते हैं। नप्पिन्नइ को नीला भी कहा गया है जो श्रीदामा की बहिन है।

'हरिवंश' में भी श्रीकृष्ण के 'हल्लीसक' नृत्य का उल्लेख मिलता है। भागवत ने भी रास का काव्यमय वर्णन किया है जिसका सम्बन्ध श्रीकृष्ण से है। ब्रह्मपुराण में, और ब्रह्मवैवर्त में उससे भी बढ़ कर, राधा और अन्य गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की रास-लीला का वर्णन मिलता है।

एक प्रमुख लोकोत्सव के रूप में भी रास का बड़ा मूल्य है। यही उस यात्रा का आधार बना, जो एक प्रकार के नाटक के रूप में धार्मिक उत्सवों और लोक-मेलों में अव्यवसायियों द्वारा रंग-मंच पर खेला जाता था। नियमित नाटक के विलुप्त हो जाने पर भी 'यात्रा' का सामाजिक महत्त्व अब तक बना हुआ है। नर्तक यात्रियों की मंडलियाँ, जिनमें नर-नारी दोनों का समावेश होता है, रास-लीला का अभिनय करती हुई परिभ्रमण करती रहती थीं। होलिकोत्सव, मदनोत्सव तथा डोलोत्सव के अवसर पर रास होता था। प्राचीन काल से ही गुजरात और राजस्थान की स्त्रियाँ अनेक उत्सवों पर 'गरबा' नामक 'रास' करती चली आ रही हैं। गरबा का विशेष रूप 'नवरात्रि' के दिनों में देखने को मिलता है। ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ एकत्र होकर मिट्टी के पात्र में

रखे हुए दीपक के चारों ओर वृत्ताकार नाचती हैं और लोक-लय में प्रेम-गीत गाती जाती हैं। इस समय वे साथ-साथ ताली बजाती हुई एक-साथ पद-प्रक्षेप करती हैं। शार्ङ्गधर (१२ वीं शताब्दी ई०) ने संगीत-रत्नाकर' में 'लास्य' नृत्य की परम्परा का उल्लेख किया है जिसे बाण की पुत्री उषा सौराष्ट्र की स्त्रियों को सिखाती थी। उसने यह कला शंकर भगवान् की भार्या देवी पार्वती से सीखी थी। हेमचन्द्र ने भी 'रासक' का उल्लेख किया है'। लक्ष्मण गणि (११४३) उसका इस प्रकार वर्णन करता है—

"केवि उत्तालतालाउलं रासयं कुणहिं करनिच्चियं अवरि वरहासयं। अर्थात् कुछ नारियाँ ऊपर-नीचे हाथ करके साथ-साथ तालियाँ बजाती हुई रास-नृत्य करती हैं और कुछ लयात्मक कर-प्रक्षेप के साथ मुस्कराती जाती हैं।"

'सप्तक्षेत्रिरास' नाम की एक प्राचीन गुजराती रचना (१२७१) में दो प्रकार के रासों का उल्लेख मिलता है—एक तो 'ताल-रास' और दूसरा 'लकुट-रास'। ताल-रास में लयात्मक करतल-ध्वनि अनिवार्य मानी गई थी और लकुट-रास में छोटी-छोटी लकड़ियों की परस्पर प्रताड़ना से लय-ध्वनि उत्पन्न की जाती थी। रास के ये दोनों प्रकार अब भी लोक-प्रचलित हैं।

स्वभावतः रास नृत्य ने उन काव्य-कृतियों को जन्म दिया जिनमें मदनोत्सव या राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन रहता था। उसकी विशेषता छन्द-शास्त्र के कठोर नियमों से मुक्ति थी। प्रत्येक कविता का अपना नियम था, किन्तु लय का होना आवश्यक था जिससे वह लोक-लय में, जिसे 'राग' या 'देशी' कहते थे, गाया जा सके। ऐसी काव्य-कृति को, जो रास के साथ गायी जा सकती थी, रास या रासक नाम दिया गया। उसी को बाद में 'गरबा' नृत्य के सम्बन्ध से 'गरबी' भी कहने लगे।

वह रास जो वसन्तोत्सव या फाग के समय गाया जाता था, 'फाग' ही कहलाता था। फागु-कविता में वसन्त के गौरव एवं प्रेमियों और उनके नृत्यों का वर्णन मिलता है। उनसे हमें चौदहवीं शताब्दी के पूर्व के गुर्जर देश के स्वतन्त्र और सुखी जीवन की झाँकी मिलती है। स्थूलिभद्र फाग (१३२४) राजस्थानी और गुजराती का प्राचीनतम फाग है।

यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त के लगभग 'रास' ने अपना अर्थ बदल दिया। इसका प्रयोग उस बड़ी प्रबन्ध कविता के लिये होने लगा जिसकी पंक्तियाँ तुकान्त होती थीं। उनमें से कुछ कविताएँ दोहा (दुहा) और चौपाई (चुपाई) जैसे अपभ्रंश छन्दों में होती थीं और कुछ ग्यारहवीं शताब्दी से पहले के प्रचलित लोक-राग 'देशी' में होती थी। सं० ११११८ में यशोदेव ने अपने 'नवतत्त्व भाष्य' में अपभ्रंश भाषा के ऐसे

रास का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने इस प्रकार की रचना को 'महाकाव्य' नाम दिया है।

प्राचीन राजस्थानी या अपभ्रंश का सबसे पहला रास शालिभद्र का 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' है। कदाचित सबसे पहले लोक-चरितों और धर्म-कथाओं को ही रास कहते थे, किन्तु बाद में इस रूप में रची हुई सभी कविताएँ, चाहे वे किसी विषय की हों, रास कहलायीं और पुरुष और स्त्रियों द्वारा उत्सवों पर गायी जाने लगीं। इस प्रकार का जैन-साहित्य परम्पराभुक्त हो गया। नये कवियों ने अपने पूर्वजों की संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश अथवा राजस्थानी या गुजराती की कृतियों को ही रास का रूप देकर अपने को कृतकार्य समझा।

लोक-लय में गेय प्रेम-काव्य एक अन्य काव्य-रूप था। नेमिनाथ-चतुष्पदिका (१२६९) ऐसे काव्य का सबसे पहला उदाहरण है। इसमें नेमिनाथ से वियुक्त राजल का विरह-विलाप है। वह बारहों महीनों के साथ बदलते हुए मनोभावों का वर्णन करती है। कालान्तर से ऐसी कविताएँ बारहमासी या बारहमासा नाम से बड़ी लोकप्रिय हो गयी।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना कि लोक-गीतों का उदय संगीत और नृत्य के साहचर्य में हुआ, अनुचित नहीं है। प्रोफेसर गम्मीयर ने यह ठीक ही सोचा है कि लोक-गीतों की उत्पत्ति पूर्व-चिन्ता और मनन की वस्तु नहीं है। किसी घटना को मनाने के लिये उपस्थित जन-समूह का उत्तजित हृदय नाचते-गाते हुए तत्काल ही सामूहिक प्रयास के रूप में गीतों की रचना कर देता है। इस मत को बहुत थोड़े विद्वान् मानते हैं, किन्तु लोक-गीत की उत्पत्ति में सामूहिक उत्साह और प्रेरणा का सहयोग है, इसमें किसी को आपत्ति होने की बात नहीं है। प्रो० चाइल्ड ने जन-अभिरुचि के अनुरूप समय-समय पर धारण और भाटों द्वारा निर्मित गीत काव्य को लोक-गीत कहकर जनोत्साह और जन-प्रेरणा के महत्त्व को अक्षुण्ण रक्खा है। उन्होंने भी लोक-गीतों में अभिनय और संगीत के गुणों को प्रधानता दी है, किन्तु नृत्य और संगीत से ही उसकी उत्पत्ति को वे एकदम कहीं स्वीकार कर लेते।

कहना न होगा कि लोक-गीत जनतन्त्रीय काव्य है। वह व्यक्ति का नहीं, जनता का काव्य है और उसकी सृष्टि जनता के लिए ही हुई है। उसका लोक-गीत होना उसकी लोक-प्रियता का प्रमाण है। लोक-गीत और कलात्मक काव्य में बहुत अन्तर है। लोक-गीत मानव के मूल मनोभावों को प्राथमिकता मिलने से जीवन और कला के आडंबर को कोई पद नहीं दिया जाता। इसमें मनोभाव अपने सरल और विशुद्ध रागात्मक रूप में प्रकाशित होते हैं। 'इसमें सभ्य जीवन का कृत्रिम आडंबर, अलंकारों की अस्वाभाविक चमत्कृति और

१३

दोहा छन्द का उदय और विकास

इस दो पंक्तियों के लघु वृत्त ने काव्य-जगत् में जो आत्म-प्रसार किया वह इसकी तात्त्विक ग्राह्यता का प्रौढ़ प्रमाण है। इस छन्द की काव्य-देशीय क्रांति से शोध का प्रत्येक विद्यार्थी अवगत है। केवल हिन्दी में ही नहीं, इस वृत्त की गति अन्य भाषाओं में भी रही है। इस छन्द के रूप में राजस्थानी की विशेष सम्पत्ति अक्षुण्ण है। हिन्दी से बहुत पहले पुरानी राजस्थानी ने इसके वैभव को आत्मसात् किया। दोहे के मार्ग से ही अनेक भारतीय भाषाओं ने अपनी मौलिक एकता का दर्शन-लाभ किया है। बंगाल के भाषा-शास्त्री सिद्धों के दोहों से अपनी भाषा के विकास का सम्बन्ध जोड़ते हैं। पंजाबी और गुजराती भाषा की सम्पन्नता में भी दोहे का कुछ कम सहयोग नहीं है। मैथिली, भोजपुरी, बुन्देली, ब्रज बोली की तो बात ही क्या, पहाड़ी भाषाएँ तक दोहा का लोहा मानती हैं। सिद्धों का अक्षय धन दोहों के ही भण्डार में भरा हुआ है। सन्तों का ब्रह्म-लाल दोहों की गुदड़ी ही में निहित है।

व्यापकता की दृष्टि से यह छन्द अपनी तुलना नहीं रखता। ऐसा कोई विषय नहीं दीख पड़ता जिसमें दोहे की गति न हो। जीवन का शायद ही कोई पक्ष होगा जिसको दोहे ने न देखा हो। दोहों के पतले नल से अनेक काव्य-रस बहते रहे हैं। अतएव यह कहना असंगत नहीं कि लोक-भाषाओं के काव्य रासायनिकों ने 'ब्रह्मानन्द सहोदर' को अधिकांशत: दोहे में ही प्रवाहित किया था। हर्षवर्धन से लेकर आज तक अनेक छन्दों ने लोक-भाषा-भूमि पर दोहा के शासन को स्वीकार किया। युग आये और गये किन्तु भारत भूमि से दोहे का दौर-दौरा न गया। जब अनेक छन्द स्वजातीय विप्लव के गर्भ में अपनी प्राण-रक्षा के लिए आविर्भाव और तिरोभाव की आड़ ले रहे थे, दोहा उस समय

भी हिन्द महासागर की सी गम्भीरता और हिमवान् के से अटल गौरव का प्रतीक बना रहा।

दोहे ने कितने ही राज्यों को बनते-बिगड़ते देखा है, समाज के कितने ही आवर्तनों में इस लघु-छन्द ने स्वच्छन्दता से परिभ्रमण किया है, कितने ही अविवेकियों को इसने विवेकदान दिया है और कितने ही ऊसर हृदयों को रसाप्लावित किया है। जिसमें अनेक खंजरों को दामिनी की गति देने की, अनेक दानवों को मानव बनाने की, लोक-भाषा-देश में भारतीय संस्कृति का सुरक्षित रखने की अमोघ शक्ति हो और जो अनेक प्राकृतिक विभीषिकाओं में होकर दुर्दमता से गुजर सकता हो, ऐसे वृत्त का इतिवृत्त न जानना शोध के विद्यार्थी का अकृतज्ञत्व ही नहीं, बौद्धिक अत्याचार भी होगा।

दोहे की जन्म-तिथि अभी प्रकाश में नहीं आयी है और न इस छन्द ने अपने नाम के कारण को ही हवा लगने दी है। कितने ही पण्डित इसकी खोज में निकलकर हवा खाते चले गये, कोई भी शोध-क्षेत्र में अपभ्रंश से पूर्व की ओर पदार्पण न कर सका। अब कुछ तेनसिंह इस साहित्य-शिखर पर आरोहण कर रहे हैं। आशा है वे कुछ देख सकें किन्तु कल्पना की उड़ान उन्हें वहाँ ले जाकर भी स्थित नहीं कर सकती। साहित्य का मार्ग ही लेखनी की गति से उन्हें उस शिखर पर पहुँचा सकता है और वही उनको प्रतिष्ठा दे सकता है। वह मार्ग देश के अनेक ग्रन्थालयों में लाल-पीले कपड़ों में बँधे-पड़े प्राचीन साहित्य का मार्ग है। जब तक इसका अवलोकन नहीं किया जायेगा, लक्ष्य-सिद्धि दुरूह ही नहीं, असम्भव भी बनी रहेगी।

अनुष्टुप, आर्या और गाथा को देखकर उनको 'दोहा' छन्द से सम्बद्ध करना उचित नहीं है। ये संस्कृत, प्राकृत और पाली के लघुवृत्त अवश्य हैं। पंक्तियाँ भी दो हैं, किन्तु इस साम्य के आधार पर उनसे दोहा का जन्म खोजना अनुमान का दुरुपयोग और बुद्धि का व्यभिचार होगा। हाँ, यह कहना अनुचित न होगा कि संस्कृत, पाली और प्राकृत के इन लघु वृत्तों ने दोहे के उद्भव को शायद प्रेरित किया हो।

दोहा तुकान्त छन्द है, अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि तुकान्त के सृष्टि-काल या उसके उपरान्त ही उसका जन्म हुआ होगा। गीतगोविन्द के पहले के संस्कृत काव्य में तुकान्त का प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु इससे यह निष्कर्ष भी नहीं निकल सकता कि तुकान्त छन्दों को वहाँ से प्रेरणा मिली होगी। दोहादि कई छन्दों की प्राचीनता यह प्रमाणित करती है कि तुकान्त की दिशा में जयदेव का प्रेरक कोई भाषा-कवि रहा होगा। 'भाषा' शब्द से मेरा तात्पर्य लोक-भाषा से है। अतएव प्रतिष्ठित 'लोक-वाणी' ही 'भाषा' संज्ञा से

अभिहित हो सकती है। प्राकृत और अपभ्रंश भी भाषा नाम पाने का अधिकार रखती हैं और वे इस नाम को पा भी चुकी हैं।

किसी प्रमाण के अभाव में 'प्राकृत कवि को दोहे का जन्मदाता मान लेना अनुचित होगा। अनेक भाषाओं के अन्वेषकों ने दोहा के जन्म को अपभ्रंश के गर्भ में खोजा है। अपभ्रंश भी बहुत पुरानी भाषा है। नाट्यशास्त्र में सिन्धु, सौवीर और उनके पड़ौसी पहाड़ी प्रदेश में प्रयुक्त एक उकारबहुल भाषा का उल्लेख मिलता है जिसमें अपभ्रंश का लक्षण है। बत्तीसवें अध्याय में भरत-मुनि ने जो उदाहरण दिये हैं वे अपभ्रंश से मिलते-जुलते या बिल्कुल अपभ्रंश ही हैं। इससे स्पष्ट है कि उस समय भी किसी प्राकृतेतर देश-भाषा का प्रचार था परन्तु उसका कोई अलग नाम नहीं पड़ा था।

सातवीं शताब्दी में अपभ्रंश न केवल बोलचाल की भाषा ही थी, अपितु उसमें साहित्य रचना भी होने लगी थी। बलभी के राजा गुहसेन के सम्बन्ध में मिले हुए शिलालेख से भी यह प्रमाणित होता है कि सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश में भी काव्य रचना होती थी। इसी समय के आसपास भामह और दण्डी का समय है। उन्होंने भी अपभ्रंश को काव्य-भाषा माना है। इससे स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक अप-भ्रंश ने इतना आदर पा लिया था कि राजा तक उसमें काव्य-रचना करने की इच्छा रखता था।

साहित्य में अपभ्रंश का एकछत्र राज्य कोई ग्यारहवीं शताब्दी तक रहा। इसके उपरान्त देश-भाषा का सम्मान होने लगा और बारहवीं शताब्दी के बाद तो अपभ्रंश का साहित्यिक महत्त्व भी बहुत-कुछ जाता रहा। स्थूल दृष्टि से अपभ्रंश का युग विक्रम की दूसरी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक माना जा सकता है। अपभ्रंश का मुख्य स्थान राजस्थान, गुजरात, मालवा, सिन्ध और पश्चिमी पंजाब था। आरम्भ में उसका विकास शायद यहीं हुआ और धीरे-धीरे समस्त भारत में उसका प्रसार हो गया। प्रान्तीय भेद रहे होंगे, पर ऐसे नहीं कि एक प्रान्त की बोली दूसरे प्रान्त वालों के लिए दुर्बोध हो।

इस विवेचन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि राजस्थान, मालवा, गुजरात, सिन्ध और पंजाब में ही 'अपभ्रंश' बोली जाती थी, देश के अन्य भागों में अपभ्रंश थी ही नहीं। दूसरे प्रान्तों में भी अपभ्रंश बोली थी, किन्तु जिस प्रकार आज खड़ी बोली ने साहित्य में प्रमुख स्थान पा लिया है उसी प्रकार अपभ्रंश काल में पश्चिमी अपभ्रंश ने साहित्यिक गौरव प्राप्त कर लिया था। देश की अन्य अपभ्रंशों को केवल बोल-चाल के काम में ही लिया गया। दंडी ने अपभ्रंश को आभीर आदि जातियों की भाषा कहा है। आभीर लोग प्रारम्भ

में सिन्ध, पंजाब में और बाद में राजस्थान और गुजरात के पास-पड़ौस में रहते थे। राजशेखर ने अपभ्रंश का प्रयोग समस्त मरु और टक्क, पूर्वी पंजाब का कुछ भाग, और भादानक प्रदेशों में बतलाया है। अन्यत्र यह भी लिखा है कि सौराष्ट्र और त्रवण देशों में भी संस्कृत के साथ अपभ्रंश का प्रयोग होता था। भोजराज ने अपने सरस्वती कंठाभरण में 'अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेनन्नान्येन गुर्जराः'—यह कहकर गुर्जरों की भाषा भी अपभ्रंश बतलायी है। इन सब कथनों से स्पष्ट है कि अपभ्रंश प्रमुखतया राजस्थान, मालवा, गुजरात, सिन्ध और पंजाब की भाषा थी और वहीं से धीरे-धीरे इसका सर्वत्र प्रचार हुआ। इस अपभ्रंश को हम पश्चिमी अपभ्रंश का नाम दे सकते हैं। इसके तीन भेद नागर, उपनागर और ब्राचड उक्त प्रान्तों में ही प्रचलित थे। जन साधारण की भाषा अपभ्रंश थी। सिद्धों ने अपने सम्प्रदाय की भाषा अपभ्रंश ही स्वीकार की क्योंकि उसके द्वारा वे अपनी विचार-परम्परा को जन सामान्य तक पहुँचाना चाहते थे। जैन विद्वानों ने प्राकृत और अपभ्रंश में ही साहित्यिक रचना की। ये लोग पश्चिम भारत के रहने वाले थे, अतएव पश्चिमी अपभ्रंश में ही उन्होंने रचनाएँ की होंगी।

पूर्व भारत में नालंदा और विक्रमशिला से सम्बद्ध वज्रयानी बौद्ध सिद्धों की कतिपय रचनाएँ लोक भाषा में प्राप्त हुई हैं। उनमें दोहा छन्द का प्रयोग मिलता है। इन रचनाओं का समय ८वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक है। सरहपा भी एक वज्रयानी सिद्ध था। डा० हरप्रसाद शास्त्री और उनके सुपुत्र विनयतोष भट्टाचार्य ने दोहा साहित्य की स्थिति सरहपा के समय (सातवीं शताब्दी का मध्य भाग) में मानी है। इस आधार पर हम दोहे को सातवीं शताब्दी के मध्य भाग तक ले पहुँचते हैं।

दक्षिण के प्रसिद्ध कवि पुष्पदंत की गत रचनाएँ अपभ्रंश में मिलती हैं जो मुख्य अपभ्रंश से मिलती-जुलती हैं। यह कवि मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के समय में हुआ था।

पश्चिमी अपभ्रंश में उत्पन्न हुआ दोहा तज्जनित लोक भाषाओं में तो फूला-फला ही, किन्तु पश्चिमी अपभ्रंश से प्रभावित अन्य देशी भाषाओं में भी समादृत हुआ। इस प्रकार दोहे का क्षेत्र न केवल राजस्थान, गुजरात, सिंध, पंजाब और मालवा तक ही सीमित रहा, अपितु गढ़वाल, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल की भाषाएँ भी दोहे से प्रभावित हुईं। नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में भोटिया भाषा में दोहों का भंडार भरा पड़ा है। अपने शैशव में ही दोहा-छंद ने जो लोक-प्रेम प्राप्त कर लिया था वह शायद आज तक किसी छन्द का सौभाग्य नहीं बना।

सरहपा के इस दोहे को

जह मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाह पवेस ।
तहि घट चित्त विसाम करु, सरहै कहिअ उवेस ।।

देखकर यह अनुमान हो सकता है कि दोहे ने सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए जन्म लिया होगा किन्तु अपभ्रंश की विविध प्रवृत्तियों को देखकर यह अनुमान भी आसानी से किया जा सकता है कि दोहे ने अपनी छलाँगें अनेक दिशाओं में भरी होंगी । 'दोहे की तुकांतता' इस बात का प्रमाण है कि यह गीत वृत्ति की करामात है । तुक से छन्द की गेयता में चार चाँद लग जाते हैं । अपभ्रंश में सिद्धों के इस प्रकार के दोहे बहुत प्रसिद्ध हो चुके हैं किन्तु उनके साहित्य ने विकास नहीं किया । एक विशेष प्रवृत्ति ही निरन्तर काम करती रही, इसलिए सिद्ध-साहित्य संकीर्ण रहा ।

विविधता की दृष्टि से जैन साधुओं ने दोहे को बहुत अपनाया । यद्यपि प्रारम्भ में जैन-कवियों के दोहे धर्म-वृत्त में ही घूमते रहे किन्तु जब कुछ मनस्वियों ने साहित्यिक त्रुटि का अनुभव किया तो उन्होंने काव्य को विविधता के क्षेत्र में उतारा । यद्यपि वहाँ भी वह धर्मप्राण ही रहा । इस प्रकार हमें प्राचीन-तम जैन साहित्य दो रूपों में मिलता है—(१) धर्मकथा साहित्य और (२) अन्य साहित्य । धर्मकथा साहित्य को चार शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है-—(क) चरित्रकथा, (ख) महापुराण, (ग) महाकाव्य और (घ) कथा-कोष (दिगम्बरों की भगवती आराधना से सम्बन्धित) अन्य साहित्य दो भागों में बाँटा जा सकता है—(क) धार्मिक—जो या तो शुद्ध सिद्धान्त-ग्रन्थ हैं, अथवा भक्ति और धर्म दोनों की समन्वित प्रेरणा का उद्घाटन करते हैं और (ख) उप-देशात्मक या नीतिविषयक । इनके अतिरिक्त अपभ्रंश में लौकिक साहित्य का भी अभाव नहीं है ।

वीरता और शृङ्गार के भी बड़े सुन्दर चित्र अपभ्रंश में मिलते हैं । अन्य छन्दों के साथ-साथ दोहा छन्द भी सब प्रकारों में कृतिपरायण रहा है किन्तु सिद्धों के दोहों को जैनों के दोहों से मिलाकर देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धों के दोहों में सरलता है और जैनों के दोहों में कुछ कठिनता । कठिनता का कारण कवियों की कलाप्रियता दीख पड़ती है । अपभ्रंश के कुछ दोहों के उदाहरण देखिये—

(१) वर गिरि-सिहर उत्तुंगमुणि, सवरें जहिं किअवास ।
नउ सा लंघिअ पंचाननैहिं, करिवर दूरिअ आस ।। सिद्धान्त

(२) जहिं कप्पिज्जइ सरिण सरु, छिज्जइखग्गिगणु खग्गु ।
तहिं तेहई भड-घड-निवहि, किन्तु पयाइस मग्गु ।। वीररस

(३) सायरु उप्परि!तणु घरइ, तलि घल्लइ रयणाइं।
सामि सुभिच्चुवि परिहरइ, संमाणेइ खलाइं॥ नीति

(४) जइ ससणेही तो मुइअ, अह जीवइ निन्नेह।
बिहिं वि पयारेंहिं गइअ, घण, कि गज्जहि खलमेह॥ शृङ्गाररस

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि दोहे ने अपभ्रंश-काल में ही अनेक रसों पर अपना प्रभुत्व जमा कर काव्य के अनेक रूपों को अपना लिया था। जैन साधुओं के हाथों में तो दोहे को पोषण मिला ही पर उससे भी अधिक चारण, भाट, बन्दीजन, ढाढ़ी, ढोली, डोम आदि जातियों से इसका पोषण और विकास हुआ। चारणों ने अपनी प्रतिभा से मारवाड़ी को अक्षय निधि प्रदान की। वीर गाथाकाल की रचनाएँ प्रायः चारणों की ही देन हैं जिनको देखकर इतिहास ने इस काल को चारण-काल के नाम से अभिहित किया है। चारण-काल की प्राचीनतम भाषा का स्वरूप वह भाषा है जिसे हम मारवाड़ी, ढूँढारी, हाड़ौती, ब्रज, गुजराती आदि अनेक भाषाओं का उद्गम कह सकते हैं। अतएव हिन्दी में दोहे का विकास यहीं से देखना पड़ेगा।

(५) भोली मुन्धि मगब्बु करि, पिक्खिवि पडुरूयाइं।
चउदहसइ छउत्तरइं, मुज्जह गयह गयाइं॥ शृङ्गाररस

इस दृष्टि से लाख फूलणी के दोहे स्मरणीय हैं। पृथ्वीराज रासो में भी दूहा-छंद का प्रयोग है। अनेक छन्दों की रचनावली में दोहे 'मनका' का काम कर रहे हैं। हेमचन्द्र आचार्य के समय तक तो दोहे का गौरव बहुत बढ़ गया था। उस समय से आगे बढ़ने वाले प्रत्येक हिन्दी कवि पर इस लघु वृत्त का प्रभाव है। 'ढोलामारू रा दूहा' को यदि हम अधिक प्राचीन न भी मानें तो किसी भी दशा में इसको १५वीं शताब्दी के मध्य भाग के पश्चात् नहीं रख सकते। कबीर और उनके समकालीन संतों के छन्द भी १५वीं शताब्दी के आसपास ही आते हैं। याद रखने की बात है कि सिद्धों और नाथ पंथियों के दोहा-साहित्य को सिद्धान्तों की तोड़-फोड़ के साथ अधिक विकसित करने का श्रेय इन्हीं निर्गुणपंथी संतों को है। कबीर के पश्चात् तो अनेक सन्त सम्प्रदायों ने जन्म ले लिया और प्रायः सभी ने दोहे की निधि में वृद्धि करने का सफल प्रयत्न किया। गुरु नानक, रैदास, धर्मदास, दादूदयाल, मलूकदास, चरणदास, लालदास, रामचरणदास आदि संतों ने अपने-अपने ढंग से दोहे के भंडार को भरा। इधर राजस्थानी मारवाड़ी बोली में शिवदास चरण, सूजोनागराजोत, ढाढा दुरसा, पृथ्वीराज राठौड़ और बाद में जोधराज, उदयराज, करणीदान, कविया बाँकीदास सूर्यमल्ल, मुरारिदान, राजिया आदि ने दोहों को अनेक दिशाएँ दिखाकर भी वीर रस के मार्ग में ही प्रेरित किया।

कबीर के पश्चात् दोहे ने प्रबन्ध के अन्तर्गत चौपाई से भी समझौता किया। जायसी आदि सूफियों की प्रबन्ध रचनाएँ ही इसका प्रमाण नहीं हैं, अपितु तुलसीदासकृत रामचरितमानस भी इसका ज्वलन्त उदाहरण है। चौपाइयों की सभा में दोहे ने अपना नियत स्थान प्राप्त कर रखा है। कृष्ण भक्तों के हाथों में भी जो प्रायः पदों की ही रचना करते थे, दोहे की उपेक्षा न की जा सकी। अष्ट-छाप के कवियों की रचनाओं में भी दोहे का सम्मान किया गया। सबसे अधिक सम्मान नन्ददास के हाथों में मिल.।

रीति काल में तो मानों दोहा और कवित्त ने ही साहित्य-क्षेत्र में ; दिग्विजय की घोषणा की किन्तु आगे दोहा ही निकला, तुलसी और रहीम ने सतसई की जिस प्रथा का प्रचलन किया था, रीति काल के कवियों ने उसे ओर आगे बढ़ाया। राम, वृन्द, मतिराम और बिहारी की नीति और शृंगार की सतसइयाँ साहित्य में दोहे के सम्मान का साक्ष्य दे रही हैं।

इधर जैन कवियों की रास-रचना ने भी दोहे को पर्याप्त बल प्रदान किया। माधवानल-दोग्धिक-प्रबन्ध (१५२८ ई०) और माधव-कामकुन्दला रास ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त करली हैं।

विषय-दृष्टि से भी दोहा-छंद साहित्य-विजयी है। सामाजिक वर्णन, ऋतु वर्णन, नीति-वर्णन, देश वर्णन, कथा-वर्णन, रीति-वर्णन सिद्धान्त-प्रतिपादन वृत्ति-विवेचन, रूप-वर्णन, शृंगार-वर्णन, वीर-स्तुति, व्यक्ति-ग्रन्थ, और तीर्थ आदि का माहात्म्य-वर्णन, चरित्र-वर्णन, उपदेश, पहेली, कहावत, बात और ख्यात आदि सभी दिशाओं में दोहे की पहुँच रही है। प्रतीकों के अपनाने में दोहा जितना समर्थ छन्द रहा है उतना रूपक अलंकार के सौन्दर्य-प्रदर्शन में भी बली रहा है।

अन्त में मैं यही कहूँगा कि दोहा-साहित्य का विकास एक गम्भीर और सूक्ष्म अन्वेषण तथा लगन वाला अन्वेषक चाहता है। दोहा नाम कहाँ से आया है, यह शोध के विद्यार्थी की समस्या है। अनुमान की दौड़ अनेक शब्दों तक गयी है। उनमें दोधक, द्विपथिक, दूहा, दुद्धघड़ा (दुग्ध-घट) आदि अति प्रमुख हैं। जो हो अनुमान की दौड़ इस दिशा में स्थायी लाभ की वस्तु न होगी। न अनुष्टप, आर्या और गाथा की दो पंक्तियों से ही दोहे की खोज में विशेष सहायता मिलेगी। जो दोहा आज के विज्ञान-युग पर भी दृढ़ गति से बढ़ा चला जा रहा है, जिसने सूर्यमल्ल की सतसई की एकता को वियोगीहरि द्वारा द्विगुणित कराया है और जिसने भवभूति की करुणा को साकेत में होकर आज करुण सतसई के रूप में प्रतिष्ठित किया है और जो गीतों का उल्लास एवं शोक का अवसाद भी देख रहा है, उसका भविष्य भी उज्ज्वल ही दीख पड़ता है।

१४

हिन्दी-विवेचन

हिन्दी का वर्तमान् रूप बहुत प्राचीन है। हाँ, इसमें होने वाले अनेक परिष्कार नये युग की देन हैं। यह रूप आगरा, दिल्ली, मेरठ, सहारनपुर आदि के आसपास भाषाओं के उसी तुमुल युद्ध के समय से प्रचलित है जब वे अपभ्रंश से अलग हुई थीं। चंद की कविता में हमें इसकी झलक दिखाई देती है किन्तु सबसे पुरानी क्रमबद्ध रचना, जो इसमें मिलती है, अमीर खुसरो की है। यह रचना प्रामाणिक भी है। प्रसिद्ध है कि अमीर खुसरो का जन्म संवत् १३१२ में हुआ था। खुसरो फारसी के अतिरिक्त हिन्दी का भी विद्वान् था। इसकी रचना से यह सहज ही ज्ञात हो सकता है कि इसके समय तक हिन्दी का रूप कहाँ तक विकसित और स्वतंत्र हो चुका था। इसकी रचना के कुछ नमूने देखिये—

१

एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे॥ (आकाश)

२

बाला था जब सबको भाया, बढ़ा हुआ कुछ काम न आया।
खुसरो कह दिया उसका नाम, अर्थ करो नहीं छोड़ो गाम॥ (दीया)

३

सिर पर जटा गले में झोली, किसी गुरू का चेला है।
भर-भर झोली घर को धावें, उसका नाम पहेला है॥ (भुट्टा)

४

एक कहानी मैं कहूँ, सुन ले मेरे पूत।
बिना परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत॥
(कनकौवा; पतंग)

'लाल' वाली एक पहेली के अन्त में खुसरो ने कहा है—

'अरबी हिन्दी फारसी तीनों करो खयाल'

इससे प्रमाणित होता है कि इस भाषा का नाम 'हिन्दी' खुसरो के समय तक पड़ चुका था। वैसे 'हिन्दू', 'हिन्द' आदि शब्द बहुत पुराने हैं। फारसवालों ने सिंध देश का 'हिंध' नाम रख लिया था। तुलनात्मक शब्द-शास्त्र का एक व्यापक नियम है कि पश्चिम की बोलियों या भाषाओं में 'स' 'ह' में बदल जाता है। संस्कृत का 'सप्त' फारसी में 'हफ़्त' इसी नियम से हो गया है। उसी 'हिंध' शब्द से 'हिंद' हो जाना साधारण सी बात है। हिन्द के रहने वाले 'हिन्दू' या 'हिन्दी' कहलाये और उनकी जो भाषा सबसे अधिक व्यापक थी वह अन्त में हिन्दी-भाषा कहलायी। यह नाम मुसलमानों के यहाँ आने से बहुत पहले का है। मेरु-तंत्र का यह श्लोक देखिये—

पञ्च खानाः सप्त मीरा नव साहा महाबलाः।
हिन्दु धर्म प्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः।

और शिवरहस्य के श्लोक की इस पंक्ति को देखिये—

"हिन्दूधर्मप्रलोप्तारो भविष्यन्ति कलौ युगे"

यदि यह भी मानलें कि ये श्लोक पीछे से मिला लिये गये हैं तो ईसामसीह से बहुत पहले फारस में लिखी गयी 'दसातीर' नामक पारसी धर्म-पुस्तक में जो 'अकनू बिरहमने व्यास नाम अज़ हिंद आमद बसदाना के अकिल चुनानस्त' और 'चूँ व्यास हिन्दी बलख आमद' लिखा है वही 'हिन्दी' शब्द की प्राचीनता के प्रमाण में यथेष्ट है। अमीर खुसरो के अतिरिक्त और भी मुसलमान लेखकों ने इस शब्द का प्रयोग किया है। किसी मुसलमान लेखक ने धार्मिक विषय को लेकर 'नूरनामा' नाम की पुस्तक पहले कभी बनायी थी। उसमें उसने उस भाषा को भी 'हिन्दी' ही बतलाया है जिसको आजकल उर्दू कहते हैं? देखिये—

ज़ुबाने अरब में य' था सब कलाम;
किया नज़्म हिन्दी में मैंने तमाम।

× × ×

इसी के सबब मैंने कर फिक्रो ग़ौर।
लिखा नूरनामे को हिन्दी के तौर॥

मलिक मोहम्मद जायसी ने शेरशाह के समय में 'पदमावत' नाम का प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ लिखा है। उसमें उसने कहा है—

तुरकी अरबी हिन्दवी भाषा' जेती आहि,
जामें मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि॥

जटमल ने संवत् १६८० में जो 'गोरा-बादल' की कथा लिखी है। उसमें 'हिन्दवी' शब्द लिखा है। इन सबसे सूचित होता है कि इस समय तक हिन्दी के अरबी-फारसी-मिश्रित रूप का नाम उर्दू नहीं पड़ा था। प्राकृत या संस्कृत से भेद बताने के लिए 'हिन्दी' को 'भाषा' भी कहा जाता था। आज भी भाषा-टीका सहित पुस्तकों के विज्ञापन दिखायी पड़ते हैं।

खुसरो ने अपनी रचनाओं में जिस हिन्दी भाषा का प्रयोग किया है वह भाषा का स्वच्छ और निखरा हुआ रूप दिखला रही है। इससे स्पष्ट है कि खुसरो ने कोई भाषा, मंत्र से तैयार नहीं करली होगी। भाषा का यह रूप बनने में समय लगा होगा। काव्य में भाषा उस समय प्रयुक्त होती है जब वह बोली में स्थिर हो जाती है। इस विवेचन से सर जार्ज ग्रियर्सन की यह उक्ति अप्रमाणित सिद्ध हो जाती है कि—"मि० गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से फ़ोर्ट विलियम कालेज में लल्लूलालजी ने बोलचाल की भाषा में से फारसी-अरबी के शब्द हटाकर और उनकी जगह इन्डोएर्यन शब्द रख कर नयी भाषा गढ़ डाली'।

यहाँ देखने की बात पहले तो यह है कि लल्लूलालजी की रचना-शैली ही इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि उन्होंने कोई नई भाषा नहीं गढ़ी, केवल आगरे की बोली में—जिसको उन्होंने ब्रजभाषा से तथा फारसी-अरबी के शब्द मिली हुई बोली से जो उस समय 'रेखते' की बोली कहलाती थी, भेद बतलाने के लिए खड़ी बोली कहा है—पुस्तक लिखी ('लाल चन्द्रिका' में अपना हाल देते हुए लल्लूलालजी स्वयं कहते हैं—'इसमें जो पोथियाँ ब्रजभाषा और खड़ी बोली और रेखते की बनाई सो सब प्रसिद्ध हैं'), दूसरे उनकी शैली में कहीं-कहीं ब्रजभाषा का पुट दीखता है जिसका होना—अगर केवल शब्दों का हेर-फेर करके वह पुस्तक लिखी जाती तो—असंभव था। भाषाओं में परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे हुआ करता है। जिस भाषा में लल्लूलालजी पुस्तकें लिख गये हैं वह आज भी आगरे के घरों में बोली जाती है। सारे आगरे में देखिये, आपको प्रत्येक हिन्दू-घर में 'प्रेमसागर' की सी भाषा सुनायी देगी। जो थोड़ा सा भेद दीखेगा वह वही होगा जिसका लिखने और बोलने की भाषा में होना स्वाभाविक ही है।

प्रति दिन देखने में आता है कि अनेक भारतीय बोलियाँ और भाषाएँ बड़े सुरुचिमय वेग से राष्ट्रभाषा हिन्दी के भण्डार की वृद्धि में अपना योग प्रदान कर रही हैं। राष्ट्रभाषा की आदानमयी उदात्तता एवं उपभाषाओं की पारिवारिक प्रदानशीलता कोई विचित्र बात नहीं है। यह तो भारतीय भाषाओं की पारिवारिक पारस्परिकता और उनका पुरातन स्वभाव है। वैदेशिक अथवा

प्रादेशिक तत्त्वों के साथ ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक परिस्थितियाँ भी इस सम्बन्ध का विच्छेदन नहीं कर सकी हैं।

दूसरी भाषाओं के शब्द खपाने की क्षमता

युगों की जलधारा पर परिवर्तनों के अनेक वात-चक्रों के निष्ठुर प्रहार हुए किन्तु तरंग-परम्परा ने अपने अस्तित्व को नष्ट न होने दिया। अनेक परिस्थितियों में भी भारतीय संस्कृति का बीजनाश न हो सका। यही कारण है कि हिन्दी-भाषा अन्य भाषाओं से अपना सम्बन्ध बनाये हुए है। हिन्दी के जो तत्त्व उसकी सम्पदा बने हुए हैं, वही अन्य भाषाओं की भी सामान्य निधि हैं। वही सामान्यता अनेक भारतीय भाषाओं की पारस्परिकता का कारण है किन्तु यह मान लेना हिन्दी के लिए अपमानास्पद नहीं है कि उसने भारतीय भाषाओं से भी कुछ लिया है, कुछ सीखा है। इससे हिन्दी की गुणग्राहकता और प्रगतिशीलता ही सिद्ध होती है। विषम परिस्थितियों में भी इस भाषा ने सहनशीलता से काम लिया, विजेताओं की भाषा से जिस सौहार्द से व्यवहार किया और कुछ खोकर भी अपनी निधि की वृद्धि की, उसी से फारसवालों के शब्दों में इसका 'हिन्दीपन' प्रमाणित होता है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि हिन्दी में पुर्तगीज़, फारसी और अंग्रेजी भाषाओं के कितने शब्द सम्मिलित हैं। आधुनिक हिन्दी-कविता के पाठक अच्छी तरह बता सकते हैं कि हिन्दी में प्रचलित अनेक शैलियों का श्रेय अंग्रेजी और फारसी को कितना-कितना मिलना चाहिये। इसी मिलनशीलता, सहनशीलता और आदानशीलता को दूसरे शब्दों में प्रगतिशीलता कहा जा सकता है।

इस प्रकार हिन्दी ने एक ओर तो अपनी मातामही के गौरव की रक्षा की और दूसरी ओर समय की गति का साथ दिया। योग और क्षेम की इस क्षमता ने हिन्दी को इस गौरवासन पर प्रतिष्ठित किया है। राष्ट्रीय दासता के युग में हिन्दी को जिन संकटों और अन्तरायों का सामना करना पड़ा, नयी खोजों और गवेषणाओं में उसने अंग्रेजी के सामने जिस हीनता से अपने शक्ति-चिन्हों को खोया उससे इसकी त्वरा बाधित अवश्य हो रही है किन्तु यह दोष हिन्दी के माथे नहीं थोपा जा सकता। यदि यह सत्य है कि भाषा-विकास होता है तो यह भी सत्य है कि मायाविनी धाय की गोद में पड़कर हिन्दी-भाषी अपनी मातृ-भाषा को भूल गये। उनका उठना-बैठना, सोना-जागना, खाना-पीना, चलना-फिरना, खेलना-कूदना—सब कुछ अंग्रेजी की गोद में हुआ। बहुत से लोगों के लिए तो हिन्दी का समझना भी दुर्लभ हो गया। कितने ही हिन्दी के लाड़ले सपूतों के लिए भाव-व्यक्तीकरण तक दुरूह हो गया। यह सब कुछ होते हुए भी हिन्दी के शक्ति-चिन्ह विलीन नहीं हुए। जब-जब उसे समर्थक मिले, वह आगे बढ़ती

गयी और उसने अपनी सजीवता और शक्ति का परिचय दिया, जब-जब उसे पोषक मिले उसने अपनी पुष्टि को विकसित किया। क्रांति की जननी कवियों और लेखकों की लेखनी में निरन्तर क्रांति की फूँक मारती रही। सोने के ब्याज से हिन्दी-भाषा ने देश के लोगों को जागरण के जो संकेत दिये हैं, उन्हीं में राष्ट्रीय स्वाधीनता के क्षेम की आशा संनिहित है।

विकसित करने के लिए प्रयत्नों की आवश्यकता

इस पर्यवेक्षणा से यह समझ लेना भूल होगी कि हिन्दी वैज्ञानिक युग में सफलता से काम नहीं कर सकती है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा पैतृक संपत्ति नहीं है, उसका विकास होता है। वह बढ़ सकती है; जितना चाहे उसे बढ़ा सकते हैं। प्रयत्नों की आवश्यकता है, उन प्रयत्नों की जिनमें उत्साह-मयी अदम्यता हो, जिनमें शिथिलताजन्य सन्तोष का अभाव हो। सरकारी प्रयत्नों पर भाषा को छोड़ देना मानों भाषा का उदासीनतापूर्ण उत्सर्ग है। भाषा सामूहिक प्रयत्नों से विकसित होती है क्योंकि वह व्यक्ति या वर्ग की संपत्ति नहीं है। वह तो समाज का धन है। उसकी सम्पन्नता सामाजिक उद्गम पर निर्भर है। श्रोता लोग अपने दायित्व को समझें और कवि लोग अपने दायित्व को। समाज के अनेक लोग यह कहकर अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकते कि वे क्या करें, उनमें भाषा के विकसित करने की शक्ति ही नहीं है। यदि सामाजिकों में बोलने की शक्ति है तो निःसन्देह उनमें भाषा को विकसित करने की शक्ति भी है। यदि वे हिन्दी का दुर्व्यय कर सकते हैं तो सद्व्यय भी उनके हाथ की बात है। भाषा के विकास में सद्व्यय कितना सहायक होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। इसका समुचित अनुमान हमको उस समय हो जाता है जब कोई व्यक्ति पचास शब्द कहकर भी अपना भाव व्यक्त नहीं कर पाता है अथवा उस समय हो जाता है जब किसी वक्ता के पचास वाक्य किसी एक भी सद्वाक्य की योग्यता नहीं रखते। भाषा के विकास-क्षेत्र में कदाचित् उतना कार्य लेखनी भी नहीं कर सकती जितना वैयक्तिक, धार्मिक अथवा सामाजिक रुचि करती है। रुचि मनोयोग की प्रतीक है और लेखनी आयासों की।

कवियों और लेखकों पर भाषा के विकास का दायित्व कुछ दूसरे प्रकार का है। उनमें द्रष्टा और स्रष्टा दोनों की समन्वित शक्ति संनिहित रहती है। वे अन्तर और बाहर दोनों में क्रांति उत्पन्न कर सकते हैं। वे एक परिवर्तन ला सकते हैं, ऐसा परिवर्तन जो समाज के भीतर-बाहर दोनों का प्रतीक हो। प्रचार करने की जितनी क्षमता कवि और लेखकों में होती है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। इतिहास के विद्यार्थी रूसो और वाल्टेयर के लेखों से तो अवगत होंगे ही। फ्रांस

में क्रांति की अग्नि उन्होंने ही प्रज्वलित की थी। वह योरुप के इतिहास में सदैव अमर रहेगी। अतएव कवियों और लेखकों का यह कर्तव्य है कि वे भाषा में आवश्यक शब्दों का प्रचलन और प्रचार करें। उन्हें प्रचार के लिए उपदेश देने की आवश्यकता न होगी। शब्दों का मोहक उपयोगी प्रयोग स्वतः ही उनका प्रचार करेगा। हृदय को पकड़ने वाला, वृत्तिनिर्माणकारी प्रचार ही गम्भीर, स्थिर और व्यापक प्रचार होगा।

लेखकों व कवियों का उत्तरदायित्व

हिन्दी का यह संक्रान्ति-काल है। उसने एक नूतन दायित्व का भार स्वीकार किया है। उसको सँभालने के लिए भाषा को एक नयी शक्ति का संचय करना है—ऐसी शक्ति का जो युगवृत्तियों का पोषण करती हुई भाषा को परावलंबन एवं परमुखापेक्षिता से विमुक्त कर स्वावलम्बन की प्रतिष्ठा से उसके अभिनव गौरव-पद की रक्षा कर सके। कवि और लेखक शब्दों की शोध करके उन्हें स्वायत्त और आत्मसात् करने के लिए प्रयोगबहुल बनायेंगे। इससे आज जो अभाव खटक रहा है, वह दूर हो जायेगा। जो दुर्बलता और हीनता आज भाषा के किसी कौने में प्रतीत हो रही है, वह परिवारित हो जायेगी। भाषा की इस अशक्ति का निवारण हो जाने पर आधुनिक विचारधारा और नवीन वस्तु-परम्परा को उपयुक्त, सरल एवं सत्वर अभिव्यक्ति प्राप्त होगी। एक नये युग का प्रवर्तन और समाज में एक नयी चेतना का विकास होगा।

विदेशी शब्दावली अपनाने में हानि नहीं

यदि हम हिन्दी की शक्ति बढ़ाने के लिए, उसके अभावों का निवारण करने के लिए सम्पन्न भाषाओं से शब्दावली ले लेते हैं तो हानि भी क्या है? जिन शब्दों को हम अपना लेते हैं वे हमारी भाषा की अवश्य ही शक्ति और श्री-वृद्धि कर सकते हैं। रोटी, चमचा, चिमटा, बाल्टी आदि और भी कितने ही ऐसे फब्द हो सकते हैं जो अन्य भाषाओं के हैं किन्तु हमें कभी यह प्रतीत नहीं होता कि ये हमारे नहीं हैं। असली, नक़ल, दर्जा, टिकट, पास (Pass) आदि भी उसी प्रकार हमारी भाषा के अंग बने हुए हैं। जिन शब्दों को हम नहीं अपना सकते हैं वे हमारी दुर्बलता के कारण हमें अपनी सहायता से वंचित रखते हुए स्वयं लुप्त हो जाते हैं। संक्रांति-युग में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि शब्दों से स्थिर सम्बन्ध जोड़ा जाये। उनके साथ खिलवाड़ करने से प्रयोग की शक्ति और योग्यता का अवमूल्यन होता है। यदि हमें भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों दृष्टियों से जीवित रहना है तो नयी चेतना की सीढ़ियों से लक्ष्य पर चढ़ना होगा।

हमारा लक्ष्य वैयक्तिक स्वार्थों से सुख की खोज करना नहीं होना चाहिये,

अपितु लौकिक और पारलौकिक सीमा की मिलन-रेखा पर ऐसे सानन्द आदर्श की प्रतिष्ठा होनी चाहिये जो वैयक्तिक आकांक्षाओं और प्रयत्नों की धूपछाँह लिए हुए हो। जो भाषा उन आकांक्षाओं, प्रयत्नों और आदर्शतत्त्वों की सम्यक् अभिव्यक्ति कर सकती है वही सम्पन्न और समृद्ध भाषा है। हिन्दी के इस लक्ष्य की प्राप्ति में यह सब भारतीयों का, विशेषत: कवि और लेखकों का, प्रयत्न होना चाहिये। इस दिशा में कवि के प्रयत्न मधुरतम होते हैं। वह अपने पथ पर चलने का संकेत भी करता है और भुलावा देकर भी ले जा सकता है। वह कल्पना लोक में विचरता हुआ भी भू-लोक का निवासी है, हमसे भिन्न होता हुआ भी हमारे अति समीप है—समीप इसलिए कि जितना वह जानता है उतना कदाचित् हममें से भी कितने ही जानते हैं किन्तु भिन्न इसलिए कि जो वह कह सकता है वह हमारे कहने में नहीं आता। हमारे मन में विस्मय उत्पन्न करके हमें अद्भुत लोक की सैर करा देना उसके बाएँ हाथ का खेल है। उसका सम्पर्क हमारे साथ इतना गहन हो जाता है कि वह हमारे मन तक में सीधा उतर जाता है और इतना चतुर होता है कि बाँकापन निकलने से पहले हृदय में अटक जाता है। वह हमें इतना विवश कर देता है कि हम उसे कभी रामचरितमानस में, कभी रासलीला में, कभी आशा और श्रद्धा में और कभी नौका-विहार में खोजते-फिरते हैं। इसीलिए कवि जन-सामान्य और लेखक से कहीं अधिक वेग और स्थिरता से भाषा को आगे बढ़ा सकता है।

शैली-भेद आवश्यक

कुछ लोग हिन्दी भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न करने लगते हैं कि वह संस्कृतगर्भित हो अथवा चालू। मैं समझता हूँ कि ये प्रश्न कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते क्योंकि उनका सम्बन्ध शैली से है। यदि कालिदास, भवभूति, माघ और वाल्मीक की शैली में अन्तर है तो प्रसाद, निराला, महादेवी, पंत और भारतेन्दुजी की शैली में भी अन्तर क्यों नहीं हो सकता? किन्हीं दो कवियों और लेखकों की शैली कभी एक सी नहीं हो सकती, उसी प्रकार से जैसे किसी एक ही नीबू के पेड़ के दो पत्ते एक से नहीं हो सकते किन्तु पृथक्-पृथक् शैलियों के कारण भाषा के महत्त्व को नहीं घटाया जा सकता। अनेक शैलियाँ अपना-अपना महत्त्व रखती हैं और वे भाषा के गौरव की वस्तु हैं। हम में से कुछ भाई कठिन और सरल भाषा की शिकायत इसलिए करते हैं कि अभी तक हमारी भाषा अपने रूप को स्थिर नहीं कर पायी है। वैसे भी वैयक्तिक भाषा के समझने-समझाने तक में कठिनता तो आती ही है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि लोग राजनीति के चक्रों में पड़कर अपने को भूल जाते हैं और वे अनुकरण में उलझकर वादों में बँध जाते हैं। परि-

णाम यह होता है कि कविता जीवन का सजीव चित्र न होकर एक निर्जीव एवं निष्प्राण कंकाल मात्र बन जाती है। इसमें संदेह नहीं कि कविता का कोई ढाँचा भी होता है किन्तु इसमें भी कोई संदेह नहीं कि उसमें प्राण भी होने चाहिये, नहीं तो उसे हम जीवन का सजीव एवं सरस प्रतिरूपणा नहीं कह सकते। कवि जीवन के किसी एक ही पक्ष को लेकर नहीं चल सकता क्योंकि वह तो अपने भावों में जीवन को अंगरूप में लाता है। जहाँ कविता जीवन को केवल अंगरूप में प्रस्तुत करती है वह कोरी अखाड़ेबाजी है, कविता नहीं, कोरा दम्भ है वह हृदय की शुद्ध अभिव्यक्ति नहीं है।

कवि मानव को यथारूप व्यक्त करता है। न वह आदर्श में उलझता है न छाया में, न रहस्य में और न किसी प्रगति-फैशन में। उसे तो गुणों को गुण और दोषों को दोष कहना है। यही उसका सरल नय पथ है। निष्पक्ष होकर यदि कवि अपने उद्गारों को व्यक्त करता है तो समझिये कि उसने जीवन के साथ न्याय किया अन्यथा कवि की कविता नहीं, किसी पक्षपाती का अन्याय है।

आज के कवि और लेखक के सामने अखंड भारत का प्रश्न है, उत्तर और दक्षिण, पूर्व और पश्चिम की एकता का प्रश्न है। अतएव कुछ समय तक कवि और लेखक को अपने व्यक्तित्व के व्यक्त करने में सावधानी बरतनी होगी। उन्हें ऐसी भाषा से काम लेना होगा जिसमें दक्षिण-पश्चिम के आंचलिक प्रयोग भी हों। जो किसी अन्य प्रान्त के लिए भी सुकर हों। यह तो नितान्त सम्भव है कि राष्ट्रभाषा के प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दी में वह गुण समाविष्ट हो जायेगा जिसको सब प्रान्तों के निवासी ग्रहण कर लेंगे किन्तु कुछ समय तक हिन्दी-भाषा के प्रचारकों और सेवकों को उदारता से काम लेना होगा।

२५

हिन्दी के प्राचीन एवं अर्वाचीन नाटक

हिन्दी के प्राचीन नाटकों से हमारा अभिप्राय प्राचीन हिन्दी के नाटकों से नहीं है क्योंकि प्राचीन हिन्दी में नाटकों का अभाव ही सा रहा है। 'रामायण महानाटक' अथवा 'आनन्द रघुनन्दन' जैसे एक-दो नाटक ही प्राचीन हिन्दी में बन सके थे। हिन्दी के प्राचीन नाटकों से हमारा अभिप्राय प्राचीन पद्धति के अनुकरण में बने हुए नाटकों से है। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी के वे नाटक भी जो उक्त परम्परा का अनुपालन कर रहे हैं, प्राचीन नाटकों की गणना में ही रखे गये हैं। रामायण महानाटक जैसी रचनाओं को तो नाटक-कोटि में रखना ही अनुचित है क्योंकि उसमें गद्य का नाम तक नहीं है। उसे हम पद्यात्मक नाटक कहदें तो कहदें। हाँ, आनन्द रघुनन्दन जैसे नाटकों को ही हम नाटक कह सकते हैं। उसमें गद्य और पद्य दोनों का यथोचित समावेश है। उसे हम संस्कृत नाटकों की सरणि में रख सकते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मौलिक नाटकों को भी हम इसी कोटि में रख सकते हैं। गद्य-पद्य की परम्परा का अनुपालन करने के अतिरिक्त ये नाटक प्रायः सभी प्राचीन रूढ़ियों का निर्वाह करते हैं। इसी से इन्हें प्राचीन हिन्दी-नाटक नाम से अभिहित किया गया है।

आधुनिक नाटक प्राचीन रूढ़ियों को तोड़कर एक नये पथ से चल निकला है। जबकि समाज ही बदल चला है तो भला उसके अंग अचल एवं स्थिर कैसे रह सकते हैं। मानव-जीवन साहित्य को उपकरण प्रदान करता है। जीवन के संस्कारों का साहित्य पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। यदि साहित्य युग का दर्पण नहीं है, उसके शब्दों में युग की प्रतिध्वनि नहीं सुनायी पड़ती तो समझिये कि साहित्य रूढ़िग्रस्त है, अगतिमय है। वह संज्ञा-शून्य है, जड़वत् है। उस पर कोई प्रभाव देखना व्यर्थ है।

आधुनिक युग में जब कि समाज, सभ्यता आदि सभी की स्थिति में, प्राचीन काल की तुलना में, बहुत भारी परिवर्तन हो गया है तो साहित्य तथा उसके अंगों की स्थिति यथावत् कैसे रह सकती है ? यदि साहित्य युग के साथ कदम मिलाकर चलने में असमर्थ है तो वह निष्प्राण और प्रगतिहीन होने का लांछन सहता रहे। भला युग के लोग उसे अनुदार कहने में कब हिचकेंगे ? परन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। समाज के परिवर्तनों के स्वरूप को साहित्य में आना ही था और ऐसा ही हुआ। आज हम देखते हैं कि साहित्य के मान, उसके टेकनीक (Technique) तथा उद्देश्य आदि सभी में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है। साहित्य के विविध अंग इस परिवर्तन से प्रभावित हुए हैं, पर हिन्दी नाटकों में यह प्रभाव विशेष रूप से परिलक्षित हो रहा है।

आज के हिन्दी नाटकों में यह परिवर्तन तीन कारणों से हुआ है :—

(१) पाश्चात्य सभ्यता के बड़े वेग से प्रसार और प्रभाव के कारण,

(२) प्रतिकूल परिस्थितियों में फँसी हुई जनता के स्वगत अनुभव एवं प्रतिक्रियाओं के कारण,

(३) तथा पात्रों और स्थलों की अनुपयोगिता के कारण।

(१) **पाश्चात्य प्रभाव**—आधुनिक हिन्दी-नाटकों पर पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा है। यह सर्वविदित है कि पुरातन काल से भारतीय सभ्यता धर्मपरक एवं आध्यात्मिक रही है। भौतिक लिप्सा में ग्रस्त हो जाने के स्थान पर उसने अपनी आत्मिक और नैतिक उन्नति को ही सदैव महत्त्व दिया है। अतः अन्त में धर्म और सदाचार की विजय और अधर्म तथा अनैतिकता की पराजय का दिग्दर्शन कराना यहाँ के साहित्य का मूल उद्देश्य रहा है। इसी कारण प्रारम्भ में मंगलाचरण और नान्दी पाठ तथा अन्त में किसी महापुरुष या देवता के मुख से मंगलकामना-सूचक आशीर्वाद तथा भविष्य के लिए मार्गदर्शन कराने वाला 'भरत वाक्य' प्राचीन हिन्दी-नाटकों की परिपाटी रही है। प्रायः सभी प्राचीन हिन्दी-नाटक नान्दीपाठ और भरतवाक्य से युक्त मिलते हैं। नाटकों में यह प्रणाली भारतीय धार्मिकता तथा आस्तिकता का आग्रहमात्र थी किन्तु देश में पाश्चात्य सभ्यता के पदार्पण के साथ ही उक्त नाटकीय प्रणालियाँ परिवर्तन के हाथों में पड़ गयीं, अब वे निस्सार और निरर्थक समझी जाने लगीं क्योंकि भारतीय साहित्य का दृष्टिकोण पाश्चात्य भौतिकता से आकलित हो गया। पाश्चात्य समाज और साहित्य का दृष्टिकोण भौतिक होने के कारण स्थूल है; उसमें आध्यात्मिक सूक्ष्मता और धर्म-संग्रह नहीं है। पाश्चात्य आधुनिक नाटक धर्म अथवा पारलौकिक भावनाओं से बहुधा शून्य होते हैं। यही

परिपाटी हिन्दी में धरोहर रूप में चल खड़ी हुई। यही कारण है कि विरले ही आधुनिक हिन्दी-नाटक में नान्दी-पाठ और भरतवाक्य मिलते होंगे। कुछ हिन्दी-नाटकों ने धर्म और ईश्वर से भी अपना पल्ला खींचना चाहा है, पर यह कार्य दुरूह ही नहीं, असम्भव भी प्रतीत हुआ है क्योंकि भारत का कोई ही व्यक्ति विशेष धर्म से विलग रह सकता है। भारतीय समाज उसका दामन नहीं छोड़ सकता। इससे आधुनिक हिन्दी-नाटक पाश्चात्य भौतिकता के उपचक्षुओं के होते हुए भी अपने मौलिक संस्कारों का निराकरण नहीं कर सका है।

प्राचीन नाटक किसी रूढ़ि या परिपाटी का अनुकरण करके चलते थे। उन्हें नाट्यशास्त्र का निर्देश मान्य था। किसी कलाकार का यह साहस नहीं होता था कि निर्दिष्ट नियमों का अतिक्रमण करता। यही कारण था कि प्राचीन नाटकों में एक परम्परा, एक गति, एक प्रणाली और एक से आदर्श मिलते थे। क्या मजाल कि कोई नाटककार दुःखान्त नाटक लिख देता। अपने मौलिक प्रयोगों और भिन्न टैकनीक को अपनाने का भला कौन साहस कर सकता था? आवश्यकता होते हुए भी क्रान्ति की बागडोर अपने हाथ में कौन लेता? पाश्चात्य साहित्य ने इस काम को अपने हाथ में लेकर नाटक-क्षेत्र में एक अद्भुत विप्लव खड़ा कर दिया। अंग्रेजी भाषा और साहित्य के सम्पर्क में आते ही भारतीय नाटककार भी सतर्क हो गया और सम्पूर्ण पुराने बन्धन एवं प्रतिबन्ध छिन्न-भिन्न करके फेंक दिये। फलतः हम आज के नाटकों में नयी टैकनीक, नये प्रयोग एवं नये जीवन का नया ढर्रा और नया दृष्टिकोण पाते हैं। नये युग के नये वातावरण से प्रभावित नाटककार, चाहे वह किसी भाषा का हो, पुराने अगतिवादी नियमों से बँधा रहना नहीं चाहता। वह अपनी प्रतिभा को रूढ़ियों में आबद्ध न रखकर उन्मुक्त एवं स्वतंत्र रूप से विचरने देना चाहता है।

(२) **जनता का अपना अनुभव**—परिस्थितियों में फँसी हुई जनता के पुराने विश्वास और मर्यादाएँ टूट चुकी हैं। ईश्वर में उसका कभी अटूट विश्वास था, राजा के प्रति अबाद्ध श्रद्धा थी, मंत्री तथा अन्य उच्च राजकीय कर्मचारियों से वह भय करती थी। कुछ वंशों एवं परम्पराओं का यहाँ प्राधान्य था पर आज यह स्थिति नहीं है। जनता ने यह समझ लिया है कि उपर्युक्त बातें केवल चिरकालीन बन्धन थे। वे उसके स्वतन्त्र विकास के बाधक थे। अतः आज का हिन्दी-नाटककार जो जनता की भावनाओं का सच्चा प्रतीक बनना चाहता है, अपनी कृतियों में असाधारण अथवा उच्चवर्ण के अलौकिक पात्रों के अलौकिक कार्यकलापों से साधारण जनता को मुग्ध करना अनुचित ही नहीं, अपितु अनावश्यक भी समझता है। यही कारण है कि आधुनिक नाटककार अत्याचारी, बर्बर और प्रतिक्रियावादी राजा को नायक न बनाकर साधारण कृषक और

मजदूर को कथानक का मुख्य पात्र बनाता है जिसके सुख-दुख, इच्छा-अनिच्छा और जीवन का स्तर साधारण है और जो दूसरों के सुख-साधन का प्रतीक और त्याग की सच्ची प्रतिमा है। आधुनिक कलाकार रंगमंच पर राज-भवनों के चित्रों की चमक-दमक नहीं चाहता। वह चाहता है कुटिया और झोंपड़ी के जीवन के रहस्य का उद्घाटन जिसे धनी-विलासी भी देख सकें। वह जीवन का तपस्यामय पुण्यतम स्वरूप सामान्य व्यक्ति में देखता है क्योंकि उसमें वह एक व्यापक विशेषता का साक्षात्कार करता है। सरलता, सादगी और विषमताओं से युक्त जीवन की समस्याओं की विशद व्याख्या करना आज के नाटककार का मूल उद्देश्य है। उसको वस्तुतः, किसी पारलौकिक सत्ता से अथवा असाधारण व्यक्ति से प्रेरणा नहीं मिलती क्योंकि वह उससे अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ नहीं सकता। सामाजिक जीवन की यथार्थता और वास्तविकता वहाँ नहीं है। यदि वहाँ उसका सम्बन्ध बनता तो वह वैयक्तिक, आडम्बरपूर्ण अथवा काल्पनिक ही होता। उसमें इतनी यथार्थ निकटता न आ पाती। आज के कलाकार का 'दो और दो-चार' से निकटतम परिचय है। इसीलिए वह उसमें अधिकतम विश्वास करता है। वह सचाई के इस ऋजुतम मार्ग को छोड़कर 'दो और दो बाईस' की रहस्यमयी उलझनों में नहीं पड़ना चाहता। आज के वातावरण ने उसकी आस्था का केन्द्र बदल दिया है। रही-सही आस्था समय की विभीषिकाओं से उन्मूलित होती जा रही है। वह आदर्श लेकर चलता है तो ठीक है; उस पर संस्कार जो बने हुए हैं। किन्तु आदर्श की मृषा मूर्ति का वह उपासक नहीं है। युग की गति का वह विरोध नहीं कर सकता, समाज की करुण-चीत्कार को वह प्रासादों में भी सुनी-अनसुनी नहीं कर सकता, समय की चिनगारियाँ वहाँ भी आ पहुँचती हैं। इसलिये वह कठोर वर्तमान का ही प्रणेता है, रहस्यमय भविष्य या स्वर्णिम आदर्श का नहीं। चाहे वह अदृश्य का विरोध न करे किन्तु वह उसके प्रति नतमस्तक नहीं है। आकाशभाषित के बहिष्कार में आधुनिक नाटककार का यही अभिप्रायः प्रतीत होता है। प्राचीन नाटकों में, अदृश्य की सत्ता के स्वीकार कर लेने से, आकाशभाषित का चाहे कितना ही महत्त्व रहा हो, पर आज के वातावरण के लिए वह प्रणाली नितान्त अनुपयुक्त तथा निरर्थक सिद्ध हो चुकी है।

आज का नाटककार राजाओं के ईश्वरांश और एकाधिपत्य में विश्वास नहीं रखता, वह जनता-जनार्दन को मानता है। वह नयी समाज की व्यवस्था में अपना सहयोग बड़े उत्साह से देना चाहता है। कुछ तो इसलिए कि युग-प्रवृत्तियाँ उसे रोचक प्रतीत होती हैं और कुछ इसलिए कि वह अपनी कृति को लोकप्रिय बनाना चाहता है। इसलिए उसके नाटक में राजा या उच्चवंशीय नायक होते हुए भी जनता की भावना को आदर मिलता है। उसमें आधुनिक समस्याओं

पर विचार किया जाता है। प्रसाद के नाटक प्राचीन इतिहास को लेकर चलते हैं सही, किन्तु नयी टैकनीक और नयी समस्याओं में उदित उनके नाटक नाटकीय नूतनता से प्रभावित हैं।

(३) **पात्रों और स्थलों की अनुपयोगिता**—प्राचीन नाटकों की तुलना में आज के नाटक में हमें जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, वे प्राचीन नाटकों में निहित कुछ दोषों के परिष्कारस्वरूप किये गये हैं। आधुनिक नाटककार मितव्ययिता के काल में होकर निकल रहा है, अतएव वह पात्रों और स्थलों के सम्बन्ध में बहुत सतर्क होकर चलता है। मनोविनोद के लिए ही क्यों न हो, वह किसी अनावश्यक पृथक् पात्र की सर्जना न करेगा। जहाँ तक हो सकेगा वह अपने अनिवार्य पात्रों से ही काम लेगा। उसे तो एक वातावरण विशेष तैयार करना है, जिसके लिए पात्रों को विशेष स्थिति में रखना ही पर्याप्त है। स्थिति विशेष में मानव का आचरण, उसका व्यवहार भी परिवर्तित हो जाता है, यह मानी हुई सी बात है। अतएव जहाँ अनिवार्य नहीं, वहाँ भी विशेष स्थिति बनाने के लिए पृथक् पात्र के समावेश की आवश्यकता नहीं होती। यदि पृथक् पात्र का समावेश कर दिया जाता है तो समझिये नाटककार की दुर्बलता है। वह 'गागर में सागर' नहीं भर सकता, 'थोड़े से साधन से बड़ा काम' नहीं निकाल सकता। आधुनिक नाटककार इन दोषों से बचना चाहता है, इसीलिए वह विदूषक की स्थिति नाटक में अनिवार्य नहीं मानता। वह विदूषकत्व किसी पात्र के मुख में रख कर अपना काम निकाल सकता है। वह निरर्थक पात्रों और अनुपयुक्त कार्यकलापों का अभिनय रंगमंच पर देखना नहीं चाहता। वह उनमें वैज्ञानिक सौष्ठव एवं मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य देखना चाहता है। यही कारण है कि प्राचीन हिन्दी-नाटकों के समान आज के नाटकों में प्रवेशक, विष्कम्भक जैसी योजनाएँ नहीं हैं। आज के नाटकों में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी आदि बंधन नहीं मिलते। आधुनिक नाटककार इनकी चिन्ता न करके अभिनयशीलता का ध्यान रखता है। कभी-कभी तो वह यहं भी भूल जाता है कि उसका नाटक रंगमंच के लिए बन रहा है अतएव वह पुस्तकालय के काम की वस्तु ही बना रह जाता है। स्वगत कथन को वह पागल का प्रलाप मात्र समझता है। हाँ, नेपथ्य यथापूर्व प्रचलित है। जयशंकर प्रसाद के प्रारम्भिक नाटकों में इसका कम प्रयोग है, किन्तु बाद के नाटकों में यह मिलने लगा है। आज के नाटकों में एक बात और पायी जाती है जो उन्हें अधिक यथार्थ और वास्तविक बनाने के लिए अपनायी गयी है, वह यह है कि प्राचीन नाटकों में कुछ बातें (या दृश्य) ऐसी होती थीं जिनका प्रदर्शन या अभिनय रंगमंच पर वर्जित था। मृत्यु, भोजन आदि के दृश्य रंगमंच पर नहीं दिखाये जाते थे। आज के नाटकों में नाट्यशास्त्र का यह प्रतिबंध नहीं रहा है।

उक्त बातों के अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी-नाटकों में कुछ अन्य विशेषताएँ भी पायी जाती हैं जिनका प्राचीन नाटकों में अभाव था। प्राचीन नाटककार अपनी कृति में प्रायः पद्य का प्राधान्य रखते थे। वे पात्र के भावों या मनः-स्थिति को पद्य में ही प्रकट करते थे, चाहे कैसा ही समय हो, कैसी ही परि-स्थिति हो परन्तु आज का नाटककार इसको निरर्थक समझता है। वह गद्य को अपनाकर अपने भावों को उसी में व्यक्त करना चाहता है। कारण यह है कि आज के जीवन में जटिलता अधिक आ गयी है। उसमें बाह्याचार अधिक है, जटिलता का प्राधान्य है। उसको व्यक्त करने के लिए गद्य ही उचित और समर्थ प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त पद्य में एक कृत्रिमता, एक रूढ़ि रहती है जिसे आधुनिक नाटककार भारमात्र, बंधनमात्र मानता है। अतएव उसने उसे भी यथासाध्य निकाल फेंका है। आज के नाटक में सामान्य पद्य के स्थान पर गीतों का प्रचलन हो गया है किन्तु उनकी मात्रा प्राचीन नाटकों के पद्य भाग से बहुत कम हो गयी है। तीन-चार गीत पर्याप्त समझे जाते हैं। पद्य का स्थान आज गद्य ने ले लिया है और आज का युग 'गद्य-युग' के नाम से प्रसिद्ध भी हो चला है।

भाषा और शैली के सम्बन्ध में भी कुछ नये परिवर्तन हुए हैं। प्राचीन काल के नाटकों में अनेक भाषाओं का प्रयोग होता है। भिन्न-भिन्न कोटि के पात्रों द्वारा भिन्न-भिन्न भाषाओं का बोलना रूढ़ हो गया था। आज इस प्रति-बन्ध को भी तोड़ डाला गया है। कोई एक भाषा (खड़ी बोली) ही भाव और व्यक्तीकरण की विशेषता लेकर विशेष पात्र के साथ अपना काम चला लेती है।

आज का हिन्दी-नाटक प्रगति पथ पर है। उसने नवीन प्रयोग किये हैं, नयी शैली को जन्म दिया है और नयी टैकनीक अपनायी है परन्तु उसका उद्देश्य सदैव यही रहा है कि उसमें कोई बात निःसार न आवे, निरर्थक का समावेश न हो और वह अधिक से अधिक मात्रा में जनता के जीवन को प्रकट करने के लिए उसकी भावनाओं का प्रतीक बन सके।

१६

आधुनिक हिन्दी-नाटक की प्रवृत्तियाँ

साहित्य के नाट्य-क्षेत्र में आधुनिक युग में कुछ नये प्रयोग प्रस्तुत किये गये हैं। उन्हें नया केवल इस अभिप्राय से कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य के इतिहास में वे अपनी-अपनी विशेषताएँ लेकर अवतीर्ण हुए हैं। उन विशेषताओं का आविर्भाव युग-प्रवृत्ति और वातावरण के कारण हुआ है। यद्यपि आधुनिक हिन्दी-नाटक ने प्रायः गद्य ही अपनाया है, फिर भी उसने गीतों के महत्त्व का निराकरण नहीं किया है। यों तो मध्यकालीन हिन्दी-नाटक की भाँति आज भी कुछ नाट्य-सामग्री खड़ी बोली में प्रस्तुत की जा रही है परन्तु आज का पद्य-रूपक उससे (प्राचीन पद्य-नाटक से) भिन्न है क्योंकि दोनों के तात्त्विक प्रयोगों में अन्तर है। पद्य-रूपक पढ़कर हम उसे आधुनिक महाकाव्य या खण्ड काव्य के समकक्ष रखने की भूल नहीं कर सकते।

रूपक में अनेक कलाओं का मिश्रण होता है। कवि, अभिनेता, निर्माता, चित्रकार, वेश-भूषा-निर्धारक, प्रकाश-निर्देशक, दर्शक और संगीतज्ञ—ये सभी नाटक में एकत्र दीख पड़ते हैं। नाटक इन सब की कलाओं का व्यवस्थित आवास है। नाटककार इन्हें संकलित और समन्वित रूप में प्रस्तुत करता है। प्रत्येक कला की प्राथमिक आवश्यकता संकलन के समन्वय और सामंजस्य ही से व्यक्त होती है। नाटक में जहाँ अनेक कलाओं के अन्तर्गत प्रत्येक में औपकरणिक एकता होनी चाहिये वहाँ उन सब की भी पारस्परिक एकता अनिवार्य है। एकता के इन दोनों प्रकारों से ही नाट्यकला प्रस्फुटित होती है। उन्हीं में उसका सौन्दर्य रहता है।

प्रगीत रूपक अथवा गीति-नाट्य को देखकर यह कहना नितान्त भ्रामक होगा कि वह गीत से अभिन्न होता है। गीत की एकता उसके किसी भाव या मनोवेग की सजीव एकता में सन्निहित रहती है—उस मनोवेग की एकता में

जो गीत का जन्मदाता भी होता है किन्तु गीति-नाटक में उक्त एकता को बनाये रखने वाला कोई एक ही गीत नहीं होता। उसका लक्ष्य किसी गीत में मनोवेग की एकता ही नहीं है, प्रत्युत कोई विशेष उद्देश्य भी होता है। उसी की सिद्धि के लिए उसके कर्ता को वातावरण की एकता की व्यवस्था करनी पड़ती है किन्तु स्मरण रहे कि महाकाव्य की एकता नाटकीय एकता से कुछ भिन्न होती है।

महाकाव्य और नाटक, दोनों में एकता की व्यवस्था अपने-अपने ढंग की होती है। नाटकीय एकता की व्यवस्था अधिक दुरूह होती है। इस दुरूहता का प्रमुख कारण होता है नाटक की दृश्यता जिसके लिए नाटककार को अधिकतम औचित्य की प्रतिष्ठा करते हुए कुछ परिमितियों और प्रतिबन्धों का सामना करना पड़ता है। महाकाव्य में औचित्य की स्वरूपात्मक एवं स्वभावज न्यूनता तथा दृश्यात्मक प्रतिबन्धों के अभाव से कवि का कार्य अति सुकर होता है। यह कह सकते हैं कि महाकाव्यकार का कार्य नाटककार और गीतकार के कार्य से भिन्न होता है।

महाकाव्यकार वातावरण और चेष्टाओं की भावना शब्दों द्वारा कराता है किन्तु नाटककार को उनका रूप प्रस्तुत करना पड़ता है। पहला कल्पित या परोक्ष का भी आँखों-देखा-जैसा वर्णन करता है और दूसरा उसे लोचन-पथ में प्रस्तुत करता है। एक प्रमुखत: रूप-योजना करता है और दूसरा भाव-योजना। गीतकार अपनी भावना से, सरसित मनोवेग के स्पर्श से, श्रोता के हृदय को तरंगित कर देता है। हो सकता है कि गीतकार के छोटे से संसार को बसाने में प्रबन्धकार को सफलता न मिले।

नाटक में औचित्य के प्राधान्य के कारण जीवन का सजीव चित्र मिलता है। घटनाएँ मानो हमारे सामने घटती हैं। उनके प्रभाव से हम मानो आनन्द-मूक हो जाते हैं। हम राग-द्वेष, प्रतिशोध, कामना आदि मनोवेगों की शृङ्खलित प्रगति का अवलोकन करते हुए भाग्य की सदय-निर्दय कृतियों को विवश-से देखते रह जाते हैं। कुछ समय के लिए हमें अनेक जीवनों में अथवा जीवन की विविधताओं में होकर निकलना पड़ता है। हमें कभी-कभी प्रेमी के साथ प्रेम, वैरी के साथ वैर, प्रभुत्व की अभिलाषा और भाग्य की आलोचना करते हुए विश्वास, अनिश्चय, निराशा और चिन्ताओं में अवगाहन करना पड़ता है। हम अपने को प्रशंसा से प्रसन्न, प्रहार से खिंचे हुए, विष-वेदना का अनुभव करते हुए और काल की करालता का, भयभीत होकर, सामना करते हुए पाते हैं। अतएव नाटक-जैसे गूढ़, एवं कठिन कार्य का एकता के संस्कारों से निर्वाह करना बड़े कला-कौशल पर निर्भर है।

नाटक में घटना-संकलन और कार्यान्वय को अधिक महत्त्व दिया जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दृश्य काव्य का स्वरूप भी घटना-प्रधान ही होता है। उसका एक 'कार्य' होता है, जिसके लिए घटनाओं का सारा आयोजन होता है। प्रत्येक घटना कार्य से दूर या निकट का सम्बन्ध अवश्य रखती है। कार्य के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। प्राचीनों के मतानुसार कार्य महत्त्व-पूर्ण होना चाहिये। कार्य का महत्त्व नैतिक, सामाजिक या धार्मिक प्रभाव की दृष्टि से देखा जाता है। आधुनिक पाश्चात्य काव्य-मर्मज्ञ इसे आवश्यक नहीं मानते। काउपर, बर्न्स और वर्ड्सवर्थ ने कार्य के सम्बन्ध में एक विचार-विप्लव घटित कर दिया है। आधुनिक नाटकों में दोनों मतों का समर्थन मिलता है। कुछ नाटककार कार्य के महत्त्व को प्रधान मानते हैं और कुछ साधारण कार्य को भी नाटक के लिए उपयुक्त मानते हैं किन्तु आधुनिक हिन्दी-नाटक महत्त्वपूर्ण कार्य को ही मान्यता देता है।

प्रत्येक कार्य सुखद या दुखद होता है। इस दृष्टि से प्रत्येक नाटक भी सुखान्त या दुखान्त होता है। पाश्चात्य आलोचकों ने अन्त्य सुख-दुख के भेद से नाटकों के भी दो भेद किये हैं: सुखान्त और दुखन्त। यद्यपि संस्कृत-साहित्य में सुखान्त नाटकों का हीं प्रचलन रहा है किन्तु आधुनिक हिन्दी-जगत् में दुखान्त नाटकों का भी अभाव नहीं है। आधुनिक नाटककार तो एक ही नाटक को सुख-दुखान्त बनाने और कहने का साहस करता है। साधारणतया यह माना जाता है कि एक ही समय में सुख-दुख के तत्त्वों का सफल मिश्रण नहीं हो सकता और किसी नाटक में स्वतन्त्र रूप से दो कथानक नहीं हो सकते। क्रिया-व्यापार एक ही स्थान पर केन्द्रित होना चाहिये और रंगमंच पर प्रदर्शित व्यापार के लिए लिया हुआ समय लगभग उतना ही होना चाहिये जितना कि वास्तविक जीवन के किसी व्यापार के लिए आवश्यक होता है। जो नाटककार इन नियमों का पालन करते हैं, उनके लिए वस्तु-विन्यास की एकता कोई समस्या नहीं बनती किन्तु जो यह नहीं मानते कि नाटक केवल सुखान्त ही होना चाहिए, वे उसमें सुखान्तता और दुखान्तता के तत्त्वों के पार्थक्य को स्वीकार नहीं करते और यह मानते हैं कि व्यापार-विपर्यय इच्छा-नुसार कभी भी, कहीं से कहीं, किसी दूरी पर किया जा सकता है, हाँ, हो कलाकार कुशल। मूल व्यापार के अतिरिक्त एक या अधिक प्रासंगिक व्यापार मूल की पुष्टि अथवा उसके साथ विषमता दिखाने के लिए प्रयुक्त किये जा सकते हैं। प्रस्तुत की हुई घटनाओं में कितने ही समय का अन्तर रह सकता है। नाटककार वर्षों की दीर्घ-व्यापार-शृङ्खला को घड़ियों और घंटों के दर्पण में प्रदर्शित कर सकता है।

यह कहा जा सकता है कि प्राचीन पाश्चात्य नाटकों में संकलनत्रय

(Three unities) का विशेष ध्यान रखा जाता था किन्तु आधुनिक नाटकों में इनको विशेष महत्त्व नहीं दिया जा रहा है। प्रतिबन्धों को अंग्रेजी के मध्य-कालीन नाटकों में ही टूटा हुआ पाते है। शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' को ही लीजिये। इसमें कम से कम दो बड़े-बड़े कथानक हैं, जिनके साथ कई छोटे-छोटे उपकथानक भी सम्बद्ध हैं। वेनिस और वेलमोण्ट के बीच दृश्य-परिवर्तन होता है। सुख और दुख दोनों तत्त्व मिलते हैं। कभी-कभी तो दोनों एक साथ एक ही दृश्य में मिलते हैं। घटनाएँ सात दिन की परिधि में सीमित हैं, जिनके बीच में अवकाश भी आ गये हैं; कभी एक दिन का अवकाश और कभी एक सप्ताह का और कभी एक पक्ष का। वस्तुतः व्यापारगत समय एक मास से ऊपर ही है। इन सब बातों के होते हुए भी नाटकीय सौन्दर्य भ्रष्ट नहीं होता।

कहने का तात्पर्य यह है कि नाटकीय संकलनत्रय का अभिप्राय समय-समय पर बदलता रहा है। उसका जो अर्थ 'क्लासीकल' नाटककारों ने मान रखा था, वह 'रोमांटिक' नाटककारों ने न माना। आधुनिक काल में तो उसका अर्थ ही नहीं बदल गया, अपितु संकलनत्रय की आवश्यकता की भी आलोचना की जाती है। इसमें क्या सन्देह है कि समय अपने परिवर्तन के गर्भ में अनेक विभूतियाँ लिये फिरता है, कहीं देकर कहीं लेता है। भारतीय नाटककार धड़ाधड़ दुखान्त नाटक लिख रहे हैं और आधुनिक एकांकीकार संकलनत्रय के प्रति विशेष सतर्क दीख पड़ते हैं।

कुछ लोगों का विचार है कि विभिन्न तत्त्वों का समन्वित पूर्ण विकास ही नाट्य-कला का प्रमुख उद्देश्य है। उनका कहना है कि जो जीवन इतना जटिल है, जिसमें इतनी गुत्थियाँ हैं, भला वह सैद्धान्तिकों की काल्पनिक सीमाओं में कैसे बन्द किया जा सकता है? उन गुत्थियों को न देखना, उन पर केवल आंशिक दृक्पात करना सरासर जीवन की जटिल विशालता की उपेक्षा करना है। गुत्थियों की परम्परा को भुला देना, अथवा जीवन के स्वाभाविक पक्ष को भुला कर कृत्रिमता की मूर्ति तैयार करना जीवन के सहज सौन्दर्य पर कुठाराघात करना है।

इस बात की पुष्टि की जाती है कि सुख-दुख के तत्त्वों का मिश्रण नाटकीय एकता को बाधित नहीं करता। जब अनेक विरोधी तत्त्वों के मिलने से किसी समन्वित प्रभाव की सृष्टि होती है, तो नाटकीय एकता व्याहत नहीं होती, प्रत्युत उससे नाटक को जीवन के प्रति सत्यता का लाभ होता है।

किसी न किसी प्रकार का संघर्ष ही नाटक का सार है। मानव-स्पर्धाओं, विरोधी स्वार्थों, प्रतिद्वन्द्वी राजनीतिक, धार्मिक अथवा सामाजिक शक्तियों में से किसी को भी वह अपना आधार ग्रहण कर सकता है। कभी-कभी मानव

का हृदय ही भीषण रणस्थली बन जाता है और वह एकाकी भी अपने साथ युद्ध करने लगता है जिससे दुःखमय प्रवृत्ति और परिस्थिति के अनावरण को पर्याप्त अवसर और अवकाश मिलता है। कभी-कभी मानव-संघर्ष किसी अपरिमेय अलौकिक शक्ति के साथ छिड़ जाता है—ऐसी शक्ति के साथ जिससे मनुष्य अपने किसी कवच द्वारा सुरक्षित नहीं रह सकता। परिणाम यह होता है कि उस संग्राम में उसका वीरत्व, उसका साहस असफल रहता है।

सुख और दुख को लेकर आधुनिक हिन्दी-नाटक के दो प्रमुख भेद किये जाते है किन्तु संघर्ष का सिद्धान्त दोनों में कृतिमय दीख पड़ता है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि दुखान्त नाटकों का सम्बन्ध मृत्यु अथवा मानव-प्रयत्नों की असफलता जैसे गम्भीर परिणामों से होता है और सुखान्त नाटकों में जीवन का प्रतिरूपण परिचित घटनाओं के सहारे किया जाता है, जिनमें मनोवेगों का स्तर उतना ऊँचा नहीं उठता जितना दुखान्त नाटकों में उठ जाता है। उनमें पात्र विपत्तियों के चंगुल में पड़कर भी, यदि वह निर्दोष और निष्कलंक है तो, कुशलता से बाहर निकल आता है। सामान्यतया हम यह भी कह सकते हैं कि दुखान्त नाटक में या तो बड़े-बड़े मनोरागों का पारस्परिक संघर्ष होता है, अथवा उन्हें किसी बाह्य शक्ति से लोहा लेना पड़ता है, जो उनसे बड़ी होती है। सुखान्त नाटक में आवेगों की इतनी मार्मिक तीव्रता का चित्रण नहीं होता। वैसे तो दुःखान्त नाटकों में भी मनोवेगों की वह मार्मिक तीव्रता नहीं आ पाती जो पद्य में आ जाती है क्योंकि पद्य तीव्र मनोवेगों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त साधन है। जीवन के कशाघातों को जितनी सफल अभिव्यक्ति पद्य में मिल सकती है, उतनी गद्य में नहीं किन्तु सुख की परिस्थितियों के चित्रण के लिए गद्य ही उपयुक्त है क्योंकि उसमें वस्तु-चित्रण के लिए उपयुक्त शक्ति है। अतएव नाटक में जहाँ दुखमय परिस्थितियों के क्रोड़ में गम्भीर सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत होते हैं, वहाँ कविता का स्वरूप प्रतिष्ठित हो जाने से दृश्यता गौण बन जाती है।

हिन्दी के आधुनिक नाटकों में कुछ नए प्रयोग भी होने लगे हैं जिनमें दुख-सुख का सम्मिलित रूप दीख पड़ता है। उनको नाटकीय रोमांस कहना अनुचित न होगा। 'प्रसाद' की 'ध्रुवस्वामिनी' नाटिका इसी प्रकार की कृति है। दुर्वृत्ति रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी की मुक्ति और उसके लिए प्रयुक्त साधनों में विषादान्त हर्ष का चित्र स्पष्टतः दीखता है। ऐसे दुख-सुखान्त नाटकों में दुखान्त नाटक के प्रायः सब तत्त्व मिलते हैं और वास्तव में एक सीमा तक नाटक की दुखान्तता अनिवार्य प्रतीत होती है किन्तु आकस्मिक साधनों का उपलाभ अन्त को सुख की ओर मोड़ देता है। शेक्सपियर का 'मर्चेण्ट आफ

वेनिस' और 'विण्टर्स टेल' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं, किन्तु हिन्दी में 'झाँसी की रानी' दुख-सुखान्त न होकर केवल दुखान्त नाटक का नमूना है।

आजकल नाटकों का एक और रूप चल पड़ा है। उसकी अवतारणा में अंग्रेज़ी 'मास्क' की अनुरूपता मिलती है। इसका आकलन गीतों और नृत्यों में दृश्यता-प्राचुर्य के विधान से होता है। कुछ संकोच के साथ इस प्रकार के रूपक को 'मास्क' कहा जा सकता है। उपयुक्त संज्ञा के अभाव में हम इसे 'गीति-नाट्य' से अभिहित कर सकते हैं। श्री उदय शंकर भट्ट के 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वशी' का यही स्वरूप है। भट्ट जी ने इन्हें 'ध्वनि-रूपक' का नाम दिया है। मैं समझता हूँ 'गीति-नाट्य' या 'गीति-रूपक' अधिक आकर्षक नाम है।

१७

कविता : व्याख्या और स्वरूप

युग-युगान्तरों के आलोक और अन्धकार को देखती हुई कविता अनेक बाधाओं और मोड़ों में होती हुई हम तक आयी है। प्रत्येक युग उसे अपने पहलू से देखता गया है किन्तु उसकी अब तक कोई परिभाषा नहीं हो पायी। अनेक मनीषियों ने उसे अपने-अपने दृष्टिकोण से देखा है। भारतीय और अभारतीय मतों में भी अन्तर रहा है। कहीं शब्द-योजना को महत्त्व दिया गया है और कहीं अर्थ-रमणीयता को। रसवादियों ने कविता को रसप्राण माना है। परिभाषाएँ अपने-अपने दृष्टिकोण के भेद से परस्पर भिन्न हैं किन्तु यह भिन्नता तात्त्विक दृष्टि से अभिन्न है। वह तत्त्व जीवन-तत्त्व है। पूर्ण एकता के अभाव से सब परिभाषाएँ भिन्न है किन्तु तात्त्विक लक्ष्य एक होने से उनकी एकता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता।

यदि शब्द-योजना पर ही विचार करें तो प्रत्येक शब्द जीवन का वाहक है क्योंकि वह जीवन के किसी अंश का प्रतीक है। स्थूल और सूक्ष्म, दोनों दृष्टियों से जीवन व्यापक है। आकाश की कल्पित ऊँचाई अथवा किसी अधोतल की गहराई जीवन-व्यापकता का कोई अंग अवश्य है। जिस प्रकार एवरेस्ट का गौरव-गुमान जीवन के पद से आक्रान्त है, उसी प्रकार तारा-तरल नभ-मंडल भी जीवन-लोचन की विहार-उपवनी है। इस दृष्टि से शब्द जीवन-गौरव के भारवाही भृत्य हैं। शब्दों की उत्पत्ति जीवन की अभिव्यक्ति के लिए है। उनमें जीवन के अनेक रूप निहित रहते हैं। शब्दाश्रित होने से अर्थ भी जीवन से अलग नहीं होता और जीवन से विलग रहने वाले अर्थ की शायद कल्पना भी नहीं की जा सकती। भरत मुनि ने "गूढ़ शब्दार्थहीनं…… शुभ काव्यम्" कह कर इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि कविता में उन शब्दों और अर्थों का कोई मूल्य नहीं जो जीवन को व्यक्त करने में असमर्थ हैं। शब्द और अर्थ की

गूढ़ता के निषेध से आचार्य भरत ने शायद जीवन-निरूपण करने वाली शक्ति के अभाव का निषेध किया है। शुभ काव्य की योग्यता में वे मृदु एवं ललित पद-योजना की भी आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं। अग्नि पुराण ने भी "अभिधाया: प्रधानत्वात्काव्यं" कह कर इष्टार्थ साधक पदावली को ही काव्य माना है किन्तु पुराणकार ने काव्य में गुणों और अलंकारों के होने तथा दोषहीनता को भी महत्त्व दिया है। दण्डी ने भी पुराण के स्वर में इष्टार्थ की सिद्धि को ही प्रधानता दी। भामह ने उसी दिशा में कुछ प्रगति की और "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" कहकर काव्य का मूल्यांकन 'सहित' से किया जबकि रुद्रट 'शब्दार्थ' में ही काव्य खोजते रहे।

वामन ने अलंकार के महत्त्व की ओर दृक्पात करते हुए काव्य में अलंकार स्थिति पर जोर दिया। "अलंकार" और "सौन्दर्य" को एक मान कर अलंकार से काव्य की ग्राह्यता बतलायी। 'रीति' और 'ध्वनि' के प्रचारकों ने इन्हीं में काव्य के प्राण देखे किन्तु शब्द और अर्थ की अवहेलना वे भी न कर सके। कुंतल, हेमचन्द्र, विद्यानाथ, भोज, मम्मट, वाग्भट, जयदेव, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि सब ने काव्य में 'शब्दार्थ' की महिमा स्वीकार की। हाँ, कुंतल वक्रोक्ति पर और मम्मट रस पर विशेष ज़ोर देते रहे किन्तु काव्यगतसगुणता, सालंकारता एवं अदोषता का निषेध किसी ने नहीं किया। 'रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्" कहकर पंडितराज जगन्नाथ ने भी भरत मुनि के मौलिक भाव का ही प्रतिपादन किया।

इस विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने काव्य की अनेक परिभाषाएँ दी हैं जिनसे भेद आभासित होता है। कोई आचार्य काव्य की आत्मा को रसरूप में देखते हुए कहते हैं 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और कोई ध्वनि को काव्यात्मा मानते हैं। किसी ने काव्य में अलंकार को, किसी ने रीति को और किसी ने वक्रोक्ति को अनिवार्य माना है। परिभाषा का विकास इस युग में भी हुआ है।

'प्रसाद' का कहना है कि 'काव्य आत्मा की, संकल्पात्मक मूल अनुभूति है जिसका सम्बन्ध, विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है।' आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की दो धारायें हैं : एक काव्य धारा है और दूसरी वैज्ञानिक, शास्त्रीय या दार्शनिक धारा। वस्तुतः दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है; दोनों ही आत्मा के अखंड संकल्पात्मक स्वरूप के दो पहलू मात्र हैं। कुछ लोग श्रेय और प्रेय के भेद से विज्ञान और काव्य का विभाजन करते हैं किन्तु प्रसाद जी का स्पष्ट मत है कि यद्यपि विज्ञान या दर्शन में श्रेय रूप से ही सत्य का संकलन किया जाता है और काव्य में प्रेम रूप की प्रधानता है किन्तु श्रेय और

प्रेय दोनों ही आत्मा के अभिन्न अंग हैं। काव्य के प्रेय में परोक्ष रूप से श्रेय निहित है। काव्य की व्याख्या में उन्होंने कहा है, "काव्य को संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।"

पं० रामचन्द्र शुक्ल कविता की व्याख्या करते हुए कहते हैं—"कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" वे आगे कहते हैं "कविता उन मूल और आदिम मनोवृत्तियों का व्यवसाय है जो सजीव सृष्टि के बीच सुख-दुख की अनुभूति से विरूप परिणाम द्वारा अत्यन्त प्राचीन कल्प में प्रकट हुई और जिनके सूत्र से शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव मनुष्य जाति आदि काल से करती चली आई है। रागों या वेगस्वरूप मनोवृत्तियों का सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करके कविता मानव-जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है। सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का सामंजस्य ही कविता का लक्ष्य है।"

डा० रामशंकर शुक्ल रसाल प्राचीन आचार्यों के मतों को समन्वित रूप में रखते हुए काव्य में इन लक्षणों का होना अनिवार्य बतलाते हैं :—

(१) सुन्दर और मनोरंजक भाव, (२) चमत्कृत शैली से, भावों का वैचित्र्य के साथ सुव्यवस्थित एवं काव्योचित भाषा में अभिव्यंजन, (३) सरसता और कोमलता लिये हुए सुन्दर पदावली, (४) मधुर और मंजुल शब्द-संचयन जिसमें स्पष्टता, सुबोधता, सार्थकता, और स्वाभाविकता हो, (५) मनोरंजक कल्पना, और चित्ताकर्षक चित्रोपमता, (६) स्वाभाविकता के साथ-साथ मानसिक भावनाओं और मनोवृत्तियों का व्यापक और वास्तविक चारु चित्रण, (७) मानव-जीवन अथवा उसके व्यापारों की विशद व्यंजना के साथ-साथ गूढ़, गंभीर और उच्च विचारों का सामंजस्य, (८) वर्णन में मौक्तिक क्रम और सजीव साकारता और, (९) मधुर संगीतात्मक छंद की छटा।

काव्य, कविता और कवित्व व्युत्पत्ति के नाते एक हैं किन्तु व्यवहार में काव्य में व्याप्ति, कविता में अव्याप्ति और कवित्व भाव (Abstract) बन जाता है। काव्य कवि का गुण है। कवित्व भी गुणवाचक है। आज की दृष्टि से काव्य वस्तुगत (Objective) और कवित्व आत्मगत (Subjective) है, पर आजकल तो काव्य को और भी अधिक संकीर्ण कर लिया गया है। कभी-कभी 'कविता' शब्द का प्रयोग छोटी स्फुट रचना के लिए किया

जाता है, तथा 'काव्य' प्रबन्ध के लिए, पर ये भेद केवल अवचेतन मन (Subconscious mind) के हैं ।

वैसे काव्य बहुत व्यापक अर्थ रखता है, गद्य-पद्य का भेद नहीं है, पर व्यवहार में भेद है । विश्वनाथ ने गद्य को भी काव्य माना है । उन्होंने प्रभेद अवश्य किये थे । आज तो शुद्ध भावात्मक रचना को गद्य-काव्य बना दिया गया है । अभी एक नया शब्द बन गया है 'गद्यगीत' । गीत का संगीत से सम्बन्ध है । काव्य, संगीत होने से अधिक हृदयग्राही बन जाता है । गद्यगीत से स्पष्ट है कि गीत के लिए पद्यात्मकता आवश्यक नहीं रही । तो फिर काव्य के लिए भी नहीं है ।

काव्य व्यापक चीज़ का नाम है । वह गद्य-पद्य, दोनों में हो सकता है । गद्य-पद्य का भेद वस्तुपरक है । पद्य, में वृत्तों की अनुरूपता, रागों की अनुरूपता, लय और एक विशेष प्रकार की पदावलि जिसमें व्याकरण की अवहेलना भी हो सकती है, रहती है । स्वपरक दृष्टि से (Subjectively) 'लय' वह है जो विलीन करदे, तन्मय करदे । वस्तु-दृष्टि से (Objectively) लय जब वाणी में घटित होती है तब उसे संगीत कहते हैं । संगीत वाणी की लय है । जानवरों में भी लय मिलती है, पर बे-नाप तोल की । मनुष्यों में वह नाप-तोल की होती है । लय स्वाभाविक है और प्राणिमात्र की चीज़ है । वह मनुष्य की बपौती नहीं, उसका व्यवहार है । व्यवहार दो मनुष्यों के मिलने पर होता है । गद्य व्यवहार की वाणी है । व्यवहार रोज़-मर्रा के आदान-प्रदान को कहते हैं । गद्य व्यवहार की बोली और पद्य लय की (भाव की, व्यक्ति की) बोली है । गद्य को समाज या समूह की बोली भी कह सकते हैं । व्यक्ति से समाज बना । व्यक्ति की वाणी अधिक मौलिक है । जब से समाज का आविर्भाव हुआ, तभी से व्यवहार भी प्रारम्भ हुआ होगा । जीवन-क्रम में विकास होता गया, दुर्बल पर सबल का आरोप होता गया, यह स्वाभाविक नियम है । दोनों पक्षी-विपक्षी की भाँति बने रहे; पर काव्य में गद्य-रचनाओं की गणना भी हो जाती है । नाटक के ऊपर—गद्य रचना के ऊपर—नाट्यशास्त्र और रसादिविवेचन आदि के द्वारा काव्य-शास्त्र बन गया । गद्य में काव्य-संभावना दीखी और उसी आधार पर काव्य-शास्त्र की रचना हुई । यह आरोप हुआ । जब संकुलता बढ़ती है तब आरोप होता है । संकुलता समाज में हुई, व्यक्ति में नहीं हो सकती । इससे मनुष्य का एकान्तिक रूप दबता गया और गद्य की भाषा अधिक स्वाभाविक बनती गयी । व्यवहार-संकुलता के कारण इस प्रकार आरोप हुआ । सब प्रयोजनों की सिद्धि के लिए एक सामान्य साधन को काम में लाने की प्रवृत्ति है—उस साधन को काम में लाने की प्रवृत्ति है जो हमारे पास सबसे अधिक देर तक रहता है । पैंसिल चाय में चम्मच का काम कर गयी क्योंकि

पैंसिल, प्राय: पास में रहने से, सुलभ है। धोती की पट्टी भी सुलभता के कारण ही बन जाती है। इसी प्रकार गद्य की भाषा भी सरल और सुलभ थी और लय की भाषा कम होने के कारण कठिन होती गयी। अत: भाव-प्रकाशन के लिए गद्य ही का प्राधान्य हुआ। गद्य में लय आ सकती है, काव्य का अभिप्राय सिद्ध हो जाता है। गद्य की वाणी भी आत्मगत (Subjective) लय प्रदान कर सकती है। उदाहरण के लिए शकुन्तला के छठे अंक में 'निज भागधेयं आदि' को ही देखिये। व्याकरण संमतता के साथ गद्य में सरलता और स्पष्टता की प्रधानता रहती है।

कविता जीवन का प्रतिरूपण है जिसमें कवि की अनुभूतियाँ मधुर शब्दों में कल्पना के सहारे व्यक्त की जाती हैं। अनुभूतियाँ जितनी गहन, सामयिक और मार्मिक होंगी, कविता उतनी ही प्रभावपूर्ण और सरस होगी। कवि अनुभूतियों की खोज नहीं करता। उसके जीवन में चारों ओर अनुभूतियाँ बिखरी रहती हैं, जिस प्रकार कि सामान्य व्यक्ति के जीवन में बिखरी रहती हैं किन्तु अन्तर इतना-सा रहता है कि सामान्य व्यक्ति उन आँखों से नहीं देख सकता जिनसे कवि देखता है। उसके पास वह दृष्टि नहीं होती जो कवि के पास होती है और कवि के कहने की शैली भी विचित्र होती है। कवि सामान्य बात को भी इस ढंग से कहता है कि अन्य उसे नहीं कह सकते। उसको मर्म की परख होती है और वह परिस्थितियों से परिचित होता है। किस परिस्थिति में क्या मर्म छिपा होता है, यह कवि की आँख ही अधिक अच्छी तरह देख सकती है। जिस दृष्टि से एक राजनीतिज्ञ या दुनियादार उन परिस्थितियों को देखता है उस दृष्टि से कवि नहीं देखता। कवि के हृदय की आँखें खुली रहती हैं—वे आँखें जो सरस उल्लासमय तरंगों से पूर्ण होती हैं, वे आँखें जिनमें सजल लोचनों से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा व शक्ति भरी होती है। उसकी अनुभूतियाँ काल्पनिक सम्भावनाओं से परिप्लावित होती हैं, जिनमें मधुरता, मोहकता और विचित्रता भरी होती है। जिस स्थान पर राजनीतिज्ञ चूक जाता है, जहाँ इतिहासकार भूल कर जाता है, जहाँ वैज्ञानिक की आँख भी पहुँच नहीं पाती वहाँ कवि के हृदय की पैनी दृष्टि पहुँचती है और उन व्यापक तथ्यों की खोज कर लाती है जो शाश्वत और सुन्दर हैं। गीता में 'कवि' शब्द का प्रयोग अर्जुन ने श्रीकृष्ण के लिए किया है। वहाँ उन्हें 'पुराण कवि' कहकर अभिहित किया गया है। 'पुराण कवि' का अर्थ है आदि कवि। कवि का अर्थ बुद्धिमान, मनीषी या द्रष्टा किया जाता है। जिन महात्माओं को पाश्चात्य लोग 'सीअर' कहते हैं उनको अपने यहाँ द्रष्टा कहते हैं। ऋषि या मनीषी दो प्रकार के होते हैं—मंत्रद्रष्टा व मंत्रोपदेष्टा। 'मंत्र' का अर्थ है सलाह अथवा

अच्छे-बुरे का दिग्दर्शन कराना। मंत्रोपदेष्टा मंत्रणा देता है। बुद्धिमान् वही हो सकता है जो चारों ओर देखकर, समझ कर फिर कुछ कहता है। पूर्ण दर्शन से ही सही बात का पता चलता है। बुद्धिमान् सही बात का पता चला लेता है, अतएव वह द्रष्टा है। इसीलिए कृष्ण को पुराण कवि कहा गया है। इसीलिए 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' वाक्य का प्रचलन है।

अब प्रश्न यह है कि कवि भी तो मनुष्य है और मनुष्य सर्वशक्तिमान नहीं है। फिर वह सब कुछ कैसे देख सकता है ? वह (कवि) मूल तत्त्वों के सहारे दर्शन के बाद विश्व को देख लेता है। तत्त्व हमारी वृत्तियाँ है। राजा-रंक, चींटी-हाथी, सब के जीवन को—समस्त सृष्टि को (जड़ सृष्टि को भी) वह देख लेता है। अपने जड़ रूप में जड़ सृष्टि चेतन के अवलम्ब से ही कायम है। चेतन के बिना जड़ शक्ति बन नहीं सकती। कवि जड़ में चेतन के विलास को अपने कमरे में भी देखता है, जड़ नेत्रों से नहीं, विशाल चेतन दृष्टि से। इसीलिए कवि, जीवन-द्रष्टा ही नहीं, विश्व-द्रष्टा भी है। इसीलिए उसकी 'कृति' अतर्क्य है। यही उसका मंत्र है। मंत्र सत्य है।

पंचेन्द्रिय ज्ञान के अतिरिक्त सब कुछ आत्मगत या मनोगत है। वस्तु (Object) की इन्द्रियगोचरता तत्सम्बन्धी वृत्तियों का ज्ञान कराती है। वस्तु गोचर होकर ही—घटित होकर ही, वृत्ति को सामने ला सकती है। मेज तभी समझ में आयेगी जब सामने आये। यही विषयी का विषयगत रूप है।

यहाँ 'सब्जैक्ट' और 'ओब्जैक्ट' को समझ लेना आवश्यक है। उन जड़ स्थूल पदार्थों को 'ओब्जैक्ट कहते हैं जिनका स्थूल इन्द्रियों से ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त पंचेन्द्रिय ज्ञान से ऊपर जो भी है वह 'सब्जैक्टिव' है। चेतनत्व का बोध इन्द्रियों से नहीं होता। वृत्तियाँ आत्मपरक (Subjective) हैं। उनसे प्रेरित कार्य-कलाप वस्तुपरक (Objective) है। आत्मदृष्टि से (Subjectively) इच्छा रूप कर्म पहले हुआ।

जिस प्रकार काव्येतर लोक में हम यह कहते हैं कि पहले कर्म हुआ, फिर कर्ता, उसी प्रकार काव्य-लोक में ऐसा नहीं है। ऐसी बात नहीं कि कुंभ की तरह कविता का अस्तित्व भी पहले हो।

यहाँ तो कवि से काव्य बना है। काव्य में कवि का अस्तित्व पहले से ही है। काव्य में 'ष्यञ्' प्रत्यय है। सौख्य, सौजन्य और दैन्य में भी यही प्रत्यय है। सौजन्य का अर्थ है "अच्छा आदमीपन" इस 'पन' का अर्थ भाव है, कर्म नहीं। सुजन का कर्म सौजन्य नहीं है, सुजन का स्वभाव ही सौजन्य है। इसी प्रकार काव्य का अर्थ हुआ 'कविपना' या कवि का 'स्वभाव'।

'कविपना' जब तक मूर्त रूप धारण नहीं कर लेता, तब तक कवि-कर्म

नहीं हो सकता। काव्य तो कवि का गुण या स्वभाव होने से अमूर्त है। बाद में कवि कर्म को काव्य कह सकते हैं क्योंकि वह गोचर हो जाता है। काव्य इच्छा रूप में घटित होने पर भी स्वभाव रूप में है, कर्म रूप में नहीं। शरीर में कवि बनने की क्षमता नहीं। जब हम कवि का काव्य पढ़ते हैं तब उसका गुण अथवा स्वभाव—उसका मूर्तरूप हमारे सामने आता है। अस्तु, काव्य कवि का गुण या स्वभाव है। पहले कवि बना और बाद में काव्य। अतएव हम कह सकते हैं कि 'काव्य भाव-वृत्तियों के माध्यम (दर्शन) द्वारा, जो कि उसका केवल चरम साधन या उपाय है, जीवन की आत्म कहानी है, जो कवि का कर्म नहीं, स्वभाव है।'

पाश्चात्यों के मत से भी काव्य भावना और कल्पना की व्यवस्था है। अरस्तू ने काव्य को अनुकरण (Imitation) स्वरूप माना है। यह अनुकरण जीवन का अनुकरण है। इसी में 'इमेजीनेशन' है। 'इमेजीनेशन' को कुछ लोग 'कल्पना' कहते हैं। 'कल्पना' शब्द 'कल्प' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'बनाना' या 'निर्माण करना'। 'इमेजीनेशन' से कल्पना का वास्तविक अर्थ व्यक्त नहीं होता है। कल्पना का अर्थ निर्माण है। हम ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश आदि रूपों की कल्पना कर सकते हैं ? क्यों ? यों तो कल्पना ऊटपटाँग चीज की भी हो सकती है, किन्तु जिस चीज का अनुभव नहीं है, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यथार्थ का संयोजन आत्मपरकता के ही आधार पर होता है। कल्पना स्मृति की प्रक्रिया (Process) है, वस्तु के रूप में। चन्द्र के बिना चन्द्रमुख का अस्तित्व नहीं। अपने उद्देश्य के नाते ही चन्द्रमुख कर दिया गया। आनन्द प्राप्ति की वासना से कारण संयोजन-क्रिया की गयी। वस्तुरूप से अनुभूत भिन्न तत्त्वों का संयोजन ही कल्पना है। आत्मगत (सब्जेक्टिव) चीज उसका हेतु है, स्वरूप नहीं। चन्द्रमुख का रूप उद्देश्य की प्रेरणा से बन जाता है। अतः यह हेतु है। प्रत्येक कल्पना में उसका साधारण धर्म ही हेतु बनता है।

कवि को विषय चुनना नहीं पड़ता। मर्मोल्लसित विषय स्पर्धासहित कवि का ममत्व प्राप्त करने के लिए उसके पास आते हैं और वह किसी को स्वीकार कर लेता है। जब अंग्रेज कवि बर्ड्सवर्थ 'लीच गेदरर' में अपनी सुन्दर कविता का विषय प्राप्त कर लेता है, तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जीवन की अनेक झाँकियों में से वह जिसे चाहता है उसे पकड़ लेता है; किन्तु वह देखता कैसे है और क्या देखता है और देखे हुए की अभिव्यक्ति किस प्रकार करता है ? इसी में कवि-कर्म का अखिल रहस्य निहित है।

जगत् में रह कर लोक-जीवन को खुली आँखों से देखना, मानव और प्रकृति के साथ गहन सम्पर्क स्थापित करना और कभी-कभी दिव्य जीवन की

झाँकी भी करना कवि का नित्य कर्म है। वह कभी सीधा दिव्य लोक में विचरण करने जा पहुँचता है और कभी लौकिक जीवन में होकर प्रकृति के मध्य बिखरे हुए सौन्दर्य में दिव्य जीवन की झाँकी करता है। यद्यपि कवि के संस्कार भी बहुत कुछ काम करते हैं किन्तु इसका बहुत कुछ श्रेय कवि की प्रतिभा को ही है।

कवि जीवन को जितना समीप से देखता है वह उतना ही सजीव चित्र प्रस्तुत करता है। जीवन उसके भीतर-बाहर इधर-उधर, चारों ओर ही तो बिखरा पड़ा है। उसका जीवन बाहर प्रकृति के कण-कण व अणु-अणु से और भीतर वाहर की प्रत्येक लहर से सम्बन्धित है। प्रकृति के प्रति उसकी दो प्रकार की प्रवृत्ति रहती है : एक में वह प्रकृति का द्रष्टा होता है और दूसरी में प्रकृति का अभिन्नांग। पहली स्थिति में प्रकृति के प्रति उसका आचरण दो प्रकार का हो सकता है : एक में प्रकृति कवि के सामने उद्दीपन के रूप में आती है और दूसरी में आलम्बन के रूप में, क्योंकि दोनों में वह प्रकृति से मुग्ध या खिन्न होता है। जहाँ कवि प्रकृति का प्रशासक होता है, जहाँ प्रकृति किसी आलम्बन के प्रति कवि के भावों को प्रेरित करने में साधन नहीं होती अपितु कवि की भावधारा स्वयं प्रकृति के प्रति ही बहती है, वहाँ होता है प्रकृति का आलम्बनत्व। प्रकृति कवि के हृदय में बिल्कुल उसी प्रकार से आचरण करती है जैसे कोई नायक या नायिका। जब कवि प्रकृति का एक अवयव बनकर आचरण करता है तो उसकी वैयक्तिक अनुभूतियाँ प्राकृतिक अभिव्यंजना का रूप धारण करती हैं उस दशा में प्रकृति से संकेत लेकर कवि आत्माभिव्यंजन करता है।

प्रबन्ध काव्य में प्रकृति-चित्रण आलम्बन एवं उद्दीपन, दोनों रूपों में मिलते हैं किन्तु प्रायः उसमें प्रकृति को उद्दीपन रूप में ही स्वीकार किया जाता है क्योंकि प्रकृति को आलम्बनत्व प्रदान करने पर प्रबन्धकार का व्यक्तित्व प्रमुख हो जाता है और नायक अथवा उससे सम्बन्धित पात्र (जिनके साथ कथा चलती है) का व्यक्तित्व गौण हो जाता है। इस प्रकार वस्तुभाग शिथिल और कथा-प्रवाह बाधित होना स्वाभाविक ही है; परन्तु मुक्तक के क्षेत्र में इस प्रकार का कोई भय नहीं है। कवि की इच्छा के ऊपर है कि वह प्रकृति के साथ कैसा आचरण करे। फिर भी उसकी रुचि को संस्कारों से मुक्त नहीं मान सकते क्योंकि मानव-रुचि को प्रेरित करने में संस्कारों का प्रमुख हाथ होता है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि कवियों की रुचि प्रकृति के उद्दीपनत्व में ही रमी है किन्तु ऐसे उदाहरणों का भी अभाव नहीं है जो यह सिद्ध कर सकते हैं कि प्रकृति के आलम्बनत्व में भी मुक्तककार की रुचि विस्मयकारी परिणाम प्रस्तुत कर सकती है। सेनापति के प्रकृति वर्णन विषयक अनेक कवित्त, पंत के अनेक गीत, श्रीधर 'पाठक' के अनेक वर्णन इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

प्रकृति के साथ छलकने वाली चीज है प्रेम जो कवि के हृदय में सहसा उमड़ पड़ता है। वह इतना अगाध और अटूट प्रवाह होता है कि विश्व की किसी वस्तु के प्रति बह सकता है। ऐसी बात नहीं है कि वह मानव के प्रति ही बहे, पर हाँ, मानव उसका आधार तल अवश्य है क्योंकि जहाँ मानव नहीं, जहाँ मानव का स्वभाव, मानवता नही, वहाँ भला प्रेम कहाँ से आ सकता है। इसलिए प्रेम की जड़ मानवता में जमती है, प्रेम का उद्‌गम मानव हृदय है, उसका उदय मानवता से होता है और उसके विकास की सीमा भी मानवता ही है। मानवता के विशाल प्रांगण में कवि के प्रेम की धारा कोई रुख और कोई दिशा ग्रहण कर सकती है। उस पर कोई बन्धन नहीं, कोई नियन्त्रण नहीं, पर उसकी स्वतन्त्रता मानवता की परिधि में ही सुरक्षित है। अति-मानव होकर वह प्रेम की अभिव्यञ्जना नहीं कर सकता, उसकी पुकार में मधुरता नही आ सकती; वह उन्मत्त का प्रलाप अवश्य बन सकती है।

प्रेम की अभिव्यंजना लौकिक और पारलौकिक दोनों क्षेत्रों में होती है, जिसको अलौकिक प्रेम कहते हैं, उसका आश्रय भी मानव ही होता है, भले ही प्रिय अतिमानव हो। प्रेमी तो मानव ही होता है लौकिक प्रेम में प्रेमी और प्रिय दोनों की मानवता सिद्ध है। कविता में प्रेम की अभिव्यंजना दो प्रकार से होती है : कहीं गूढ़ रूप में और कहीं अगूढ़ या व्यक्त रूप में। जहाँ प्रेम की गूढ़ व्यंजना होती है वहाँ उसका स्वरूप लाक्षणिक या सांकेतिक होता है किन्तु जहाँ प्रेम के सहज और सरल उद्‌गार होते हैं, जहाँ अभिव्यंजना संकेत-साधित नहीं होती वहाँ प्रेम का स्पष्ट रूप अभिव्यक्त होता है। प्रेम की सांकेतिक अभिव्यक्ति में आरोपों की प्रधानता रहती है। उसमें काव्य की मधुरता एवं सरलता प्रायः कौशल और अभ्यास पर निर्भर रहती है।

प्रेम की दो परिस्थितियाँ हैं, एक संयोगात्मक और दूसरी वियोगात्मक। 'संयोग' का कवि उतना गम्भीर और सरस नहीं होता जितना 'वियोग' का। 'संयोग' मानव सुख की परिस्थिति है जिसमें गम्भीरता का नाम नहीं, जो 'स्प्रिट' की तरह छलक कर उड़ जाने वाली वस्तु है। दूसरी बात यह भी है कि सुख कारण नहीं है, कार्य है; गम्भीर नहीं उथला है; स्थायी नहीं अस्थायी है; व्यापक नहीं स्थानीय है, किन्तु 'वियोग' दुःख की परिस्थिति है उसमें गम्भीरता और व्यापकता है। वह इस जगत् को स्थायी सम्पत्ति है और सुख का कारण है। सुख की मुरझा कर गिर पड़ने वाली पत्तियाँ दुख के शूलों में ही प्रस्फुटित होती है। व्यापकता के कारण, अनेक देशीयता के कारण दुख की अनेक अवस्थाएँ अवगत होती हैं। उनमें गहराई उतनी ही दिखायी जा सकती है जितनी कवि की अनुभूति में, जितनी कवि की कल्पना में, जितनी कवि की संवेदना

में, अथवा यों कहिये कि जितनी कवि के हृदय में। लौकिक और अलौकिक दोनों रूपों में वियोग की दशा के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। रहस्य-वादियों का अलौकिक वियोग अनेक शताब्दियों से प्रख्यात है। विरह की अभिव्यक्ति में मुक्तक शैली ही बहुत उपयुक्त सिद्ध हुई है। प्रबन्ध में उसकी तीव्रता और मार्मिकता बाधक हो जाती है। यों तो हिन्दी के सूफी कवियों ने प्रबन्ध के द्वारा भी विरह को साकार करने की चेष्टा की है किन्तु विरहजन्य तीव्र वेदना जैसी 'मुक्तकों में मिलती है वैसी प्रबन्धों में नहीं मिलती क्योंकि प्रबन्ध-कवि का दायित्व केवल वेदना की अभिव्यक्ति की ओर ही न रह कर वस्तु निर्वाह, चरित्र-चित्रण आदि की ओर भी विभक्त हो जाता है। इसलिए कवि प्रतिभा की समग्रता के विभाजन से कविता की मार्मिक तीव्रता भी छिन्न और खण्डित हो जाती है। यह ध्यान रहे कि मानव के आवेग उसके दास नहीं होते। जहाँ वह उन्हें दास बनाने का प्रयास करता है वहाँ उनकी सहजता, सरलता और सरसता नष्ट हो जाती है। प्रबन्ध काव्य में कवि को दोनों बातें साथ-साथ निभानी पड़ती हैं : एक तो प्रबन्ध के प्रति औचित्य का निर्वाह करना पड़ता है और दूसरे मार्मिक आवेगों की मधुरतम अभिव्यक्ति। एक ओर ध्यान जाने से दूसरा कर्म बाधित हुए बिना नहीं रह सकता और दोनों का साथ-साथ निर्वाह दुस्साध्य ही नहीं, कभी-कभी असम्भव भी हो जाता है। इसीलिए प्रेम-प्रबन्धों में प्राय: इस प्रकार के साधन-संकट दीख पड़ते हैं।

कवि का प्रेम किसी प्रेयसी या परमात्मा के प्रति ही बहता हो, ऐसी बात नहीं है। वह इतना व्यापक हो सकता है जिसमें गीता के "वसुधैव कुटुम्बकम्" का सिद्धान्त भी चरितार्थ हो सकता है और कुछ संकीर्ण होकर देश, जाति अथवा किसी देश-वीर के प्रति भी हो सकता है। भिन्न-भिन्न आलम्बनों के अनुरूप, प्रेम भिन्न-भिन्न नाम धारण करता है। कहीं वह विश्व-प्रेम के नाम से, कहीं देश-प्रेम और कहीं वीर-प्रेम के नाम से अभिहित होता है। वीर-प्रेम का दूसरा नाम वीर-पूजा है। देश-प्रेम के अन्तर्गत देश का भूगोल, इतिहास, मानव, वातावरण आदि सभी तो कवि के हृदय को खींचते हैं, सभी से कवि का निकट सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार देश के आदर्श वीर कवि को मुग्ध कर लेते हैं क्योंकि वह उनमें सच्चे मानव के दर्शन करता है, मानवीय गुणों को साकार रूप में देखता है। विश्व-प्रेम का क्षेत्र बहुत विशाल है। उसमें कवि संकीर्णता से मुक्त होकर विश्व-मानव के रूप में प्रतिष्ठित होकर विश्व को समदृष्टि से देखता है। देश और स्थान के बन्धन उसके पास तक फटकने नहीं पाते। वह सबको अपने से अभिन्न देखता है। यही उसकी विशालता का प्रमाण है। वह विश्व के कण-कण में, विश्व के जन-जन में और प्रत्येक प्राणी में एक ही शक्ति का साक्षात्कार

उसमें जीवन देने की शक्ति भी नहीं होती है। जीवन कहीं से देखा जा सकता है : किसी ऊँचाई से, किसी गहराई से और किसी कोण से। जहाँ जीवन को जीवन से देखा जाता है, जहाँ जीवन को हृदय से खोजा जाता है, वहीं जीवन के पायल का मधुर शब्द सुनायी पड़ता है। जो उस मधुर ध्वनिमय जीवन को पहिचान नहीं सकते वे उसकी झंकृति को भी क्या पहिचान सकते हैं। फिर उसकी अनुकृति तो और भी दुष्कर है। जीवन के पहिचानने का तात्पर्य है अपने को पहिचानना, केवल आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं, वास्तविक अलौकिक से भी। जो परिस्थितियों को पहिचानता है, उसकी सम्भावनाओं को जानता है, वह अपने हृदय में सब कुछ देख सकता है। वही सच्चा कवि है। भला विश्व का कौनसा ऐसा भाव होगा जो उसके हृदय के महासागर में तरंगित न होता हो। जगत के क्रन्दन को सुनकर कवि-करुणा उसके आलिगन के लिए आतुर हो उठती है। कुसुम की मुस्कराहट पर वह विश्वस्मति को उँडेल देता है। यही सच्चे कवि के गुण की माप है। जहाँ क्रौंच का आक्रन्दन वाल्मीकि की करुणा को विह्वल करके रामायण जैसे महाग्रन्थ की सृष्टि का कारण बन सकता है, जहाँ कुछ मनोदशाएँ कामायनी का उद्भव कर सकती हैं, जहाँ उर्मिला और यशोधरा की उपेक्षा 'साकेत' और 'यशोधरा' को इस युग में भी साकार कर सकती हैं, वहाँ हम यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि कवि—सच्चा कवि, शाश्वत एवं चिरन्तन भावों से संपृक्त रहता है। ऐसी बात नहीं कि भंगुर भावनाएँ उसके हृदय में उठती ही नहीं हैं, अवश्य उठती हैं, पर वह उनकी उपेक्षा कर देता है क्योंकि उसके हृदय के संगीत में, जीवन के चिरन्तन एवं शाश्वत तथ्य में उनका कोई मूल्य नहीं है। कहना न होगा कि जो कवि की चीज होगी वह अमूल्य सत्य होगी।

ठीक ही कहा जाता है कि उसकी लेखनी से देश का चित्र उतरता है और उसकी वाणी में समय का संगीत उमड़ता है। इसीलिए तो वह देशकाल का प्रतिनिधि माना जाता है। इसमें क्या सन्देह है कि जिसने साकेत को पढ़ लिया उसने बहुत कुछ मैथिलीशरण के देश और समय को पढ़ लिया, जिसने "कामायनी" को पढ़ लिया उसने प्रसाद और उसके देश तथा समय को पढ़ लिया और जिसने "अभिज्ञान-शाकुन्तल" को पढ़ लिया उसने कालिदास के देश और समय को पढ़ लिया; किन्तु याद रखने की बात यह है कि कालिदास का समय "प्रसाद" और "गुप्त" के समय से कितना ही दूर हो सकता है, कालिदास का देश इनके देश से कितना ही भिन्न हो सकता है, फिर भी उस समय के देश में और इस समय के देश में जीवन-तत्त्व में कोई अन्तर नहीं आया। हृदय का आचरण उसी प्रकार से हो रहा है, जीवन का आधार, उसको ज्योतिर्मय बनाने वाला चिरन्तन प्रकाश उसी प्रकार से जिस प्रकार प्राचीनों के

समय में था, अब भी है। इसलिए यह नहीं समझ लेना चाहिये कि कवि की कविता का मान युगवाणी से होता है, उसको मान देने वाले तत्त्व शाश्वत और चिरन्तन हैं और वे हैं मानव-भाव। जहाँ कवि इनकी उपेक्षा करता देखा जाता है वहाँ वह जीवन से खिलवाड़ करता पाया जाता है, वहाँ वह सत्य व सत्य की उपेक्षा एवं अवमानना करता पाया जाता है। कभी-कभी कवि परिस्थितियों से ऊपर न उठकर, उनमें दब कर, उनके प्रति आत्म-समर्पण कर देता है। फलस्वरूप उसकी वाणी में मुक्तकंठ उद्वेलित हो नहीं पाता। उसमें दासता और बन्धन की प्रतिध्वनि मिलती है। रीतिकाल की कुछ कविता में इसी प्रकार की दासता की कराह सुनाई पड़ रही है। कुछ कवियों ने उस समय भावों को अपना दास नहीं बना लिया था। यही कारण था कि कवि-पद्धति के दास बन कर वे कवि गतानुगतिक बन गये थे। युग-काव्य भी जब युग के भार से मुक्त नहीं होता तब ऐसी ही बँधी हुई वाणी प्रकाशित करता है। जो कवि युग में होकर चिरन्तन सत्य का अवलोकन करता है वह तो कवि है और जो चिरन्तन सत्य को युग की वेदी पर निछावर कर देता है वह कवि नहीं, और चाहे जो कुछ हो। युग कवि के सामने दीवार का काम नहीं कर सकता। कविता तभी उमड़ती है जब युग सरिता की धार का काम करता है। युग उसे प्रवाह एवं प्रेरणा देता है। यदि कवि के हृदय का प्रवाह, उसका चिरन्तन स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है तो समझिये कि कविता में शव निर्माण हो रहा है।

आज कवि के सामने यह प्रश्न आ सकता है कि वह किस प्रकार की कविता लिखे ? क्या वह विज्ञान के इस युग में विज्ञान-विषयक कविताएँ लिखे अथवा बढ़ते हुए मानव-संघर्ष के युग में कविता को भौतिक आवश्यकताओं को सौंप दे ? उत्तर सरल है। कविता जीवन की है और जीवन के लिए है। वह एक व्यापक भाव है जिसमें समस्त विश्व ओत-प्रोत है, जिसमें मानवता का, शेष विश्व के साथ, सम्बन्ध निहित है। इसमें आध्यात्मिक जीवन भी सन्निवेष पाता है। जो मानव एक भौतिक जगत् से सम्बन्ध रखता है वही अनन्त भाव जगत् से भी सम्बन्धित होता है। इसलिए जब जीवन की बात की जाती है और जब यह कहा जाता है कि कविता का लक्ष्य मानव का आनन्द हो तो इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि जीवन से मिलने वाला आनन्द ही अभिप्रेत है क्योंकि जीवन से पृथक् आनन्द का कोई मूल्य नहीं रह जाता। यदि वीणा की तान का मानव-शव के लिए कोई महत्त्व है तो निर्जीवन आनन्द की भी कल्पना के लिए कहीं अवकाश हो सकता है।

अतएव कविता कविता के लिए है, इस मत का कोई मूल्य नहीं है। यदि कविता कला है और कला कला के लिए है तो उस कला के मूल्यांकन का क्या

आधार होना चाहिये ? इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते हैं कि कला सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है और उसका सम्बन्ध मानव से अर्थात् मानव-जीवन से है। जिस सीमा तक कला मानव को आल्हादित करती है अथवा उसके जीवन को सुखमय बनाती है उस सीमा तक ही कला का महत्त्व है। यदि वह न मानव का आल्हादन कर सकती है और न उसके सुख में अपना सहयोग दे सकती है तो उसे कला कहा जाये या और कुछ, मैं नहीं समझता। अतः यह मानना होगा कि कला का सम्बन्ध जीवन से है और वह जीवन के लिए उपयोगी होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कविता का भी उपयोग होना चाहिये ? अवश्य होना चाहिये और, 'अधिकस्य अधिकं फलम्'' को कविता की उपयोगिता में चरितार्थ करना चाहिये। जिस प्रकार जीवन में अनेक कामों का मूल्य है, अनेक कलाओं का स्थान व मूल्य है वैसे ही कविता का भी स्थान व मूल्य है। कविता मनुष्य के भावों का परिष्कार कर हृदय को विशाल और उदार बनाने का साधन है। कविता के द्वारा मानव इस अनन्त विश्व को देखने में समर्थ हो सकता है, उसके सम्बन्ध में अपने अनुमान बना सकता है। संकीर्णता से मुक्त होकर काव्य के द्वारा मानव का दृष्टिकोण परिष्कृत और विशाल बनता है। उसमें जीवन और जीवन से सम्बन्धित पदार्थों और भावों को देखने, समझने और घटित करने की क्षमता आ जाती है। हृदय से हृदय तक पहुँचना, हृदय से द्रष्टाद्रष्ट की खोज करना, कविता के ही द्वारा सम्भव है।

कविता का लक्ष्य यदि आनन्द है तो उसका मूल्य मानव को मुक्त करने में है, बद्ध बनाने में नहीं, मानव हृदय को विशाल करने में है, संकीर्ण करने में नहीं, मानव को समर्थ बनाने में है, असमर्थ बनाने में नहीं, सुशील बनाने में है दुःशील बनाने में नहीं। यदि कविता का कोई मूल्य नहीं, यदि कविता कविता के लिए ही है तो मेरी समझ से स्वयं वह एक बन्धन है और ऐसी कविता आगे चल नहीं सकती, किन्तु कविता युग-युगान्तरों से चली आ रही है। इसी-लिए यह नहीं माना जा सकता कि कविता की कोई उपयोगिता नहीं होती। वह मानव का कल्याण करती चली आ रही है इसलिए वह मानव जीवन के लिए है। जब-जब कविता की कल्याण-शक्ति का ह्रास हुआ है तब-तब कविता को अपने जीवन के लाले पड़ गये हैं, तब-तब आगे के युगों ने अपने पूर्वजों के विषय में पश्चाताप किया है।

आज पूर्व और पश्चिम के मतों में बड़ा संघर्ष चल रहा है "फिलासफी" के सम्बन्ध में भी पूर्व और पश्चिम के दो मत हैं। पूर्व वाले इसको "दर्शन" कहते और पश्चिम वाले उसे 'लव ऑफ नॉलेज'।

पश्चिम वाले उसे मानव से सम्बन्धित करते हैं और पूर्व वाले ब्रह्म या परमात्मा से । कई बार भारतीय दार्शनिकों से ऐसे प्रश्न होते सुने गये हैं कि भारतीय दर्शन मनुष्य के किस उपयोग का है ? यदि वह उपयोगी नहीं है तो उसके अध्ययन की क्या आवश्यकता है ? इन प्रश्नों का बहुत बड़ा महत्त्व है वह इस दृष्टि से कि पाश्चात्य 'फिलॉसफर' 'फिलॉसफी' के द्वारा मानव-जीवन की व्याख्या करता है और भारतीय फिलॉसफर मानव को ब्रह्म बनाने की चेष्टा करता है । एक, मानव को मानवता से परिचित कराता है और दूसरा, मानवता से विरहित कराता है, उसे भुलाने की चेष्टा कराता है । कवि जीवन के साथ प्राय: तत्त्व-चिन्तन को भी ले लिया करता है । भारतीय कवियों में तो तत्त्व-चिन्तन एक शैली के रूप में ही उतर आया था । भक्त-कवियों में (निर्गुण एवं सगुण दोनों में) इसके स्थान-स्थान पर दर्शन होते हैं । कोरा तत्त्व-चिन्तन अब इस विज्ञान के युग में, इस उपयोगिता के युग में किसी काम का नहीं । यदि उसमें जीवन के लिए कोई प्रेरणा नहीं है, यदि उसमें जीवन के लिए कोई आधार नहीं है, यदि मानव को मुक्त करने की उसमें कोई क्षमता नही है तो वह दर्शन किसी काम का नहीं । क्रोशे, एडलर, मार्क्स, फ्रायड आदि सभी पश्चिमी चिन्तकों ने जीवन की वैज्ञानिक गवेषणा पर ज़ोर दिया है, उनका ध्यान मानव जीवन की सौन्दर्यमयी अखण्डता पर रहा है । उनका कहना है कि जिस चिन्ता-क्षेत्र में, जिस विचार तल पर जीवन के खण्डित होने की तनिक भी सम्भावना हो, जहाँ विषमता की ज्वाला से मानव उत्पीडन की सम्भावना हो उस चिन्ता-क्षेत्र को, उस विचार तल को तुरन्त छोड़ देना है । मानव की एकता और जीवन की अखंडता को लेकर जब कवि अपने हृदय के उदगारों को व्यक्त करेगा तब उन में जीवन के अनूठे गीत सिहरेंगे, उनमें चिरन्तन एवं शाश्वत् सत्य होगा, उनमें मानव हृदय को पुलकित करने, नचा देने और संगीतमय कर देने की शक्ति होगी । इसलिए कवि से कह दो कि वह अपने को न भूल जाये । वह मानव है, यह न भूल जाये । उसे जीवन के गीत गाने हैं, यह न भूल जाये । वह यह न भूल जाये कि वह एक विशाल परिवार का सदस्य है, अनेक बन्धुओं का प्रिय बन्धु है । वह जिन उपकरणों से बना हुआ है उन्हीं से उसके अन्य भाई भी बने हैं । वे उसी की तरह हँसते हैं, उसी की तरह रोते हैं, उसी की तरह उन्हें भूख प्यास सताती है, शीत, ताप और वृष्टि का प्रभाव भी उन पर उसी की भाँति होता है । वह मानव को समाज के साथ देखे, समाज में देखे, समाज के लिए देखे । व्यक्ति और समाज में कोई खाई न खोदकर उन दोनों की एकता सिद्ध करे तो समझिये कि कविकर्म सफल हुआ, और तभी समझिये कि नानात्व में एकत्व की भावना सार्थक हुई ।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कवि मानव के लिए ईश्वर के प्रति अपने सम्बन्ध की रक्षा न करे। कवि सच्चा आस्तिक होता है। हाँ, यह सम्भव हो सकता है कि "अस्ति" का अर्थ वह "ईश्वर" न माने, पर जो है उसको वह मानता है और उसकी सच्ची उपासना करता है। वे भी जो ईश्वरवादी हैं जीवन के गीत गाते हुए, विशाल मानवता की रक्षा करते हुए, ईश्वर की उपासना कर सकते हैं, अपनी भक्ति-भावना को पुष्ट रख सकते हैं। यदि देखा जाये तो भक्ति की जड़ श्रद्धा एवं विश्वास है जिनके सम्बन्ध का उदय पहले दृश्य से होता है। शनैः-शनैः अदृश्य में भी उनकी जड़ जम जाती है और मानव अपना नाता अव्यक्त सत्ता से जोड़ लेता है। फिर भी उस अव्यक्त को वह व्यक्त के आश्रय से ही देखता है; यह अमान्य नहीं है। सियाराम की मूर्ति इस चराचर जगत् में ही दृष्टिगत होती है, तुलसी की कविता इसका प्रमाण है। सीताराम के रूप में तुलसीदास का जगत् को प्रणाम करना जीवन में एकता के अनुभव का प्रमाण है। इसलिए युग के पीछे पड़ जाने वाले कवि, किसी एक धारा में बह जाने वाले प्रयोगी "दर्शन" या 'तत्त्व ज्ञान' के सम्बन्ध में भी सतर्क रहें। उन्हें कविता में उन तत्त्वों का प्रयोग करना है जो जीवन के लिए मंगल-प्रद हैं और उस ज्ञान का सन्निवेश करना है जो मानव की मुक्ति के लिए है। जिस ज्ञान या दर्शन से मानवता मुक्त नहीं होती अथवा उसके बन्धन नहीं कटते तो वह ज्ञान, वह तत्त्व-ज्ञान स्वयं बन्धन है। कवि उसको भुला दे, यही उसके लिए श्रेयस्कर है।

१८

कवि के प्रति

कविता जीवन का प्रतिरूपण है जिसमें कवि की अनुभूतियाँ मधुर शब्दों में कल्पना के सहारे व्यक्त की जाती हैं। अनुभूतियाँ जितनी गहन, सामीपिक और मार्मिक होंगी, कविता उतनी ही प्रभावपूर्ण और सरस होगी। कवि अनुभूतियों की खोज नहीं करता। उसके जीवन में चारों ओर अनुभूतियाँ बिखरी रहती हैं, जिस प्रकार कि सामान्य व्यक्ति के जीवन में बिखरी रहती हैं किन्तु अन्तर इतना सा रहता है कि सामान्य व्यक्ति उन आँखों से नहीं देख सकता जिनसे कवि देखता है। उसके पास वह दृष्टिकोण नहीं होता जो कवि के पास होता है और कवि के कहने की शैली भी विचित्र होती है। कवि सामान्य बात को भी इस ढंग से कहता है कि अन्य उसे नहीं कह सकते। उसको मर्म की परख होती है और वह परिस्थितियों से परिचित होता है। किस परिस्थिति में क्या मर्म छिपा होता है, यह कवि की आँख ही अधिक अच्छी तरह देख सकती है। जिस दृष्टि से एक राजनीतिज्ञ या दुनियादार उन परिस्थितियों को देखता है उस दृष्टि से कवि नहीं देखता। कवि के हृदय की आँखें खुली रहती हैं—वे आँखें जो सरस उल्लासमय तरंगों से पूर्ण होती हैं, वे आँखें जिनमें सजल लोचनों से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा व शक्ति भरी होती हैं। उसकी अनुभूतियाँ काल्पनिक सम्भावनाओं से परिपालित होती हैं जिनमें मधुरता, मोहकता और विचित्रता भरी होती हैं। जिस स्थान पर राजनीतिज्ञ चूक जाता है, जहाँ पर इतिहासकार भूल कर जाता है, जहाँ वैज्ञानिक की आँख भी पहुँच नहीं पाती वहाँ कवि के हृदय की पैनी दृष्टि जा पहुँचती है और उन व्यापक तथ्यों की खोज कर लाती है जो शाश्वत और सुन्दर हैं।

कवि को विषय चुनना नहीं पड़ता। मर्मोल्लसित विषय स्पर्धा-सहित कवि का ममत्व प्राप्त करने के लिए उसके पास आते हैं और वह किसी को स्वीकार

कर लेता है। जब अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ 'लीच गेदरर' में अपनी सुन्दर कविता का विषय प्राप्त कर लेता है तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जीवन की अनेक झाँकियों में से वह जिसे चाहता है उसे पकड़ लेता है किन्तु वह देखता कैसे है, और क्या देखता है और देखे हुए की अभिव्यक्ति किस प्रकार करता है, इसी में कवि-कर्म का अखिल रहस्य निहित है।

जगत् में रहकर लोक-जीवन को खुली आँखों से देखना, मानव और प्रकृति के साथ गहन सम्पर्क स्थापित करना और कभी-कभी दिव्य जीवन की झाँकी प्राप्त करना कवि का नित्य कर्म है। वह कभी सीधा दिव्यलोक में विचरण करने जा पहुँचता है और कभी लौकिक जीवन में होकर प्रकृति के मध्य बिखरे हुए सौन्दर्य में दिव्य जीवन की झाँकी करता है। यद्यपि कवि के संस्कार भी बहुत कुछ काम करते हैं किन्तु इसका बहुत कुछ श्रेय कवि की प्रतिभा को भी है।

प्रकृति से कवि का सीधा सम्बन्ध बन जाता है और वह प्रकृति और मानव को इतना समान पाता है, इतना सम्बन्धित पाता है कि अनेक अवसरों पर वह अपने में प्रकृति को और प्रकृति में अपने को देखता है। जब वह आत्म-द्रष्टा नहीं भी होता, तब भी मानव व प्रकृति की पारस्परिकता का अनुभव बड़ी तीव्र और नुकीली दृष्टि से करता है। तारों में, वायु में, पृथ्वी पर, वनों में, शैल-शिखरों पर, रवि-रश्मियों में, सुधांशु की सुधासरस किरणों में, सरों में, सरिताओं में और जलधि की प्रकाश-सस्मित तरंगों में अथवा उसके गहन अवसन्न अन्तस्तल में मानव की गहरी छाया देखता है। इसीलिए उसके हृदय में सागर उमड़ता है, तारों में डबडबाते हुए लोचन की क्रान्ति देखता है, और विरही की निश्वासों में निदाघ-वात के ताप का अनुभव करता है।

उसकी अनुभूतियों में, जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, कल्पना का अमित बल रहता है, इसीलिए लोक में रहकर भी वह अलौकिक संदेश देने में समर्थ होता है। वह अद्भुत चित्र खींचने में पटु होता है और मधुर सौन्दर्य की ऐसी वृष्टि करता है कि बिहारी का यह दोहा 'अनबूड़े बूड़े तरे······' सार्थक हुए बिना नहीं रहता। कल्पना कवि की दो प्रकार से सहायक होती है—एक तो वस्तु का सही रूप आँकने में और दूसरे मोहक रंग भरने में। सम्भावनाओं का जगत् कवि-कल्पना की सीमा में रहता है। कवि की कल्पनाएँ अपनी शक्ति से उसकी सम्भावनाओं को सत्य-सा प्रकट करती हैं। इसी का नाम कविता है।

कवि राग-द्वेष से ऊपर उठकर उस लोक में निवास करता है जहाँ पर प्रत्येक दृश्य सत्य, मधुर, मोहक और प्रभावशाली होता है, जहाँ कवि की कला के साथ उठा हुआ कोई भी सहृदय अपने को राग-द्वेष से मुक्त कर सकता है, जहाँ उसमें इतनी उदारता होती है कि कोई भी सहृदय पाठक उससे आदर्श

की शिक्षा ले सकता है, जहाँ न पाप है न पुण्य, न सुख है न दुख; किन्तु शाश्वत मानवता का व्यापक मधुर रूप उसकी आँखों के सामने रहता है। यह उसकी चेतना का वह अलौकिक रूप है जिसमें अलौकिक रस के तरंगित करने और लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने की शक्ति रहती है। सामान्य मानवता से लेकर प्रत्येक व्यक्ति को देने की शक्ति ही उसकी वाणी को कविता के आसन पर बैठाती है। वह जीवन से वलयित रहकर जीवन प्रदान करता है। जो कवि जीवन नहीं देख सकता है, अपने को जीवन से आलिंगित नही पाता है उसमें जीवन देने की शक्ति भी नहीं होती है। जीवन कहीं से देखा जा सकता है, किसी ऊँचाई से, किसी गहराई से और किसी कोण से। जहाँ जीवन को जीवन से देखा जाता है, जहाँ जीवन को हृदय से खोजा जाता है, वहीं जीवन के पायल की मधुर ध्वनि सुनायी पड़ती है। जो उस मधुमय जीवन को पहिचान नहीं सकते वे उसकी झंकृति को भी क्या पहिचान सकते हैं। फिर उसकी अनुकृति तो और भी दुष्कर है। जीवन के पहिचानने का तात्पर्य है अपने को पहिचानना, केवल आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं, वास्तविक लौकिक दृष्टि से भी। जो परिस्थितियों को पहिचानता है, उनकी सम्भावनाओं को जानता है, वह अपने हृदय में सब कुछ देख सकता है। वही सच्चा कवि है। भला विश्व का कौनसा ऐसा भाव होगा जो उसके हृदय के महासागर में तरंगित न होता हो? जगत के क्रन्दन को सुनकर कवि-करुणा उसके आलिंगन के लिए आतुर हो उठती है। कुसुम की मुस्कराहट पर कवि विश्वस्मिति को उँडेल देता है यही सच्चे कवि के गुण की माप है। जहाँ क्रौंच का आक्रन्दन वाल्मीकि की करुणा को विह्वल करके रामायण जैसे महाग्रन्थ की सृष्टि का कारण बन सकता है, जहाँ कुछ मनोदशाएँ कामायनी का उद्भव कर सकती हैं, जहाँ उर्मिला और यशोधरा की उपेक्षा 'साकेत' और 'यशोधरा' को इस युग में भी साकार कर सकती हैं, वहाँ हम यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि कवि—सच्चा कवि—शाश्वत एवं चिरन्तन भावों से सम्पर्कित रहता है। ऐसी बात नहीं कि भंगुर भावनाएँ उसके हृदय में उठती ही नहीं हैं, अवश्य उठती हैं पर वह उनकी उपेक्षा कर देता है क्योंकि उसके हृदय के संगीत में, जीवन के चिरन्तन एवं शाश्वत तथ्य में, उनका कोई मूल्य नहीं है। कहना न होगा कि जो कवि की चीज होगी वह अमूल्य सत्य होगी।

कहा जाता है और ठीक ही कहा जाता है कि उसकी लेखनी से देश का चित्र उतरता है, उसकी वाणी में समय का संगीत उमड़ता है। इसीलिए तो वह देश-काल का प्रतिनिधि माना जाता है। इसमें क्या सन्देह है कि जिसने साकेत को पढ़ लिया, उसने बहुत कुछ मैथिलीशरण के देश और समय को पढ़ लिया, जिसने 'कामायनी' को पढ़ लिया उसने प्रसाद और उनके देश तथा समय

को पढ़ लिया, और जिसने 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' को पढ़ लिया उसने कालिदास के देश और समय को पढ़ लिया किन्तु याद रखने की वात यह है कि कालिदास का समय 'प्रसाद' और 'गुप्त' के समय से कितना ही दूर हो सकता है, कालिदास का प्रदेश इनके प्रदेश से कितना ही भिन्न हो सकता है, फिर भी उस समय और इस समय के देश के मानव-तत्त्व में कोई अन्तर नहीं आया। हृदय का आचरण उसी प्रकार से हो रहा है। जीवन का आधार, उसको ज्योतिमय बनाने वाला चिरन्तन प्रकाश, अब भी वैसा ही है। इसलिये यह नहीं समझ लेना चाहिये कि कवि की कविता का मान युगवाणी से होता है। उसको मान देने वाले तत्त्व शाश्वत और चिरन्तन हैं और वे है मानव-भाव। जहाँ कवि इनकी उपेक्षा करता देखा जाता है वहाँ वह जीवन से खिलवाड़ करता पाया जाता है, वहाँ वह सत्य की उपेक्षा एवं अवमानना करता पाया जाता है। कभी कभी कवि परिस्थितियों से ऊपर न उठकर, उनमे दबकर, उनके प्रति आत्म-समर्पण कर देता है। फलस्वरूप उसकी वाणी में मुक्तकण्ठ उद्वेलित नहीं हो पाता। उसमें दासता और बन्धन की प्रतिध्वनि मिलती है। रीतिकाल की कविता में इसी प्रकार की दासता की कराह सुनायी पड़ रही है। रीतिकाल में कवि पर-तन्त्र था। उसने उस समय भावों को अपना दास बना लिया था। यही कारण था कि कवि-पद्धति का दास बनकर रीतिकालीन कवि गतानुगतिक बन गया था। युग-काव्य भी जब युग के भार से मुक्त नहीं होता तब ऐसी ही बँधी हुई वाणी प्रकाशित करता है। जो कवि युग में होकर चिरन्तन सत्य का अवलोकन करता है वह तो कवि है और जो चिरन्तन सत्य को युग की वेदी पर निछावर कर देता है वह कवि नहीं, और चाहे जो कुछ हो। युग कवि के सामने दीवार का काम नहीं कर सकता। कविता तभी उमड़ती है जब युग सरिता की धारा का काम करता है। युग उसे प्रवाह एवं प्रेरणा देता है। यदि कवि के हृदय का प्रवाह उसका चिरन्तन स्पन्दन, निरुद्ध हो जाता है तो समझिये कि कविता में शव-निर्माण ही रहा है।

आज कवि के सामने यह प्रश्न आ सकता है कि वह किस प्रकार की कविता लिखे? क्या वह विज्ञान के इस युग में विज्ञान विषयक कविताएँ लिखे अथवा बढ़ते हुए मानव संघर्ष के युग में कविता को भौतिक आवश्यकताओं को सौंप दे? उत्तर सरल है। कविता जीवन की है और जीवन के लिये है। वह एक व्यापक भाव है जिसमें समस्त विश्व ओतप्रोत है, जिसमें मानवता का शेष-विश्व के साथ सम्बन्ध निहित है। इसमें आध्यात्मिक जीवन भी सन्निवेष पाता है। जो मानव एक भौतिक जगत् से सम्बन्ध रखता है वही अनन्त भाव-जगत् से भी सम्बन्धित होता है। इसलिए जब जीवन की बात की जाती है और जब

यह कहा जाता है कि कविता का लक्ष्य मानव का आनन्द हो तो इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि जीवन से मिलने वाला आनन्द ही अभिप्रेत है क्योंकि जीवन से पृथक् आनन्द का कोई मूल्य नहीं रह जाता। यदि वीणा की तान का मानव-शव के लिए कोई महत्त्व है तो निर्जीवन आनन्द की कल्पना के लिए भी कहीं अवकाश हो सकता है।

अतएव कविता कविता के लिए है इस मत का कोई मूल्य नहीं है। यदि कविता कला है और कला कला के लिए है तो उस कला के मूल्यांकन का क्या आधार होना चाहिये ? इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते कि कला सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है और उसका सम्बन्ध मानव से अर्थात् मानव-जीवन से है। जिस सीमा तक कला मानव को आल्हादित करती है अथवा उसके जीवन को सुखमय बनाती है उस सीमा तक ही कला का महत्त्व है। यदि वह न मानव का आल्हादन कर सकती है और न उसके सुख में अपना सहयोग दे सकती है तो उसे कला कहा जाये या और कुछ, मैं नहीं समझ सकता। अतः यह मानना होगा कि कला का सम्बन्ध जीवन से है और वह जीवन के लिए उपयोगी होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कविता का भी उपयोग होना चाहिये ? अवश्य होना चाहिये और 'अधिकस्य अधिक फलम्' को कविता की उपयोगिता में चरितार्थ करना चाहिये। जिस प्रकार जीवन में अनेक कामों का मूल्य है, अनेक कलाओं का स्थान व मूल्य है, वैसे ही कविता का भी स्थान व मूल्य है। कविता मनुष्य के भावों का परिष्कार कर हृदय को विशाल और उदार बनाने का साधन है। कविता के द्वारा मानव इस अनन्त विश्व को देखने में समर्थ हो सकता है। उसके सम्बन्ध में अपने अनुमान बना सकता है। संकीर्णता से मुक्त होकर काव्य के द्वारा मानव का दृष्टिकोण परिष्कृत और विशाल बनता है। उसमें जीवन और जीवन से सम्बन्धित पदार्थों और भावों को देखने, समझने और घटित करने की क्षमता आ जाती है। हृदय से हृदय तक पहुँचना, हृदय से दृष्टादृष्ट की खोज करना, कविता के ही द्वारा सम्भव है।

कविता का लक्ष्य यदि आनन्द है तो उसका मूल्य मानव को मुक्त करने में है, बद्ध बनाने में नहीं; मानव हृदय को विशाल करने में है संकीर्ण करने में नहीं; मानव को समर्थ बनाने में है असमर्थ बनाने में नहीं; और सुशील बनाने में है, दुःशील बनाने में नहीं। यदि कविता का कोई मूल्य नहीं, यदि कविता कविता के लिए ही है तो मेरी समझ से स्वयं वह एक बन्धन है और ऐसी कविता आगे चल नहीं सकती, किन्तु कविता युग युगान्तरों से चलती चली आ रही है, इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है, यह नहीं माना जा सकता कि कविता की कोई उपयोगिता नहीं होती। वह

मानव का कल्याण करती चली आ रही है, इसलिए मानव जीवन के लिए है। जब-जब कविता की कल्याण-शक्ति का ह्रास हुआ है तब-तब कविता को अपने जीवन के लाले पड़ गये हैं, तब-तब आगे के युगों ने अपने पूर्वजों के विषय में खेद प्रकट किया है।

आज पूर्व और पश्चिम के मतों में बड़ा संघर्ष चल रहा है। 'फिलॉसफी' के सम्बन्ध में भी पूर्व और पश्चिम के दो मत हैं। पूर्व वाले इसको 'दर्शन' कहते हैं और पश्चिम वाले उसे 'लव आफ् नॉलेज' कहते हैं। पश्चिम वाले उसे मानव से सम्बन्धित करते हैं और पूर्व वाले ब्रह्म या परमात्मा से। कई बार भारतीय दार्शनिकों से ऐसे प्रश्न होते सुने गये है कि भारतीय दर्शन मनुष्य के किस उपयोग का है? यदि वह उपयोगी नहीं है तो उसके अध्ययन की क्या आवश्यकता है? इन प्रश्नों का बहुत बड़ा महत्त्व है। वह इस दृष्टि से कि पाश्चात्य फिलासफर 'फिलासफी' के द्वारा मानव जीवन की व्याख्या करता है और भारतीय फिलासफर मानव को ब्रह्म बनाने की चेष्टा करता है। एक, मानव को मानवता से परिचित कराता है और दूसरा मानवता से विरहित कराता है, उसे भुलाने की चेष्टा करता है। कवि जीवन के साथ कभी-कभी तत्त्व-चिन्तन को भी ले लिया करता है भारतीय कवियों में तो तत्त्व-चिन्तन एक शैली के रूप में ही उतर आया था। भक्त कवियों में (निगुर्ण एवं सगुण दोनों में) इसके स्थान-स्थान पर दर्शन होते हैं। कोरा तत्त्व-चिन्तन अब इस विज्ञान के युग में, इस उपयोगिता के युग में, किसी काम का नहीं है। यदि उसमें जीवन के लिए कोई प्रेरणा नहीं है, यदि उसमें जीवन के लिए कोई आधार नहीं है, यदि मानव को मुक्त करने की उसमें कोई क्षमता नहीं है तो वह दर्शन किसी काम का नहीं है। क्रोशे, एडलर, मार्क्स, फ्रायड आदि सभी पश्चिमी चिन्तकों ने जीवन की वैज्ञानिक गवेषण पर जोर दिया है। उनका ध्यान मानव-जीवन की सौन्दर्यमयी अखण्डता पर रहा है। उनका कहना है कि जिस चिन्ता-क्षेत्र में, जिस विचार-तल पर जीवन के खण्डित होने की सम्भावना हो, जहाँ विषमता की ज्वाला से मानव-उत्पीड़न की सम्भावना हो उस चिन्ता-क्षेत्र को, उस विचार-तल को तुरन्त छोड़ देना चाहिये। मानव की एकता और जीवन की अखण्डता को लेकर जो कवि अपने हृदय के उद्‌गारों को व्यक्त करेगा वे जीवन के अनूठे गीत होंगे। उनमें चिरन्तन एवं शाश्वत सत्य होगा, उनमें मानव-हृदय को पुलकित करने, नचा देने और संगीतमय कर देने की शक्ति होगी। इसलिए कवि से कह दो कि वह अपने आपको न भूल जाये। वह मानव है, यह न भूल जाये। वह यह न भूल जाये कि वह एक विशाल परिवार का सदस्य है और अनेक बन्धुओं का प्रिय बन्धु है। वह जिन उपकरणों से बना हुआ है उन्हीं से उसके अन्य भाई

भी बने हैं। वे उसी की तरह हँसते हैं, उसी की तरह रोते हैं, उसी की तरह उन्हें भूख-प्यास सताती है। शीत, ताप और वृष्टि का प्रभाव भी उन पर उसी की भाँति होता है। वह मानव को समाज के साथ देखे, समाज में देखे, समाज के लिए देखे। व्यक्ति और समाज में कोई खाई न खोदे, उन दोनों की एकता सिद्ध करे। तब तो समझिये कि कवि-कर्म सफल हुआ, तब तो समझिये कि नानात्व में एकत्व की भावना सार्थक हुई।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कवि मानव के लिए ईश्वर के प्रति अपने सम्बन्ध की रक्षा न करे। कवि सच्चा आस्तिक होता है। यह सम्भव हो सकता है कि 'अस्ति' का अर्थ वह 'ईश्वर' न माने, पर जो है उसको वह मानता है और उसकी सच्ची उपासना करता है। वे भी जो ईश्वरवादी हैं, जीवन के गीत गाते हुए विशाल मानवता की रक्षा करते हुए, ईश्वर की उपासना कर सकते हैं, अपनी भक्ति भावना को पुष्ट रख सकते हैं। यदि देखा जाये तो भक्ति की जड़ श्रद्धा एवं विश्वास है, जिनके सम्बन्ध का उदय पहले दृश्य से होता है। शनैः-शनैः उनकी अदृश्य में भी जड़ जम जाती है और मानव अपना नाता अव्यक्त सत्ता से जोड़ लेता है। फिर भी उस अव्यक्त को वह व्यक्त के आश्रय से ही देखता है, यह अमान्य नहीं है। 'सियाराम' की मूर्ति इस चराचर जगत् में ही दृष्टिगत होती है। तुलसी की कविता इसका प्रमाण है। सीताराम के रूप में तुलसीदास का जगत् को प्रणाम करना जीवन में एकता के अनुभव का प्रमाण है। इसलिये युग के पीछे पड़ जाने वाले कवि, किसी एक धारा में बह जाने वाले प्रयोगी 'दर्शन' या 'तत्त्व-ज्ञान' के सम्बन्ध में भी सतर्क रहें। उन्हें कविता में उन तत्त्वों का प्रयोग करना है जो जीवन के लिए मंगल-प्रद हैं और उस ज्ञान का सन्निवेश करना है जो मानव की मुक्ति के लिए है। जिस ज्ञान या दर्शन से मानवता मुक्त नही होती अथवा उसके बन्धन नहीं कटते तो वह ज्ञान, वह तत्त्व-ज्ञान, स्वयं बन्धन है। कवि उसको भुलादे। यही उसके लिए श्रेयस्कर है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि कवि जीवन को जितना समीप से देखता है वह उतना ही सजीव चित्र प्रस्तुत कर सकता है। जीवन उसके भीतर-बाहर इधर-उधर चारों ओर ही तो बिखरा पड़ा है। उसका जीवन बाहर प्रकृति के कण-कण व अणु-अणु से और भीतर-बाहर की प्रत्येक लहर से सम्बन्धित है। प्रकृति के प्रति उसकी दो प्रकार की प्रवृत्ति रहती है: एक में वह प्रकृति का द्रष्टा होता है और दूसरी में प्रकृति का अभिन्नांग। पहली स्थिति में प्रकृति के प्रति उसका आचरण दो प्रकार का हो सकता है: एक में प्रकृति कवि के सामने उद्दीपन रूप में आती है और दूसरी में आलम्बन के रूप में। दोनों में वह

प्रकृति से मुग्ध या खिन्न होता है। जहाँ कवि प्रकृति का प्रशंसक होता है, जहाँ प्रकृति किसी आलम्बन के प्रति कवि के भावों को प्रेरित करने में साधन नही होती अपितु कवि की भाव-धारा स्वयं प्रकृति के प्रति ही बहती है वहाँ प्रकृति आलम्बन का रूप ग्रहण करती है। प्रकृति कवि के हृदय में बिल्कुल उसी प्रकार से आचरण करती है, जैसे कोई नायक या नायिका। जब कवि प्रकृति का एक अवयव बनकर आचरण करता है तो उसकी अनुभूतियाँ प्राकृतिक अभिव्यंजना का रूप धारण करती है। उस दशा में प्रकृति से संकेत लेकर कवि आत्माभिव्यंजन करता है।

प्रबन्ध-काव्य में प्रकृति-चित्रण आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों रूपों में मिलते हैं किन्तु उसमें प्रायः प्रकृति को उद्दीपन रूप में ही स्वीकार किया जाता है क्योंकि प्रकृति को आलम्बनत्व प्रदान करने पर प्रबन्धकार का व्यक्तित्व प्रमुख हो जाता है और नायक अथवा उससे सम्बन्धित पात्रों का, जिनके साथ कथा चलती है, व्यक्तित्व गौण हो जाता है। इस प्रकार वस्तुभाग शिथिल और कथा-प्रवाह वाधित हो जाता है, परन्तु मुक्तक के क्षेत्र में इस प्रकार का कोई भय नहीं है। वहाँ यह कवि की इच्छा के ऊपर है कि वह प्रकृति के साथ कैसा आचरण करे। फिर भी उसकी रुचि को संस्कारों से मुक्त नहीं मान सकते क्योंकि मानव-रुचि को प्रेरित करने में संस्कारों का प्रमुख हाथ होता है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि कवियों की रुचि प्रकृति के उद्दीपनत्व में ही रमी है किन्तु ऐसे उदाहरणों का भी अभाव नहीं है जो यह सिद्ध करते हैं कि प्रकृति के आलम्बनत्व में भी मुक्तककार की रुचि विस्मयकारी परिणाम प्रस्तुत कर सकती है। सेनापति के प्रकृति-वर्णन-विषयक अनेक कवित्त, पन्त के अनेक गीत, श्रीधर 'पाठक' के अनेक वर्णन इसके ही सुन्दर उदाहरण हैं।

प्रकृति के साथ छलकने वाली चीज है प्रेम जो कवि के हृदय में सहसा उमड़ पड़ता है। वह इतना अगाध और अटूट प्रवाह होता हैं कि किसी वस्तु के प्रति वह बह सकता है। ऐसी बात नहीं है कि वह मानव के प्रति ही बहे, पर हाँ, मानव उसका आधारतल अवश्य है। जहाँ मानव नहीं, जहाँ मानव का स्वभाव मानवता नहीं, वहाँ भला प्रेम कहाँ से आ सकता है? इसलिए प्रेम की जड़ मानवता में जमती है और प्रेम का उद्गम हृदय है। उसका उदय मानवता से होता है और उसके विकास की सीमा भी मानवता ही है। मानवता के विशाल प्रांगण में कवि के प्रेम की धारा कोई रुख और कोई दिशा ग्रहण कर सकती है। उस पर कोई बन्धन नहीं, कोई नियंत्रण नहीं, पर उसकी स्वतन्त्रता मानवता की परिधि में ही सुरक्षित है। अति-मानव होकर वह प्रेम की अभिव्यंजना नहीं कर सकता है और न उसकी पुकार में मधुरता आ सकती है। हाँ, वह उन्मत्त का प्रलाप अवश्य बन सकती है।

प्रेम की अभिव्यंजना लौकिक और पारलौकिक दोनों क्षेत्रों में होती है। जिसको अलौकिक प्रेम कहते हैं, उसका आश्रय भी मानव ही होता है, भले ही प्रिय अतिमानव हो। प्रेमी तो मानव होता ही है किन्तु लौकिक प्रेम में प्रेमी और प्रिय दोनों की मानवता सिद्ध है। कविता में प्रेम की अभिव्यंजना दो प्रकार से होती है : कहीं गूढ़ रूप में और कही अगूढ या व्यक्त रूप में। जहाँ प्रेम की गूढ़ व्यंजना होती है वहाँ उसका स्वरूप लाक्षणिक या सांकेतिक होता है किन्तु जहाँ प्रेम के सहज और सरल उद्गार होते हैं, जहाँ अभिव्यजना संकेत-साधित नहीं होती, वहाँ प्रेम का स्पष्ट रूप अभिव्यक्त होता है। प्रेम की सांकेतिक अभिव्यक्ति में आरोपों की प्रधानता रहती है। उसमें काव्य की मधुरता एवं सरलता प्रायः कौशल और अभ्यास पर निर्भर रहती है।

प्रेम की दो परिस्थितियाँ है : एक संयोगात्मक और दूसरी वियोगात्मक। 'संयोग का कवि उतना गंभीर और सरस नहीं होता जितना वियोग' का। 'सयोग' मानव-सुख की वह परिस्थिति है जिसमें गंभीरता का नाम नही है, और जो 'स्प्रिट' की तरह उछल कर उड़ जाने वाली वस्तु है। एक बात यह भी है कि सुख कारण नहीं है, कार्य है : गंभीर नहीं उथला है, स्थायी नहीं अस्थायी है, व्यापक नहीं स्थानीय है ; किन्तु 'वियोग' दुख की परिस्थिति है। उसमें गंभीरता और व्यापकता है। वह इस जगत् की स्थायी संपत्ति है और सुख का कारण है। मुरझा कर गिर पड़ने वाली सुख-पत्तियाँ दुख के शूलों में ही प्रस्फुटित होती हैं। व्यापकता के कारण, अनेकदेशीयता के कारण, दुख की अनेक अवस्थाएँ अवगत होती है। उनमें गहरायी उतनी ही दिखायी जा सकती है जितनी कवि की अनुभूति में, जितनी कवि की कल्पना में और जितनी कवि की संवेदना में अथवा यों कहिये कि जितनी कवि के हृदय में है। लौकिक और अलौकिक दोनों रूपों में वियोग दशा के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। रहस्यवादियों का अलौकिक वियोग अनेक शताब्दियों से प्रख्यात है। विरह की अभिव्यक्ति में मुक्तक शैली ही बहुत उपयुक्त सिद्ध हुई है। प्रबन्ध में उसकी तीव्रता और मार्मिकता बाधित हो जाती है। यों तो हिन्दी के सूफी कवियों ने प्रबन्ध के द्वारा भी विरह को साकार करने की चेष्टा की है किन्तु विरह-जन्य तीव्र वेदना जैसी मुक्तकों में मिलती है वैसी प्रबन्धों में नहीं मिलती क्योंकि प्रबन्ध-कवि का दायित्व केवल वेदना की अभिव्यक्ति की ओर ही न रह कर वस्तु-निर्वाह, चरित्र-चित्रण आदि की ओर भी विभक्त हो जाता है; इसलिए कवि-प्रतिभा की समग्रता के विभाजन से कविता की मार्मिक तीव्रता भी छिन्न और खण्डित हो जाती है। यह भी ध्यान रहे कि मानव के आवेग उसके दास नहीं होते। जहाँ वह उन्हें दास बनाने का प्रयास करता है वहाँ उनकी सहजता सरलता और सरसता नष्ट हो जाती है। प्रबन्ध-काव्य में कवि को दोनों बातें

साथ-साथ निभानी पड़ती हैं : एक तो प्रबन्ध के प्रति औचित्य का निर्वाह करना पड़ता है और दूसरे मार्मिक आवेगों की मधुरतम अभिव्यक्ति का भी ध्यान रखना पड़ता । एक ओर ध्यान जाने से दूसरा कर्म बाधित हुए बिना नहीं रह सकता और दोनों का साथ-साथ निर्वाह दुसाध्य ही नही असम्भव भी है । इसीलिए प्रेम-प्रबन्धों में प्रायः इस प्रकार के साधना-संकट दीख पड़ते है ।

कवि का प्रेम किसी प्रेयसी या परमात्मा के प्रति ही बहता हो, ऐसी बात नहीं है । वह इतना व्यापक हो सकता है जिसमें गीता के 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त भी चरितार्थ हो सकता है और कुछ संकीर्ण होकर देश जाति अथवा किसी देश-वीर के प्रति भी हो सकता है । भिन्न-भिन्न आलम्बनों के अनुरूप प्रेम भिन्न-भिन्न नाम धारण करता है । कहीं वह विश्व-प्रेम के नाम से, कहीं देश-प्रेम और कहीं वीर-प्रेम के नाम से अभिहित होता है । वीर-प्रेम का दूसरा नाम वीर-पूजा भी है । देश-प्रेम के अन्तर्गत देश का भूगोल, इतिहास, मानव, वातावरण सभी तो कवि के हृदय को खींचते है, सभी से कवि का निकट सम्बन्ध है । इसी प्रकार देश के आदर्श-वीर कवि को मुग्ध कर लेते है क्योंकि वह उनमें सच्चे मानव के दर्शन करता है । वह मानवीय गुणों को साकार रूप में देखता है । विश्व-प्रेम का क्षेत्र बहुत विशाल है उसमें कवि संकीर्णता से मुक्त होकर, विश्व-मानव के रूप में प्रतिष्ठित होकर, विश्व को सम-दृष्टि से देखता है देश और स्थान के बन्धन उसके पास तक नहीं फटकने पाते । वह सबको अपने के अभिन्न देखता है, यही उसकी विशालता का प्रमाण है । वह विश्व से कण-कण में, विश्व के जन जन और प्रत्येक प्राणी में, एक ही सत्य का साक्षात्कार करता है । वह सब में अपनी अभिव्यक्ति पाता है । इसलिए सबको सामान्य गुणों से युक्त देखता हुआ भिन्नता में अभिन्नता की प्रतिष्ठा करता है और उन अभावों पर भी जिनसे व्यापक विश्व-गुण, स्थायी मानवीय सम्पत्ति नष्ट नहीं होती, दृक्पात करता जाता है । यह उसकी संकीर्णता नहीं, विश्व-कल्याण की समीहा ही है ।

११

लोक-गीत और उनकी विशेषताएँ

कहावत प्रसिद्ध है कि 'रोना-गाना कौन नहीं जानता'? इसका अर्थ स्पष्टत: यही है कि रोना और गाना मानव-स्वभाव के अंग हैं। गाने में संगीत की प्रेरणा होती है और संगीत मानव-जीवन का ही एक तत्त्व नहीं, अपितु प्रकृति का एक तत्त्व है। नाटककार जयशंकर 'प्रसाद' तो जयमाला के द्वारा युद्ध तक में गाने का दर्शन कराते हैं—"युद्ध क्या गान नहीं है? रुद्र का शृंगी-नाद, भैरवी का ताण्डव नृत्य, और शास्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव-संगीत की सृष्टि होती है। × × ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरन्तर संगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल चाहिये।" संगीत की व्यापक शक्ति का परिचय देती हुई देवसेना कहती है—"सर्वात्मा के स्वर में, आत्मसमर्पण के प्रत्येक ताल में, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मरण हो जाना—एक मनोहर संगीत है।"

गीत का प्रजनन संगीत के सम्बन्ध से होता है। शास्त्रों का कहना है कि सृष्टि का उद्भव ही उस संगीतमय शब्द से हुआ है जिसको शब्द-ब्रह्म की उपाधि दी जाती है। वह शब्द-ब्रह्म सच्चिदानन्दमय है। अतएव गीत का कारण भी आनन्द है और कार्य भी आनन्द है क्योंकि उसकी प्रेरणा के मूल में आनन्द निहित रहता है। आनन्द की कामना गीत की प्रेरणा है और मानव को आनन्द देकर गीत का लक्ष्य पूर्ण हो जाता है।

कभी-कभी हम शोक या दुख को गीत का कारण मानकर गीत की प्रेरणा को भुला देते हैं। जिस प्रकार शोक की दशा में उसी प्रकार हर्ष या उल्लास की दशा में भी गीत की सृष्टि हो सकती है किन्तु हर्ष के गीतों में हल्कापन रहता है। उनका प्रभाव हृदय के केवल ऊपरी स्तर का स्पर्श कर सकता है, किन्तु दुख की परिस्थिति में उद्भूत गीत गम्भीर होते हैं। उनका प्रभाव भारी

और अन्तःस्तल का स्पर्श करने वाला होता है। जिन गीतों का जन्म शोकादि गम्भीर परिस्थितियों में होता है उनका लक्ष्य भी दुख से मुक्ति और आनन्द की प्राप्ति होता है। अतएव उनकी सृष्टि के मूल में भी आनन्द की कामना निहित रहती है। आनन्द को केवल परिणाम ही नहीं, प्रेरणा भी मानना होगा क्योंकि कार्य अपने कारण से स्वरूपतः भिन्न होता हुआ भी तत्त्वतः भिन्न नहीं होता।

जो हो, गीत मानव-स्वभाव का अंग है। मानव की अनेक प्रवृत्तियों में से गाना भी एक प्रवृत्ति है। उसी प्रवृत्ति का दर्शन हमें गीत में मिलता है। गीत-कार अपने गीत की सृष्टि 'स्वान्तः सुखाय' करता हुआ भी उसके 'पर-सुखाय' प्रेषण से तृप्ति-लाभ करता है। वास्तव में यह तृप्ति ही उसकी पर-हित-कामना का प्रमाण है।

गाने के दो स्वरूप होते है। उनमें से गीत केवल सार्थक गान से सम्बन्धित होता है। निरर्थक गान को गीत कहना उपयुक्त नहीं है। जब गाने वाला किसी अभिप्राय या आशय के बिना ही गुनगुनाता सुनायी पड़ता है तब निरर्थक गान का स्वरूप ही प्रकट होता है; किन्तु गुनगुनाने में भी कभी-कभी आशय और लय की प्रेरणा निहित रहती है। वह सुनने वाले को अस्पष्ट होता हुआ भी गाने वाले की दृष्टि से सार्थक और संगीत की खराद पर चढ़ा हुआ होता है। तब वह निश्चित रूप से गीत होता है। इस गुनगुनाने का सम्बन्ध आनन्द के उद्‌गारों से है और इसका प्रसव छोटे-बड़े किसी भी मनुष्य के कण्ठ से हो सकता है, किन्तु जिस गुनगुनाने का सम्बन्ध गीत से जोड़ा जाता है उसमें आनन्द के उद्‌गारों के साथ प्रयत्न का योग भी होता है। वह लय अथवा स्वर के आरोहावरोह से सम्बन्धित होता है।

गीत का कोई स्थिर या नियत रूप नहीं होता। उसका कोई एक चौखटा या साँचा कायम नहीं किया जा सकता। इसीलिए भिन्न-भिन्न युगों के गीतों की रचना में भिन्न-भिन्न साँचों का योग दिखायी पड़ता है। भिन्न-भिन्न साँचों का अनुमान भिन्न-भिन्न युगों के गीतों के लिखित रूप से ही लगाया जा सकता है।

सामान्यतया गीत के दो रूप मिलते हैं—साहित्यिक गीत और लोकगीत। साहित्यिक गीतों का रूप प्रायः लिखित होता है। उनमें कला की प्रेरणा होती है अतएव उनके साँचों में एक विकास-क्रम भी दृष्टिगोचर हो सकता है। आधुनिक गीतों की आतिथि परिणति में इस क्रम को बड़ी सरलता से खोजा जा सकता है। उनमें कला का नवीनतम रूप दिखायी पड़ता है, भले ही वह किसी जोड़-तोड़ से ही निर्मित हुआ हो। वे आधुनिक मानव की उद्‌भावना हैं। वे

कबीर, रैदास, सूर, तुलसी आदि के गीतों से ही भिन्न नहीं हैं, अपितु 'भारतेन्दु' के गीतों से भी भिन्न है।

साहित्यिक गीतों के साँचे या चौखटे बदलते रहते हैं जिनसे कला-विकास का परिचय मिलता है। साथ ही गीतकारों की विकास-रुचि का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है। साहित्यिक गीत का सम्बन्ध व्यक्ति से होता है और व्यक्ति विशेष की रचना होने से गीत विशेष में किसी हेर-फेर के लिए विशेष अवकाश नहीं होता जब तक कि प्रतिलिपिकार या मुद्रण की कोई विशेष भूल ही न हो जाये।

इसके विपरीत लोक-गीत किसी व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर लोक-निधि होता है। उसकी सृष्टि में लोक-रुचि, लोक-भावना, लोक-रीति और लोक-नीति का योग रहता है। लोक-भावना के यथातथ्य उन्मेष से लोक-गीत में सरलता का निवास होता है। संस्कृति का वास्तविक रूप लोक-गीतों में निहित रहता है। साहित्यिक गीतों के कठोर बुद्धितल पर संस्कृति अपने पद-चिन्हों को यथार्थ रूप में व्यक्त नहीं कर सकती किन्तु मोम से कोमल लोक-गीतों के सरल किन्तु कमनीय कलेवर पर संस्कृति के चिन्हों का न मिलना असम्भव है।

कला का आग्रह न होने से लोक-गीत अपने रूप-विकास की प्रवृत्ति से प्रायः मुक्त रहता है। उसके साँचे में परिवर्तन की गति बड़ी मन्द होती है किन्तु भाव-विपर्यय के लिए लोक-गीत के द्वार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। समय-समय पर भाव आते हैं और अपना थोड़ा-थोड़ा प्रभाव छोड़ते जाते हैं और कभी-कभी उसी साँचे में एक नया भाव आकर जम बैठता है किन्तु यह नवीनता लोक-गीत पर किसी कलंक के लिए अवकाश नहीं छोड़ती क्योंकि नये गीत को लोकमान्यता प्राप्त हो जाती है। किसी साहित्यिक गीत के चौखटे में नये भावादर्श की प्रतिष्ठा निष्कलंक हो ही नहीं सकती। इसका मूल कारण यह है कि उसकी नवीनता व्यक्ति-सम्बन्ध से लोक-स्वीकृति प्राप्त नहीं कर पाती।

यहाँ एक प्रश्न यह उठ सकता है कि लोक (अनेक व्यक्तियों) के द्वारा एक ही गीत की सृष्टि कैसे सम्भव हो सकती है? यह प्रश्न कठिन नहीं है। अनेक व्यक्तियों का युक्त प्रयास भी एक गीत को जन्म दे सकता है और किसी एक ही व्यक्ति का निर्मित गीत भी अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क से लिखित रूप न होने के कारण अपने अभिनव रूप में लोक-गीत की अभिधा को सार्थक बना सकता है। लोक-गीत की यह विशेषता उसे लोकप्रिय बनाती है।

लोक-गीत को गाने, समझने और समझाने के लिए उस विशेष योग्यता

की आवश्यकता नहीं होती जो साहित्यिक गीत के विषय में अपेक्षित है। लोक-गीत की भाषा सरल, उसके छन्द और अलंकार सरल, उसके दृश्य और वर्णन सरल, और तो और, उसके वर्ण्य भी बड़े सरल होते हैं। भाव भी उलझन से मुक्त, मौलिक सरलता से परिव्याप्त होते हैं। अतएव यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि लोक-गीत की विशेषता में उसकी सरलता का प्रमुख योग होता है।

लोक-गीत की धुन, लय और उसके स्वर में मन की पकड़, उन्मत्त बना देने की अमोघ क्षमता और विभोर कर देने की एक मादक शक्ति होती है। एक व्रजवासी कुम्हार के सरल लोक-स्वर में मादकता की अनुभूति कीजिये—

मेरौ गधा गंज कूँ जाइ
कुम्हरिया रोटी पइदै री।

जिस प्रकार गाने वाला इसे मस्ती से गाता है उसी प्रकार सुनने वाला भी इसे मस्त होकर सुनता है। इसमें द्विगुणित मस्ती होती है, गाने वाले के लिए भी और सुनने वाले के लिए भी।

लोक-गीत प्रायः आंचलिक होते हैं। किसी विशेष लोक-गीत का सम्बन्ध किसी विशेष अंचल से होने के कारण उसका परिधान आंचलिक भाषा से निर्मित होता है। इसी कारण विभिन्न प्रदेशों के गीतों में भाषा विषयक एक-रूपता नहीं मिलती और अधिकांश लोक-गीतों में अपने अंचल के महापुरुषों और दृश्यों, त्यौहारों एवं उत्सवों का गुणगान होता है। इन गीतों में आंचलिक जीवन की अन्य विशेषताओं का समावेश भी रहता है। यद्यपि भारतीय लोक-गीतों में सांस्कृतिक एकता का साक्षात्कार बहुत सामान्य है किन्तु आंचलिक विशेषताएँ उनके आपसी भेद को स्पष्ट कर देती हैं। भारतीय जीवन में ऐसे अनेक तथ्य निहित हैं जिनका व्यापक मूल्य है। उदाहरण के लिए गो का आदर सर्वदेशीय है और इस आदर में सांस्कृतिक एकता की स्थापना स्पष्ट है किन्तु राजस्थान का ऊँट और अल्मोड़ा का टट्टू आंचलिक विशेषताओं को लेकर राजस्थान और अल्मोड़ा के गीतों के मौलिक भेद को प्रकट कर देता है।

लोक-गीत कृत्रिमता की उपेक्षा करके सामान्य जीवन की वास्तविकताओं को प्रतिष्ठित करते हैं। कृत्रिम भाषा, कृत्रिम भाव और कृत्रिम परिचर्या के लिए इनमें कोई अवकाश नहीं होता। अतएव वैयक्तिक कुण्ठाओं की अभिव्यंजना के लिए इनमें कोई गुंजाइश नहीं होती। कृत्रिमता का सहज विनिवारण हो जाने के कारण लोक-गीतों में बड़ी प्रबल प्रभाव-प्रेषणीयता रहती है। लोक-मानव की सरल सौन्दर्य-भावना अपने प्रौढ़तम रूप में उस समय व्यक्त हुई कही

जा सकती है जबकि उसका प्रभाव श्रोता की बुद्धि पर न होकर सीधा उसके हृदय पर पड़ता है।

लोक-गीतों ने जीवन के प्रत्येक पक्ष को आविष्ट कर रखा है। फागों की मादक स्वर-लहरियों में लोक-धुन को सुना जा सकता है और सावन की रस भरी मल्हारो में भी इन्हीं गीतों का आनन्दाप्लावन व्यक्त होता है। होली-दिवाली आदि त्यौहारों के देव-पूजनों में लोक-गीतों का आदर प्रतिष्ठित है। उत्सवों और संस्कारों के अवसर पर भी उनकी मान्यता सिद्ध है। गाँवों के जीवन में तो अनेक लोक-गीतों ने मन्त्रों की सी पवित्रता प्राप्त करली है। कहने का तात्पर्य यह है कि लोक-गीत सामान्य जीवन के अभिन्न अंग बन गये हैं।

भारतीय लोक-गीतों को समादृत करने का श्रेय भारतीय नारी को मिलना चाहिये। यों तो पुरुषों के भी लोक-गीत होते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं जो नर-नारी, दोनों की सम्मिलित सम्पत्ति होते हैं किन्तु लोक-गीतों को धर्म में प्रतिष्ठित करने का श्रेय शायद नारी को ही मिला है। कुछ तो नारी को उसकी अशिक्षितता ने मन्त्रों के स्थान पर लोक-गीतों को सम्मानित करने की प्रेरणा दी और कुछ नारी के व्यापक गहन प्रभाव ने लोक-गीतों के लिए प्रौढ़ भूमिका निर्मित की। बच्चे जितना माँ से सीखते हैं उतना बाप से नही क्योकि वे उसके निकटतम सम्पर्क में रहते है। एक माँ की छाप अनेक बच्चों पर लग कर अपने प्रभाव को विस्तृत करती है। बहू पर दो ओर से छाप लगती है—माँ की ओर से और फिर सास की ओर से। अन्य सखी-सहेलियों से मिलकर भी नारी बहुत कुछ सीखती है। उसकी शिक्षा के इस विधान में लोक-गीत के प्रचलन और प्रसार का रहस्य निहित है। इसी कारण लोक-गीत नारी-जीवन की अमूल्य निधि हैं।

अशिक्षित पुरुष भी लोक-गीत के बहुत समीप रहता है। वह लोक-गीत के इतना समीप तो नहीं है जितना नारी, फिर भी लोक-गीत से उसका निकट सम्बन्ध है। लिखित साहित्य से अशिक्षित पुरुष का सान्निध्य न होने से लोक-गीतों की ओर उसकी प्रवृति स्वाभाविक है। अपने जीवन की घुटन को कम और अपने श्रमभार को हल्का करने के लिए तथा अपने उल्लास को व्यक्त करने के लिए वह लोक-गीत का आसव पीता-पिलाता है।

उसके साथ वह कभी-कभी सामान्य वाद्य-यन्त्रों का उपयोग भी कर लेता है। जब गीत को गाने वाला अकेला होता है तब वह प्रायः वाद्य-यन्त्रों का उपयोग नहीं करता। सरंगी, बैन, ढफ आदि कुछ ऐसे बाजे हैं जिनका उपयोग गायक एकान्त में भी कर लेता है किन्तु अधिकांशतः वाद्य-यन्त्रों

का उपयोग तभी किया जाता है जब गीत किसी सभा या समूह में गाया जाता है।

भारतीय लोक-गीतों के अपने-अपने वाद्य-यन्त्र होते हैं। बहुत से गीत किसी भी बाजे के साथ अपना काम चला लेते हैं किन्तु गीत विशेष बाजे विशेष के साथ ही अपना पूर्ण प्रभाव डाल पाता है। सरंगी, तबला, ढोलक, झाँझ, पूँगी, ढफ, मंजीरा, करताल, बैन आदि बाजे लोक-गीतों के सहचर है। कुछ लोक-गीत ऐसे होते हैं जो अपनी मादक स्वर-लहरियों से नृत्य के साथ विशेषता से आनन्द-विभोर करते हैं। उस अवसर पर घुँघरू, नूपुर, पैंजनी आदि की ध्वनि भी गीत के साहचर्य के लिए आवश्यक हो जाती है।

लोक-गीत जन-जीवन के सच्चे प्रतीक होते हैं। इनमें किसी समाज की सभ्यता और संस्कृति का इतिहास निहित होता है। इनमें जन-साधारण की इच्छा और क्रिया की समन्विति का चित्र सामान्य ज्ञान के पन्ने पर चित्रित होता है। इन रंगों में चाहे कौशल न होता हो किन्तु हृदय की सरस लहरें अवश्य दिखायी पड़ती हैं। उनसे कुशल कलाकार को बौद्धिक तोष भले ही न मिले परन्तु हृदय को शीतलता अवश्य मिलती है।

लोक-गीत, चाहे धार्मिक भावनाओं से परिपूर्ण हों और चाहे मनोजागरण से, हृदय के भार को हल्का करने की प्रेरणा उनमें अवश्य निहित होती है। सन्तों के वे गीत जो वैराग्य से ओत-प्रोत हैं, ममता और मोह से लदे हुए हृदय को हल्का करने में बड़े सहायक होते हैं। जगत् की अनित्यता और आत्मा की अमरता के चित्र मनुष्य को व्याकुलता से मुक्त करके कभी-कभी सदाचार एवं विवेकाचार की ओर मोड़ देते हैं।

कण्ठ और श्रुति के अभ्यास के कारण अपने-अपने अंचल के लोक-गीत ही मोहक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए 'थानेदार कलेवो करजा रे, मैं राँधूँ छूँ रावड़ी, तू छाछ बिलोजा रे' इस जयपुरी गीत को लिया जा सकता है। इस से एक व्रजवासी या बंगाली उतना आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता जितना एक जयपुरी या उसका पड़ौसी। इसका कारण उक्त अभ्यास है। यद्यपि यह गीत बड़े सरल शब्दों से निर्मित है; फिर भी 'रावड़ी' जैसे शब्द का सम्बन्ध प्रदेश विशेष से होने के कारण दूसरें प्रदेश का निवासी उससे अपरिचित एवं अनभ्यस्त होने के कारण गीत के पूर्ण आकर्षण से वंचित रहता है। इसी प्रकार 'डोरी डोरि महल चढ़ि आयो रसिया' गीत को सुनकर एक व्रजवासी जिस प्रकार सिहर उठता है उसी प्रकार व्रजेतर प्रदेश का रहने वाला प्रभावित नहीं होता। इसका कारण भाषा का आंचलिक रूप है जिसके अन्तर्गत कण्ठ और श्रुति का अभ्यास निहित होता है।

लोक-गीतों में एक सामान्य प्रभाव-शक्ति होती है, यही उनकी लोकप्रियता का कारण है। सरलता, संगीतव्यता, आंचलिकता और जीवन-सांनिध्य लोक-गीत की विशेषताएँ हैं। कला अपनी सरल मोहकता में अवतरित होकर जीवन-प्रतिरूपण से अभिन्न बन जाती है। आज लोक-गीतों को प्रकाशित करने की प्रवृत्ति उनके विकास में साधक सिद्ध होगी या बाधक इसका निर्णय अनुमान से नहीं किया जा सकता, समय करेगा किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि अनिवार्य शिक्षा और मुद्रण-सौकर्य से लोक-गीतों का रूप और स्वभाव प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

२०

साहित्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरं और अनुकृति

जीवन के समझाने की आवश्यकता है। प्रत्येक जीवित मनुष्य जिसको बुद्धि मिली है, जीवन को समझता है। फिर भी जीवन की व्याख्या करना कठिन है—क्योंकि जीवन कोई पदार्थ या वस्तु नहीं है जो उठाकर सामने रख दी जाये। यद्यपि जीवन को हम देखते हैं, सुनते हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ जीवन का परिचय देती हैं फिर भी उसकी व्याख्या करना उतना ही दुष्कर है जितना कि किसी भाव की व्याख्या करना कठिन है। जीवन भी एक भाव है, किन्तु भाव से भिन्न भी है, इसलिए कि भाव हृदयगत होते हैं और जीवन-स्पन्दन बाहर भी होता है। जीवन एक ऐसा भाव है जो अन्तर और बाहर दोनों स्थलों पर अपनी स्थिति को व्यक्त करता है। भाव तो कभी-कभी हृदय की विक्रिया बनकर ही रह जाता है किन्तु जीवन एक साथ ही अन्तर और बाहर दोनों में आविर्भूत होता है। सोता हुआ मनुष्य जीवन को छिपा नहीं सकता, निद्रा, तन्द्रा या रोग जीवन के आवरण नहीं बन सकते। प्रत्येक श्वास जीवन की गति का साक्ष्य देती है, नाड़ी का स्पन्दन जीवन को प्रमाणित करता है। जबकि भय, लोभ, क्रोध, प्रेम, घृणा आदि भाव मन की सीमा में निहित होते हैं। जीवन मन की किसी सीमा में आबद्ध नहीं होता। जीवन जीव का भाव है और वह जीव का प्रचारक है।

जब जीवन और मन एक हो जाते हैं तब जीवन मन को व्यक्त हो जाता है और जब तक उन दोनों में अन्तर बना रहता है तब तक मन जीवन के रस को नहीं पा सकता। इतना ही नहीं वह जीवन के लिए भार या बन्धन बना

रहता है। यह बन्धन या भार मन की संकीर्णता है। ज्यों-ज्यों मन अपनी संकीर्णता का विसर्जन करता जाता है त्यों-त्यों वह जीव के समीप पहुँचता जाता है और समीप पहुँचकर उसके साथ ऐक्यभाव की प्रतिष्ठा करता जाता है। यह ऐक्य ही समरसता है।

जीवन का भोग तो सभी मनुष्य करते हैं किन्तु रस, उसका आनन्द विरले ही ले पाते हैं। जीवन से जो रस प्राप्त होता है उसको मनीषियों ने 'समरसता' कहा है। समरसता जीवन का परिपक्व रस है। जो रस 'समरसता' से नीचा है वह अपरिपक्व है। समरसता में जीवन-तत्त्व अपनी पूर्णता में निष्पन्न होता है। यह रस स्वसंवेद्य है, कथनीय या वचनीय नहीं है।

अतएव जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाता है वह पूर्ण जीवन की व्याख्या नहीं है। जो कुछ व्यक्तिगत रूप से अब तक कहा गया है वह अपूर्ण जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। इसी अपूर्णता के सम्बन्ध से जीवन की अब तक जितनी व्याख्याएँ प्रस्तुत हुई हैं वे सब अपूर्ण और भिन्न हैं। इसीलिए हमने देखा कि कोई जीवन को 'बुद्‌बुद' कहता है कोई उसे 'विराट्' कहता है, कोई 'मकड़ी का जाला' और कोई 'सागर' कहता है। किसी को इसमें 'दम' लगता है और कोई इसे 'बेदम' समझता है। हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता, राम की नैतिकता, कृष्ण की लोकप्रियता, युधिष्ठिर की धर्मप्रियता, इन्द्र की स्वार्थपरता, रावण की मदान्धता, कंस की नृशंसता एवं दुर्योधन की दुर्नयता आदि विराट् जीवन के अंगभूत तथ्य हैं। जहाँ पूर्ण रस की प्राप्ति नहीं है, जहाँ समरसता की उपलब्धि नहीं है वहाँ विषमता की सत्ता अनिवार्य है, द्वन्द्व अवश्यम्भावी है।

इसी निर्द्वन्द्वता एवं समरसता की ओर जीवन की प्रत्येक इकाई प्रयत्नशील है। प्रयत्नों में से कुछ सार्थक होते हैं और कुछ व्यर्थ या निरर्थक। प्रयत्न-सार्थकता जीवन के उत्कर्ष को प्रमाणित करती है और व्यर्थता अपकर्ष को। उत्कर्ष स्वर्ग की गति है और अपकर्ष यम-यातना का मार्ग है।

उत्कर्ष और अपकर्ष के मार्गों पर असंख्य प्राणी जा चुके हैं। ये पथ अवरुद्ध नहीं हैं, निरन्तर प्रवाहित हैं। कुछ लोग मार्ग बदलते भी रहते हैं। एक पथ से दूसरे पथ पर लगकर वे यश-अपयश के भागी भी बनते हैं। जो धर्मभीरु हैं वे सुपथ को दृढ़ता से पकड़ लेते हैं। हरिश्चन्द्र का सत्याग्रह इसी दृढ़ता का प्रमाण है। यही दृढ़ता तप, यश आदि अनेक नामों से अभिहित होती है।

साहित्य जीवन के उत्कर्ष को दिखाने का एक माध्यम है। जो मनुष्य इस मार्ग पर चलने के लिए न केवल स्वयं प्रयत्नशील है, अपितु दूसरों को भी उस पर चलाने का प्रयत्न करता है वह अवश्य ही यशोभागी है। इन प्रयत्नों

में से साहित्य सर्वोत्कृष्ट प्रयत्न है। साहित्य की प्रभविष्णुता उत्कर्ष के रूप की रेखाएँ खींचती है। अतएव सामाजिक उत्कर्ष की प्रेरणा में ही साहित्य के मूल्यांकन के प्रतिमान निहित है।

साहित्य से पहले के जीवन के सम्बन्ध में किसी अनुमान की गुंजाइश नहीं है किन्तु जब से साहित्य ने जीवन का पल्ला पकड़ा है, जीवन ने भी साहित्य को अपनी अभिव्यक्ति का एक समर्थ साधन मान लिया है और दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध बन गया है। अतएव जहाँ जीवन साहित्य को आधार प्रदान करता है साहित्य भी उसे प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि समग्र जीवन 'भुक्ति' और 'मुक्ति' के मार्ग से 'युक्ति' की दो धाराओं में बह रहा है। कहीं भुक्ति-सम्बन्धी युक्तियाँ हैं और कहीं मुक्ति-सम्बन्धी। 'सचेत' और 'अचेत' के भेद से भुक्ति के दो भेद है। अचेत भुक्ति में भोग्य और अभोग्य का ज्ञान नहीं होता, किन्तु सचेत-भुक्ति से भोग्य ही अभीष्ट होता है। सचेत और अचेत दोनों अवस्थाओं में 'युक्ति' अनिवार्य है। युक्ति केवल भुक्ति में ही अनिवार्य नहीं है वह तो मुक्ति-मार्ग में भी अनिवार्य है। दर्शन की भाषा में इनको श्रेय और प्रेय मार्ग भी कह सकते हैं। भुक्ति-मार्ग सुखभोग में प्रवृत्त कराता है और मुक्ति-मार्ग दुख-निवृत्ति की ओर ले जाता है। इनको 'प्रवृत्ति' एवं 'निवृत्ति' मार्ग भी कह सकते हैं किन्तु 'श्रेय' और निवृत्ति' का सामान्य जीवन में कोई स्थान नहीं होता जबकि मुक्ति (दुख से बचने) की कामना सामान्य जीवन में भी होती है। इसी सामान्य जीवन को ध्यान में रखकर भुक्ति और मुक्ति, ये दो जीवन-पथ अभिहित किये गये हैं। इन दोनों पर चलने का प्रयत्न ही सामान्यतः दृष्टि-गोचर होता है किन्तु यह अनिवार्य नहीं है।

भुक्तिं और मुक्ति के सम्बन्ध में प्रचलित युक्तियाँ जीवन को आकार प्रदान करती है। 'भोग्य' और 'मोक्ष्य' से लेकर 'सामरस्य' तक सत्य की प्रतिष्ठा है। यह सम्भव है कि जिसे पूर्ण सत्य मान लिया गया हो वह वैसा न हो, किन्तु सत्य की स्थिति का निषेध नहीं किया जा सकता। सत्य अपने रूप में निरापद है अतएव सत्य की साधना शिवमयी होती है। जीवन की उत्कर्षमयी युक्तियाँ निश्चित रूप से शिवमयी होती हैं और निरापद सत्य की शिव युक्तियाँ अवश्य ही 'सुन्दर' होती हैं। कला का उत्कृष्ट रूप इसी सुन्दर में व्यक्त होता है। जीवन की मोहक अभिव्यञ्जना का नाम ही 'सुन्दर' है। अतएव जो केवल सुन्दर है उसकी स्थिति सेमल के फूल के समान है, वह केवल देखने-सुनने के लिए ही है। जो 'सुन्दर', 'सत्य' और 'शिव' की अभिव्यञ्जना है वही मौलिक है।

कुछ लोग 'शिव' के सम्बन्ध में आपत्ति उठाते हैं। उनका कहना है कि "हमारा 'शिव' आपके 'शिव' से भिन्न हो सकता है; हम एक मार्ग पर चलना अच्छा समझते हैं और आप दूसरे पर। आप यह नहीं कह सकते कि आपका मार्ग अच्छा मार्ग है और हमारा मार्ग बुरा मार्ग है। जिस प्रकार हमें आपके मार्ग को बुरा बतलाने का अधिकार नहीं है उसी प्रकार आपको भी हमारे मार्ग को बुरा कहने का कोई अधिकार नहीं है।" इस सम्बन्ध में मैं अपना निर्णय नहीं देना चाहता किन्तु इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि जहाँ 'अच्छाई में विकास की गुंजाइश हो, जहाँ उसमें व्यापकता और स्थायिता प्राप्त करने की प्रवृत्ति हो, वहाँ 'अच्छाई' का निर्णय इच्छा पर निर्भर नहीं हो सकता। 'व्यापकता' और 'स्थायिता' 'शिव' के आधार-तत्त्व है। इनके अभाव में शिव की कल्पना 'कागज के फूलों में सुगन्ध की कल्पना' है। जीवन अपने मौलिक रूप में सत्य को शिव से विमुक्त नहीं कर सकता और न ये दोनों 'सुन्दर' से विरहित ही रह सकते है। यह सत्य है कि जीवन का कोई तत्त्व (सत्य, शिव और सुन्दर में से) हमें प्रत्यक्ष न हो बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार काठ में अग्नि या मिट्टी के ढेले में जल प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु इससे किसी का अत्यन्ताभाव सिद्ध नहीं होता। मनीषियों एवं साधुओं को जीवन तत्त्व सहज रूप में व्यक्त हो जाता है किन्तु सामान्य व्यक्ति उसे प्रत्यक्ष नही कर पाता। जो हो यह सिद्ध है कि 'सत्य', 'शिव' और 'सुन्दर' जीवन के अभेद्य तत्त्व हैं जिनकी संहति का साक्षात्कार विरल महापुरुषों को ही हो पाता है।

जो लोग रात-दिन जीवन की शिकायत करते रहते हैं, जिन्हें जीवन भार-रूप लगता है, वे स्वयं तो 'मा जीवन' व्यतीत करते ही हैं दूसरों के लिए भी भार बन जाते हैं। दुख से निरन्तर तड़पने वाला व्यक्ति अपने साथियों को भी दुखी कर देता है किन्तु जो दुख को मुस्कराहट से झेल लेता है वह दूसरों की मुद्रा में प्रसन्नता का पुट देकर उनके जीवन को हल्का बना देता है। हँसते-हँसते मरने वाले काल की करालता का अनुभव स्वतः भी नहीं करते और अपने बन्धु-बान्धवों को भी उससे मुक्त रखते हैं। महापुरुष जिस प्रकार दुख से ऊपर रहते हैं उसी प्रकार सुख से भी ऊपर रहते हैं क्योंकि ये दोनों ही व्यापक और स्थायी नही हैं, अतएव इनका सम्बन्ध लौकिक अथवा पारलौकिक कल्याण से भी नहीं है और न इनमें चिर-सौन्दर्य ही है। दुख-सुख क्षणिक एवं अस्थायी हैं। ये जीवन की चरम परिणति नहीं हैं। दुख के डंठल में सुख की कली लगती है जिसकी चरम परिणति धूल है। दुख और सुख भ्रम हैं। इनमें जीवन के मौलिक तत्त्व निहित नहीं हैं। मौलिक जीवन 'सत्य', 'शिव' और 'सुन्दर' की संहति है।

साहित्यकार का काम अपनी सृष्टि में सत्य, शिव और सुन्दर को संघात रूप में प्रस्तुत करना है। जिस संहृति को योगी लोग बड़ी तपस्या से प्राप्त करते है, पाठक को वह सत्साहित्य में क्षणों में प्राप्त हो जाती है। इस उपलाभ में कृतिकार के तत्त्वानुसन्धान और कौशल का विशेष महत्त्व है। आकर्षक और आकृष्य के मध्य आकर्षण का महत्त्व तो अनुपेक्षणीय है ही किन्तु आकर्षण जितना आकर्षक से सम्बद्ध होता है उतना आकृष्य से नहीं होता। यह स्मरणीय है कि कमर में रस्सी बाँधकर खींचने वाले का महत्त्व खिंचने वाले से अधिक होता है क्योंकि खींचने वाले का सम्बन्ध न केवल अपनी शक्ति से होता है अपितु खिंचने वाले की शक्ति तथा रस्सी की शक्ति से भी होता है। इसी शक्ति का नाम आकर्षण है जिसमें खींचने और खिंचने वाले की शक्ति का योग निहित है। रस्सी की शक्ति भी इस आकर्षण से पृथक् नहीं होती। यह आकर्षण साहित्य में सतत् विद्यमान रहता है। इसका विशेष महत्त्व है और इसकी समाहिति में 'घुणाक्षरन्याय' लागू नहीं होता। यहाँ जीवन के तत्त्व साहित्यिक तत्त्वों में होकर प्रकट होते हैं। इस अभिव्यक्ति का श्रेय उस 'अनुकृति' को है जिसे कुछ मनीषियों की भाषा में 'कवित्व' नाम दिया गया है।

कवित्व के चार तत्त्व होते हैं—चिन्तन, अनुभूति, कल्पना और अभिव्यंजना। इन चारों की समन्विति में ही जीवन की 'अनुकृति' व्यक्त होती है। 'अनुकृति' एक ऐसा चित्र है जिसके निमित्त 'चिन्तन' कागज का काम करता है। अनुभूति का प्रसार उसको आकार देता है, कल्पना प्रकार देती है और अभिव्यंजना वर्ण देती है। इनकी समन्विति एक सुन्दर चित्र-तुरग की सृष्टि कर देती है। अनुकृति जितनी 'सही' होगी चित्र उतना ही मोहक होगा।

यहाँ 'सही' शब्द सत्य का द्योतक है। चिन्तन और अनुभूति सत्य के प्रमुख क्षेत्र हैं, किन्तु कल्पना और अभिव्यंजना भी सत्य से असंपृक्त नहीं रह सकती। पंचीकरण प्रक्रिया में जो महत्त्व आकाश-तत्त्व का है, वही 'अनुकृति' में 'सत्य' का है। 'व्याप्ति' और 'स्थायित्व' सत्य के प्रमुख लक्षण हैं। साहित्य या काव्य जीवन की अनुकृति है। वह एक ऐसा चित्र है जो सीधा हृदय का स्पर्श करता है। जिस प्रकार चन्द्रमा के स्पर्श से चन्द्रमणि रस निष्पन्न करती है उसी प्रकार साहित्य के स्पर्श से हृदय में रस की निष्पत्ति होती है और बात की बात में रस हिलोरें लेने लगता है।

हाँ तो, जीवन का सत्य चिन्तन और अनुभूति के मार्ग से साहित्य में अवतीर्ण होता है। साहित्य का सत्य दर्शन का 'निरपेक्ष' सत्य नहीं होता। वह जीवन का सत्य होता है जिसका सापेक्ष होना अनिवार्य है। जीवन का सत्य सम्बन्धों में व्यक्त होता है जबकि दर्शन का सत्य 'निरपेक्ष' एवं अद्वैत

है। इसके विपरीत साहित्य का सत्य इतना सापेक्ष भी नही होता कि उसे विज्ञान के सत्य के चौखटे मे जड़ दिया जाये और उसके आकार-प्रकार का परिमित विवरण प्रस्तुत कर दिया जाये। साहित्यकार का सत्य सम्भावना के क्षेत्र का विलासी होता है। इसलिए उसकी सत्ता में कल्पना का पुट भी रह सकता है। साहित्य सत्य के क्षेत्र से बाहर नहीं निकलता। साहित्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसमें घटित घटनाएँ ही सजधज के साथ प्रस्तुत हों किन्तु साहित्य से घटनीय घटनाओं का सम्बन्ध नहीं छूट सकता। साहित्य के सत्य का यही स्वरूप है। यह आवश्यक नहीं है कि साहित्यिक सत्य संभूत घटनाओं के रूप में ही प्रकट हो, वह तो उनके सम्भाव्य रूप में भी प्रकट हो सकता है। इसी से हम साहित्य में एक ओर 'वीरप्रताप' जैसी रचनाएँ देखते है जो घटित घटनाओं के कलेवर मे अभिव्यक्त होती हैं और दूसरी ओर 'एक फूल की चाह' जैसी रचनाएँ घटनीय घटनाओं के परिवेश में आविर्भूत होती हैं। दोनों सत्य-संपृक्त हैं। एक में ऐतिहासिक सत्य है और दूसरी में काल्पनिक सत्य।

याद रखने की बात है कि साहित्यिक कल्पना भी सत्य-क्षेत्रीय होती है। ऊहा और अत्युक्ति तक में सत्य-क्षेत्र को कल्पना बिल्कुल नहीं छोड़ देती। सत्य से विलग होकर कल्पना का कोई मूल्य नहीं है। 'कनकभूधराकार' जैसी उक्तियों में कल्पना को अनर्गल नहीं कहा जा सकता। हनूमान के शरीर में किसी भूधर को नहीं देखना है अपितु उसकी विशालता की ओर कवि ने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। कल्पना और सत्य का ऐसा मेल अटूट है। साहित्य में कल्पना सत्य को विस्तार देती है किन्तु आकाश-कुसुम को इन्द्रियगोचर नहीं बनाती। आकाश-कुसुम सत्य नहीं है, असत्य है। उसकी कल्पना 'असत्य' की 'अनुकृति' में कृतकार्य हो सकती है, परन्तु उससे सत्य की व्यंजना कदापि नहीं हो सकती।

कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य में कल्पना और शिव का भी अटूट सम्बन्ध है। कल्पना के योग से ही साहित्यकार जीवन की युक्तियों को 'शिव' रूप में चित्रित करता है। जो युक्तियाँ जीवन में गर्हणीय समझी जाती हैं वे साहित्य में अवतीर्ण होकर प्रेरणा का स्रोत बन जाती हैं, जहाँ मनुष्य का कल्याण निहित है। वास्तव में साहित्य वही है जहाँ जीवन का अशिव भी 'शिव' का वाहन बन जाता है। जो साहित्य प्रेरणा नहीं दे सकता, जिसमें जीवन-लक्ष्य के लिए कोई पद्धति नहीं है, वह 'साहित्य' नाम का भार मात्र वहन करता है, वास्तव में साहित्य कहलाने योग्य नहीं है।

कला का काम कल्पना में प्रारम्भ होकर अभिव्यंजना में समाप्त होता है। साहित्य का सम्बन्ध इन दोनों से भी होता है। इसलिए साहित्य को कला

कहना अनुचित नहीं है। पाश्चात्य मनीषियों ने साहित्य को कला इसलिए कहा है कि कल्पना और अभिव्यंजना पर इनका विशेष ध्यान रहा है। साहित्य के क्षेत्र में चिन्तन और अनुभूति का भी विशेष स्थान है। भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने रस को विशेष महत्त्व दिया है। रससिद्धान्त भारतीय शास्त्र का बहुत प्राचीन सिद्धान्त है और उसमें अनुभूति का गौरव अविस्मरणीय है। इसी कारण भारतीयों ने साहित्य को विद्या की संज्ञा प्रदान की थी। भावतत्त्व में अनुभूति के साथ चिन्तन का भी पुट रहता है। चिन्तन और अनुभूति साथ-साथ रहने वाले तत्त्व हैं। एक के बिना दूसरे की स्थिति असम्भव है। यद्यपि अनुभूति हृदयपक्षीय है और चिन्तन बुद्धिपक्षीय, किन्तु हृदय और बुद्धि की पारस्परिकता विच्छिन्न नहीं की जा सकती। अनूभूति और चिन्तन का अटूट सम्बन्ध है और दोनों ही विद्या के तत्त्व हैं। अतएव साहित्य को भारत में विद्या की अभिधा उचित ही दी गई है। विद्या और कला, ये दोनों शब्द क्रमशः काव्य के अन्तःपक्ष और बाह्यपक्ष के द्योतक हैं। इससे स्पष्ट है कि भारत में काव्य के अन्तःपक्ष को विशेष महत्त्व दिया गया और इसी कारण आज तक रस-सिद्धान्त का बोलबाला है। इसके विपरीत पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य के बाह्यपक्ष को विशेष गौरव प्रदान किया था। इसीलिए पश्चिम में शैली ने इतने रूप बदल डाले।

कहना न होगा कि अनुभूति का सारा भार कल्पना को सँभालना पड़ता है और इस स्थिति में वह चिन्तन और अनुभूति का आश्रय भी ले लेती है। चिन्तन अनुभूति को परिमार्जित करता है और कल्पना उसे आकार प्रदान करती है। इस प्रकार वास्तव में अनुकृति की प्रसविनी कल्पना ही है। कल्पना-प्रसूत अनुकृति की व्यवस्था का नाम ही तो कला है जिसे अभिव्यंजना, शैली आदि अनेक उपनाम दिये जाते हैं।

कल्पना का सम्बन्ध एक ओर 'सत्य' और 'शिव' से है और दूसरी ओर सुन्दर से है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि साहित्य का सत्य कल्पना के पुट से फैलने की प्रवृत्ति रखता है किन्तु वह शिव-मार्ग से फैलता है। कल्पना साहित्य का अनिवार्य अंग है। जीवन को साहित्य के रूप में परिणत करने का श्रेय विशेषतया कल्पना को ही दिया जाता है। 'मानस' के रूप और सौन्दर्य के विधान में कल्पना का कितना योग है, इसका परिचय आधार-ग्रन्थों के साथ मानस के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त हो सकता है। साहित्य-क्षेत्र में मौलिकता की व्यवस्था कल्पना ही करती है। सच तो यह है कि कल्पना साहित्य की सृजनात्मक शक्ति है। राई को पर्वत और पर्वत को राई करने की शक्ति 'कल्पना' में ही निहित है।

अनुकृति भी कल्पनाश्रित होती है। कल्पना उसको दोनों रूपों में प्रकट करती है—साम्य रूप में भी और विरोध रूप में भी। साम्य रूप में अनुकृति को जन्म देकर साहित्यकार अपनी कल्पना के बल से विधाता, प्रकृति अथवा अपने किसी पूर्वज का अनुकरण कर सकता है और विरोध के द्वारा उसे मौलिकता की दिशा में विशेष अवसर मिल सकता है। अलंकारों की सृष्टि में भी कल्पना का अमोघ योग रहता है। इस प्रकार रूप और सौन्दर्य, दोनों के विधान में कल्पना अपना हाथ रखती है।

अनुकृति का आधार सत्य है और सौन्दर्य की चरम परिणति उसकी सीमा है। 'सुन्दरतम' की उपलब्धि ही अनुकृति की कृतकृत्यता है। सत्साहित्य का लक्ष्य सत्य और शिव की 'सुन्दरतम' अभिव्यक्ति करना है। ऐसी अभिव्यक्ति ही अनुकृति का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करती है और वही साहित्य के मूल्यांकन का सही प्रतिमान है।

युग बदलते रहते है, सामाजिक ढाँचे बदलते रहते हैं किन्तु 'सत्य', 'शिव' और 'सुन्दर' की प्रतिमाएँ नहीं बदलतीं। इन तीनों की समन्विति का जो रूप वैदिक काल में था, वही आज भी है। इनकी अभिव्यक्ति के आकार-प्रकार बदल सकते हैं किन्तु उनका स्वभाव नहीं बदल सकता। जिस साहित्य में 'सत्य', 'शिव' और 'सुन्दर' का निकटतम अनुवर्तन है, जिसमें अनुकृति के उच्चतम आदर्श की उपलब्धि है, उसकी 'साहित्य' अभिधा सार्थक ही है।

कुछ दिनों से भारत में शैली का समर्थन बड़े जोर से होने लगा है। समर्थक लोग चाहे मानें न मानें, किन्तु है यह पश्चिम का प्रभाव। यों तो भारत में भी 'बाह्यपक्ष' का समर्थन करने वाले साहित्य-शास्त्र ने कभी ज़ोर पकड़ा था किन्तु वह 'रस-सिद्धान्त' को दबा न सका। रसों की संख्या बढ़ती ही चली गयी। यहाँ तक कि भक्ति, वात्सल्य ही नहीं, प्रेम भी रस मान लिया गया। आधुनिक आलोचक भी रस को भुला न सका। फिर भी कुछ लोग 'पछवा प्रभाव' से मुक्त न रह सके। वे शैली को ही सब कुछ मान बैठे। पश्चिम की अनुकृति में उन्होंने 'अपने को' भुलाने का प्रयत्न किया। इसमें सन्देह नहीं कि शैली में भी साहित्य की अभिव्यंजना है, किन्तु शैली को ही साहित्य मान बैठना सरासर भूल है। 'स्टाइल इज दी मैन' की आवाज साहित्य में शैली को उसका पद देने के लिए उठे तो कोई आपत्ति की बात नहीं है किन्तु शैली के समर्थक 'सत्य' और 'शिव' के महत्त्व को नहीं भुला सकते। वे वेश-भूषा को लोचनों के आगे रख सकते हैं, किन्तु काया में विलसित आत्मा का निषेध नहीं कर सकते—शैली के साथ भाव और रस का भी महत्त्व है। शैली में प्राण-प्रतिष्ठा रस ही करता है। उसी में सत्य, शिव और सुन्दर का लिंग रूप विद्यमान है।

शैली के कुछ समर्थकों का कहना है कि भाव की सत्ता शैली से भिन्न नहीं है। वे उदाहरण देते हैं कि जिस प्रकार शरीर से पृथक् जीव की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार शैली से पृथक् भाव की कल्पना नहीं की जा सकती। उनका यह उदाहरण गलत है। यह उदाहरण तो उस दशा में उपयुक्त प्रतीत होता है जबकि भाव को भी समुचित सम्मान दिया जाये। रूप और वेश-भूषा का मूल्य प्राणों के साथ है। इन दोनों का सम्मिलन ही तो प्राणी है—भाव और शैली की व्यवस्था ही तो साहित्य है।

रस की निष्पत्ति चाहे क्षणिक ही हो, 'सत्य' और 'शिव' के प्रश्रय से ही होती है क्योंकि ये रस के अनिवार्य तत्त्व हैं। असत्य और अशिव से रस की निष्पत्ति कदापि नहीं हो सकती। जिस प्रकार आकाश का अस्तित्व घटमठादि से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार भाव का अस्तित्व शैली से बाधित नहीं होता। शैली भाव की अभिव्यंजना का साधन है। यद्यपि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती किन्तु वह भाव का स्थान नहीं ले सकती। रबड़ की गुड़िया वस्त्रादि से विभूषित होकर चाबी के बल से नृत्य कर सकती है किन्तु वह प्रेम नहीं कर सकती, विषण्ण के प्रति सहानुभूति प्रकट नहीं कर सकती। शैली में चमक-दमक हो सकती है, उक्तियों में चमत्कार हो सकता है, शब्द-योजना में मोहकता हो सकती है और मुहावरों में अर्थगौरव और लालित्य हो सकता है; किन्तु, यदि उसमें सत्य का आधार और शिव की गति नहीं है तो, उसको साहित्य कहना उपहास्य है।

इससे यह स्पष्ट है कि आक-ढाक, सभी कुछ साहित्य नहीं होता। जिसमें जीवन के तथ्य निहित हैं, जिसमें जीवनोत्कर्ष के मोहक पथ के सहज संकेत हैं और जिसका अध्ययन आनन्दप्रद है वही साहित्य है। उससे जीवन को प्रेरणा मिलती है और उसमें सौन्दर्य और प्रयोजन, दोनों का विनिवेश होता है।

आज नये साहित्य की धूम है। पत्र-पत्रिकाओं और साहित्यिक गोष्ठियों में उसकी बड़ी चर्चा रहती है। यह नया साहित्य वास्तव में है क्या? यह गद्य नहीं, पद्य नहीं, कहानी या उपन्यास नहीं, नाटक या एकांकी नहीं और प्रबन्ध या मुक्तक काव्य भी नहीं है। फिर यह है क्या? यह है अभिव्यंजना की एक नयी शैली, भावों की एक नवीन वेश-भूषा। कुछ आलोचक इसे शैलीमात्र कहते हैं और कुछ इसमें भावों की सन्निहिति भी स्वीकार करते हैं। अभी तक नये साहित्य की कोई परम्परा नहीं है और नया साहित्यकार किसी परम्परा की प्रतिष्ठा की कल्पना भी नहीं कर रहा होगा क्योंकि कोई भी परम्परा उसके 'नयेपन' को समाप्त कर देगी। यदि तथाकथित नये साहित्य ने भी किसी परम्परा को अपना लिया तो उसके भविष्य के 'हवाई किले' धूल हो जायेंगे

क्योंकि नया साहित्य नयी उमंगें लेकर आया है। वह सामाजिक और साहित्यिक रूढ़ियों के उच्छेदन के लिये क्रान्ति का बीड़ा उठाकर आया है। फिर भी वह समाज को खण्डित करने नहीं आया, उसे संकलित, एकत्र एवं संगठित करने आया है। यदि कवि की कृति समाज को, उत्कर्ष प्रदान करने के बजाय, अपकृष्ट करती है, उसके मंगल की साधना के बजाय अमंगल की भूमिका तैयार करती है तो उसकी नवीनता व्यर्थ है। नये साहित्य का तात्पर्य ही यह है कि वह समाज के मंगल-विधान के लिये आविर्भूत हुआ है, वह समाज के लिये प्रेरणा और शक्ति लेकर अवतीर्ण हुआ है और तभी उसका 'नयापन' सार्थक है।

नये साहित्य की दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक प्रवृत्ति के प्रेरक वे साहित्यकार हैं जो नये प्रयोग कर रहे हैं, किन्तु केवल प्रयोग के लिये। उनका लक्ष्य प्रयोगात्मक शैली मात्र है और जो प्रतीकों के ब्याज से व्यर्थाव्यर्थ कुछ भी कहने का हौसला करते हैं। वस्तुत: उन प्रतीकों में सत्य की शक्ति और मंगल की पुरस्कृति नहीं है। वे उस फूटे ढोल की भाँति हैं जिस पर अर्थ की राल का विलेपन थोपा गया है किन्तु वास्तविक ध्वनि नहीं है। ऐसा साहित्य कोरा दम्भ है। उसमें साहित्य की गन्ध तक नहीं है।

दूसरी प्रवृत्ति के प्रतिनिधि वे साहित्यकार हैं जिनके प्रयोग दम्भ नहीं हैं। उनमें नूतन विधान की बड़ी लगन है। वे अपनी कृतियों के लिये समाज के नये ढाँचे से उपकरण संकलित करके उनके नये प्रयोग करते हैं जिनमें अर्थ की शक्ति व भावना की तरलता है। ऐसे साहित्य में कला के नूतन परिवेश में सत्य और शिव की अनूठी प्रतिष्ठा है। ऐसे प्रयोग होते ही रहते हैं। कबीर का साहित्य भी साहित्यिक वातावरण की दृष्टि से कुछ नये प्रयोग लेकर प्रादुर्भूत हुआ था, किन्तु उसका मूल्य था। हालाँकि तत्कालीन लोगों को वह अटपटा लगता था, किन्तु उसके भी समर्थक थे। वह साहित्य आज भी समादृत है। प्रयोग की दशा में भी ऐसे साहित्य का अपना मूल्य है क्योंकि उसके रचयिता पर शैली का भूत सवार नहीं है, समाज का नवल विधान ही उसका लक्ष्य है जिसके लिये नयी शैली को भी वह एक साधन मानता है। वह न तो इतिहास का लोभी है और न आदर्श का अन्वेषी ही। वह आदर और अनादर के स्वर वर्तमान का आपरेशन करके हमारी दृष्टि के सामने रख देता है और घाव भरने के लिये समय को प्रेरित करता है।

इस प्रवृत्ति वाले साहित्यकार जिस प्रकार नये उपमानों के धनी हैं उसी प्रकार नयी चेतना के भी। उनको पुरानी व्यवस्था में कोई रस नहीं मिलता। उनको वह पलित-गलित प्रतीत होती है। वर्तमान के नये चरणों से उन्हें नयी

ध्वनि सुनायी पड़ रही है और नये वातावरण में वे नयी श्वासें लेने लग गये है। इसलिये 'पुरातन' में उनका दम घुटता है।

आलोचकों को भय है कि नया साहित्यकार कहीं रोमांटिक युग का पुनरावर्तन न करदे किन्तु हमें उससे ऐसी आशंका के लिये गुंजाइश नहीं है। प्रतीकों की अर्थ-छाया अथवा अवगुण्ठित प्रेम की माया से ही रोमांस के युग का प्रवर्तन नहीं हो सकता है। लक्षण और लक्ष्य में, अभिप्राय और अभिप्रेत में कोई सम्बन्ध अवश्य होता है और आधुनिक साहित्यकार के विषय में वही सम्बन्ध हमें उक्त आशंका से मुक्त कर देता है।

नये साहित्य में (हमारा तात्पर्य दूसरी प्रवृत्ति वाले साहित्य से है) जीवन का स्वर है, 'सत्य' और 'शिव' के रूप की 'सुन्दर' प्रतिष्ठा है और भुक्ति, मुक्ति और युक्ति की नूतन पद्धतियाँ हैं। नया साहित्य जीवन की—नये वातावरण की नयी अनुकृति है। उसमें नया रूप, नया रंग और नयी सुषमा स्वाभाविक है। यदि नये साहित्य की गति दृढ़ रही तो नयी उपलब्धियाँ पुराने आलोचक को दंग कर देंगी।

साहित्य समीक्षा

१

कबीरकालीन साहित्यिक वातावरण

कबीर के प्रादुर्भाव-काल में भारतीय जीवन में वह स्पन्दन नहीं था जो साहित्य की प्रेरणा बनता है। क्रूरता और उत्पीडन के बीच आकर्षण और आशा में विकलता का प्राचुर्य था। जहाँ भय और अशान्ति का साम्राज्य हो, जहाँ दरिद्रता और निराशा से लोग हतप्रभ हों, जहाँ राजनीतिक कुचालों से हृदय विषाक्त हो रहा हो और जहाँ जीवन बिलकुल अनिश्चित हो, वहाँ साहित्य कैसे पनप सकता है? ऐसे युग में वीर-वन्दना से भी अधिक वैराग्य को अवसर मिला। वह एक विशेष प्रकार के साहित्य का युग था जिसमें सन्त-वाणियों की परम्परा बन रही थी। कबीर के पहले ही सिद्धों और नाथों की वाणियों में सन्त-साहित्य का बीजपात हो चुका था। नामदेव, त्रिलोचन, सधना आदि ने इस परम्परा को और आगे बढ़ाया। इन वाणियों में ब्रह्म, माया और जीव से भी अधिक जगत् और शरीर की अस्थिरता के वर्णनों और उपदेशों की भरमार थी। बंगाल में गीतगोविन्दकार जयदेव ने अपनी मौलिक उद्भावना से एक नयी शैली को जन्म देकर ब्रह्मनिरूपण की धारा को मानो एक नयी दिशा प्रदान की थी, किन्तु उस समय उसकी गणना सन्त-साहित्य के साथ की जाती थी। कबीर की वाणियों में इन दोनों धाराओं का मिलन स्पष्ट है। कुछ लोग कबीर को सन्तमत का प्रवर्तक मानने की भूल कर सकते हैं, किन्तु उनको सन्तमाला की एक उज्ज्वल मणि ही कहना समीचीन होगा। उन्होंने साहित्य को जो कुछ दिया वह प्रायः सामाजिक कल्याण के लिए ही था।

उस समय साहित्य में काव्य के शास्त्रीय विधि-विधानों का उपयोग कम अथवा नाममात्र के लिए ही होता था। प्रबन्ध काव्य तो बहुत ही कम रचे जाते थे। मुक्तक-क्षेत्र में भी आबद्ध परम्परा के पुजारी ही कुछ करते दिखायी देते थे। जिस प्रकार जैनों और चारणों के स्वर में कोई प्रगति नहीं दीख पड़ती

थी इसी प्रकार सन्त-वाणियों में भी गतानुगतिकता ही प्रमुख थी। उनका प्रचलन मुक्तक रूप में ही था। उनके विषय में प्रबन्ध की योग्यता नहीं थी। दोहा, चौपाई, सबद, रमैनी, गीत, बानी आदि का प्रयोग रूढ़ हो गया था। इन्ही को प्रमुख सन्तों के शिष्य-प्रशिष्य जहाँ तहाँ गा-गाकर लोगों को मुक्ति का साधन बताते फिरते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह तानपूरे का साहित्य था।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वीर-वन्दना का प्रचलन अब भी था। सामन्ती दरबारों में शास्त्रीय दृष्टि से कविता करने वाले कवियों का अभाव नहीं था और वहाँ उनको पर्याप्त सम्मान भी प्राप्त होता था, किन्तु उनकी रचनाओं में कला-प्रदर्शन की भावना प्रमुख थी। जिस प्रकार इस समय संस्कृत मे काव्य-शास्त्र और नायक-नायिका-भेद की रचनाएँ बढ़ रही थीं, उसी प्रकार दरबारी कवि भी हिन्दी-काव्य-शास्त्र को अपनी कृतियों से सम्पन्न बना रहे थे। वे यश और अर्थ के लोभ से कला-कौशल के नवीनतम रूप पर ही दृष्टि रखते थे। अभिप्राय यह है कि कबीर का पूर्ववर्ती साहित्य प्रयोजन-साध्य था और सन्त-साहित्य भी मत-प्रचार के लिए निर्मित हो रहा था, दरबारी कवि अपने सामन्तों की विरुदावली में अपनी कला का चमत्कार दिखाने में ही अपने को कृतकृत्य मानते थे।

देश के अनेक भागों में, प्रमुखतया पश्चिमी भाग में, जो जैन साधु साहित्य-सर्जना में तत्पर थे उनकी रचनाओ को मूल प्रेरणा धार्मिक प्रचार और-कला-कौशल के प्रदर्शन से मिल रही थी; इसलिए वे प्राचीन कृतियों के नवीनीकरण से ही प्रायः तोष लाभ करते थे। तत्कालीन अधिकांश रचनाएँ समाज को विभक्त होने में प्रवृत्त कराती थीं। कवियों की ओर से उसको एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किसी दिशा से नहीं हो रहा था और उनकी रचनाओं में ऐसी क्षमता का नितांत अभाव था।

यदि यह कहा जाये कि उस समय साहित्य में गतिरोध उपस्थित हो गया था, तो कुछ अनुचित न होगा। यह कहना तो ठीक नहीं कि लोक में अनुभूतियों का अकाल था, किन्तु यह कहना अनुचित भी नहीं कि उनको अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं हो रही थी। जहाँ अभिव्यक्ति थी वहाँ अनुभूतियों में शिथिलता थी। घिसे-पिटे अलंकारों के लोक में नयी कल्पनाओं को कोई अवसर नहीं मिल रहा था। नाथों और तान्त्रिकों ने उलटे अर्थो को अवसर देकर संध्या भाषा का प्रचलन कर रखा था। इसमें वाच्यार्थ बाधित होने से किसी संकेतित अर्थ को ग्रहण करना पड़ता था। यह भाषा सीमित क्षेत्रों में ही प्रचलित थी। साधारण क्षेत्रों में इसका अनर्थ हो सकता था।

इस भाषा ने साहित्य को और कुछ दिया हो या न दिया हो, प्रतीकों को तो बड़ी प्रेरणा दी जिससे उलटबाँसियों का भी प्रचलन हुआ। शब्दावली में विविधता आगयी। यद्यपि योग, तंत्र आदि की उक्तियाँ विदेशी शब्दो से प्रायः मुक्त थीं, किन्तु सन्त-वाणियों में फारसी-अरबी के शब्द प्रचुरता से आ मिले थे। इनके प्रचलन के लिए प्रायः सूफियों का सम्पर्क ही उत्तरदायी था। राजनीतिक परिस्थितियों ने भी इन शब्दों के प्रचलन को सहयोग दिया था। सम्मिलित समाज के ढाँचे में इनका प्रयोग स्वाभाविक भी था।

अपभ्रंश भाषाएँ अपना दायित्व अपनी बोलियों को सौंप रही थी। शौर-सेनी या उसकी शाखाओं की भाँति अभी किसी बोली को प्रामुख्य नहीं मिला था, इससे कोई बोली अभी तक स्थिर नहीं हो पायी थी। जैन और चारण साहित्यकार अब भी अपभ्रंश का ही पल्ला पकड़े हुए थे। इने-गिने साहित्यकार ही बोलियों को अपनाने लगे थे। विद्यापति ठाकुर जैसे साहित्य-कार भी अपनी अभिव्यक्ति को संस्कृत और अपभ्रंश से पुष्ट करते थे। हाँ, सन्तों ने अपनी वाणियों में एक नयी परम्परा को जन्म दिया था जिसमें अनेक प्रमुख बोलियों के शब्दों का सम्मिश्रण होता था। उनकी भाषा को आज के आलोचकों ने 'सधुक्कड़ी भाषा' कहा है। 'सधुक्कड़ी' शब्द से सन्तों की भाषा साधारण भाषा से भिन्न हो जाती है। मिले-जुले शब्दों के प्रयोग से कोई नयी सधुक्कड़ी-भाषा बनी, यह तो एक विवाद का विषय है, किन्तु सन्त-वाणियों ने भाषा की एक नयी दिशा की ओर संकेत अवश्य किया। उन्होंने एक ऐसी भाषा की आवश्यकता व्यक्त की जिसमे अनेक भाषाओं का प्रतिनिधित्व हो। स्थान-स्थान पर घूमने से संतों का शब्द-कोष अनायास ही बढ़ जाता था। उनके अर्थ और प्रयोग से सुपरिचित हो जाने के कारण वे शब्द मानो उन्हीं के हो जाते थे। अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए उनका प्रयोग करते समय उनकी प्रकृति और उसकी विशेषता उनके ध्यान में अवश्य रहती होगी।

२

युग-प्रतिनिधि कबीर

कबीर का युग रूढ़ियों का युग था। उस समय का समाज अन्ध-विश्वासों के दलदल में फँसा हुआ था। सामाजिक बन्धनों ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया था और व्यक्ति सामाजिक सड़ाँद से निकलने का साहस नहीं कर पाता था। उसका कारण कुछ तो सामाजिक दुराग्रह ही था और कुछ राजनीति के दाँव-पेच थे। तथाकथित धर्म की नीरस तूती अपने ढंग से बज रही थी। वर्गवाद और जातिवाद का बोलबाला था। सत्य घुट रहा था। हिंसा उद्दाम थी। भक्ति का चेतन माधुर्य प्रस्तर मूर्तियों में जड़ बन गया था। राम और कृष्ण का मौलिक आदर्श विकृतियों के आवर्तों से दलित-गलित होकर अपने रूप को खो चुका था। भाव और बुद्धि के विकारों से मतवादों की उन्नति हो रही थी। कदाचित् युग की यह मूक पुकार थी—'मुझे अन्धकार से प्रकाश में ले चल।' कबीर अपने युग को प्रकाश के रूप में प्राप्त हुए।

कबीर के उदय के साथ ही सत्य मानो अपनी खोई हुई सत्ता को पाने लगा था। कबीर का सत्य केवल आदर्श की ही वस्तु नहीं था, वह तो व्यवहार के निकष पर भी पूरा उतरने वाला था। वे कथनी के सत्य को सत्य नहीं मानते थे, उनका सत्य करनी और कथनी की समन्विति था। जिस सत्य को कबीर धर्म मानते थे, वह सब धर्मों में है, परन्तु उसको सबने मिथ्या विश्वास और पाखंड से परिच्छन्न कर दिया है। इस बाहरी आडम्बर को दूर कर देने से धर्म-भेद के समस्त बखेड़े दूर हो जाते हैं। धर्म-भेद के अभाव में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रश्न स्वत: ही हल हो जाता है। बेडौल सत्य से कबीर को घृणा है, क्योंकि वह सत्य नहीं है। इसीलिये वे कहते हैं—

> यहु सब झूठी बंदिगी, बरियाँ पंच निवाज।
> साँचै मारै झूठ पढ़ि, काजी और अकाज।।

कहने और करने की असंगति पर फ़ब्तियाँ कसते हुए कबीर कहते है—

कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ।
चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यूँ साँचा होइ।।

समाज की अनेक कुरीतियों को देखकर कबीर का सुधारक मचल उठा था। उनकी वाणी सुधार के लिए फूट पड़ी। वे जाति-पाँति, छूआछूत, खान-पान आदि के व्यावहारिक आडम्बरों की धूल उड़ाते हुए अनेक स्थानों पर बरस पड़े। हिन्दुओं के चौके पर उनका व्यंग्य देखिये—

एकै पवन एक ही पांणी, करी रसोई न्यारी जानीं।
माटी सूँ माटी ले पोती, लागी कहौ कहाँ धू छोती।।
धरती लीपि पवित्तर कीन्हीं, छोति उपाय लोक बिच दीन्ही।
याका हमसूँ कहौ बिचारा, क्यूँ भव तिरिहौ इहि आचारा।।

छूआछूत के सम्बन्ध में भी कबीर बड़े कटु आलोचक दीख पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने किसी बुराई को अछूती नहीं छोड़ा है। छूआछूत की व्यर्थता पर पाँडे को फटकारते हुए कबीर को सुनिये—

काहे को कीजै पाँडे छोति बिचारा।
छोतिहिं ते उपना संसारा।
जनमत छोति मरत ही छोति।
कहै कबीर हरि की निर्मल ज्योति।।

जातिवाद के शिकंजे में जकड़े हुए देश के सम्बन्ध में कबीर को बड़े-बड़े कटु अनुभव हो चुके थे। शूद्रों की दुर्दशा पर स्वयं कठोरता भी रो पड़ती थी, फिर कबीर के आँसू क्यों न बहते? किन्तु कबीर सुधारक थे, अतएव उनकी भाषा में गिड़गिड़ाहट नहीं थी; उसमें रामबाण की प्रखरता और अमोघता थी। औरों से ऊँचा बनने वाले ब्राह्मण को फटकार कर वे बोले—

जौ तू बांभन बंभनी जाया। तौं आन बाट ह्वै क्यों नहिं आया।।

उच्चता और नीचता का सम्बन्ध कबीर ने व्यवसाय से नहीं जोड़ा है, क्योंकि कोई व्यवसाय नीच नहीं है। अपने को जुलाहा कहने में भी उन्होंने कहीं संकोच नहीं किया। उन्होंने जुलाहे के व्यवसाय को उदर-पूर्ति का साधन ही बताया। वे उन ज्ञानियों में से नहीं थे जो हाथ-पाँव समेट कर पेट भरने के लिए समाज के ऊपर भार बनकर रहते हैं। वे परिश्रम का महत्त्व जानते थे और अपनी आजीविका के लिए अपने ही हाथों का आश्रय लेते थे।

कबीर अपने युग की हिंसा से भी तिलमिला उठे थे। हिंसा के सभी पहलुओं से कबीर का परिचय था। वे धोखे को भी हिंसा का ही अंग मानते थे अतएव युग-हिंसा के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द करके उन्होंने वर्गसंघर्षजन्य हिंसा के गढ़ पर आक्रमण किया।

कहा जाता है कि कबीर की उक्तियाँ कटु है किन्तु विचार करने पर उनमें बड़ी सरलता है । भक्ति-भाव से निर्मल किये हुए मन में जितनी सरलता थी उसमें बाल-सरलता के सम्पूर्ण गुण प्रस्तुत थे । वे फिर से बालकपन पाकर युग के छद्मालय को विध्वस्त करना चाहते थे । इसी से उन्होंने कहा है—

जौ तन माहैं मन धरे, मन धरि निर्मल होइ ।
साहिब सों मनमुख रहै, तौ फिरि बालक होइ ।।

धार्मिक रूढियों का उन्मूलन करने के लिए भी कबीर ने अपनी वाणी का प्रयोग किया । जहाँ धर्म विकृत हो गया था, उसकी प्रकृति नष्ट हो गयी थी, वहाँ कबीर ने क्षुब्ध होकर आक्रमण किया और जहाँ लोग दूसरी ओर भटके जा रहे थे वहाँ उन्होंने प्रलोभन दिया । वह प्रलोभन ज्ञान का था । कबीर का ज्ञान-पथ भक्ति-परिष्कृत और कर्म की सरल रेखाओं से अंकित था । कबीर के ज्ञान में सत्य का आलोक, भक्ति में अहिंसात्मक प्रेम-माधुर्य और कर्म में सहज आस्वाद्यता थी । उनकी भक्ति-भावना में आत्म-दर्शन का निखार एक अपने ढंग की ऊँचाई और युग के भ्रम को सचाई की चुनौती है ।

कबीर के युग में ब्रह्मवाद औपनिषदिक गौरव को छोड़कर मायावाद के चक्कर में पड गया था । उसके सपक्षी-विपक्षी अनेक मत लोक प्रतारणा की प्रेरणा से आकुल थे, किन्तु कबीर ने ब्रह्मवाद को मतवाद के चक्कर से छुड़ा कर सत्यवाद के पथ पर लगाया, और अपने राम को दाशरथि राम से भिन्न दिखाकर आत्मा-परमात्मा की रेखाओं से निर्मित कर दिया—

ना जसरथ घरि औतरि आवा ।
ना जसवै लै गोद खिलावा ।।

भक्ति की व्यावहारिकता उस समय की सबसे बड़ी समस्या थी जिसने कबीर की शक्ति को झकझोर डाला था । कबीर के युग ने पाषाण-पूजा में ही भक्ति की व्यावहारिकता का आरोप कर लिया था । इससे कबीर को घृणा थी । पाषाण-पूजकों को उन्होंने फटकारा—

दुनियाँ ऐसी बावरी पत्थर पूजन जाय ।
घर की चकिया कोई न पूजै जेहि का पिस्सा खाय ।

भक्ति-भाव की इस बिडंबना का परिवारण करके उसके महत्व की स्थापना ही कबीर का लक्ष्य था । कबीर अपने युग की वाणी को सुनी-अनसुनी नहीं कर सकते थे। उन्होंने भक्ति-पथ का परिष्कार करने का निश्चय करके निर्गुण भक्ति का पथ प्रथित किया जिसमें ईश्वर-रति थी, उत्साह था और लगन थी, किन्तु द्वैत की मान्यता नहीं थी । भक्ति को अद्वैत के घाट उतार कर कबीर ने एक समय की समस्या का हल ढूँढ़ा था, किन्तु समस्या कुछ और भी जटिल होगयी ।

यद्यपि कबीर अवतारवाद और मूर्ति-पूजा के विरोधी थे, किन्तु पुनर्जन्मवाद में उनकी पूरी आस्था थी। 'उबरहुगे किस बोले' कहकर कबीर ने अपने इसी विश्वास को प्रकट किया है। 'जन्म अनेक गया अरु आया' कहकर कबीर ने पुनर्जन्मवाद की ही प्रतिष्ठा की है। 'देखो कर्म कबीर का कछु पुरब जनम का लेखा' कहकर कबीर ने पुनर्जन्म को कर्म का वश्य बना दिया है।

बार-बार कबीर आचरण की शिक्षा देते हैं। स्पष्ट है कि वे समाज में भ्रष्टाचार देखकर खीझते थे। जहाँ वे साधारण व्यक्ति को आचरण का उपदेश करते थे वहाँ साधु वेष वालों को अधिक फटकारते थे, क्योंकि सामान्य व्यक्ति केवल आचरण दोष से ग्रसित था किन्तु साधु-वेषधारी भ्रष्टाचारी छद्म के लिए भी अपराधी थे। एक व्यंग्य में उनकी प्रखरता देखिये—

कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि।
मन न फिरावै आपणा, कहा फिरावै मोहि॥

हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए कबीर का दर्शन व्यावहारिक दर्शन कहा जा सकता है। एकेश्वरवाद और अवतारवाद में मौलिक विरोध है, किन्तु एकेश्वर-वाद को अद्वैतवाद के साथ रखकर देखने से विरोध की तीव्रता क्षीण होगयी है। कदाचित् इस दृष्टि से कबीर का निर्गुणवाद एक सफल मतवाद है जिसमें समस्या का हल दृष्टिगोचर होता है।

कबीर को धार्मिक ईमानदारी और सचाई से कोई विरोध नहीं है। उनको विरोध तो धर्म के ढकोसलों से और अन्धविश्वासों से है। पुजारी जी के लम्बे केश और मुल्ला जी की लम्बी डाढ़ी में उन्हें कोई धर्म-तत्त्व या सत्य-सार नहीं दिखायी पड़ रहा है। दंभ और पाखंड के सिवा इनका और कोई महत्त्व नहीं है। इसीलिए वे खीझकर कह जाते हैं—

मुल्लाजी की लम्बी डाढी, पुजारीजी के लम्बे केश।
एक ही अर्थ हुआ दोनों का, है ठगने का वेष॥

कबीर सरल और स्पष्टवादी थे। इस सत्य की अभिव्यक्ति उनकी कविता की सरलता और स्पष्टता से होती है। उनकी भाषा में जनवाणी का प्रयोग है, सरलता की सीमा है। स्पष्टता होने से उसमें तीखापन अधिक है। इसी से आलोचक उनकी वाणी पर कटूक्तियों का आरोप लगाते हैं। इससे कबीर की प्रतिभा का विगलन नहीं होता।

कवि अपनी आँखों से देखता है, किन्तु देखता है वह समाज की आँखों से भी। और तभी समाज उसके साथ रहता है, तभी समाज की उसके प्रति सहानुभूति होती है। समाज उसके गुणों का गान करता हुआ उसका अनुकारी होता है। यदि कवि की ये दोनों आँखें (अपनी और समाज की) बन्द हैं तो

समझिये कवि ने देखा नहीं, उसे कवि कहलाने का अधिकार नहीं। ऐसी अवस्था में उसे बल मिल सकता है तो कला से। स्मरण रखने की बात है कि कला अनुभूति और कल्पना के बिना प्राणहीन शरीर के सदृश् है। कला यदि कविता के रूप में आ सकती है तो अनुभूति का संग पाकर ही। कबीर के पास दृष्टि है, पहले अपनी और फिर समाज की, किन्तु कबीर समाज की सामान्य दृष्टि से देखते हुए भी अपनी सी ऊँचाई से देखते हैं। वे अपने अनुभव को अपनी अटपटी बोलियों से, अपने पुष्टतम व्यक्तीकरण से सर्वसाधारण के पास पहुँचाते हैं। यदि कबीर के पाठकों के पास कबीर का अनुभव नहीं है तो कबीर का क्या दोष ? और न कबीर की कविता का ही दोष है।

कबीर की अनुभूति कल्पनाओं से पुष्ट और भावनाओं से सरसित है। रसीली पुष्ट अनुभूतियाँ लेकर वे सर्वसाधारण की भाषा में व्यक्त करते हैं और रामबाण की तरह प्रभावित करते हैं। उनकी भाषा में प्रतीकों का बल है जिनका प्रचलन योगियों की भाषा में ही नहीं, साहित्य में भी हो चला था। विद्यापति ने भागवत और गीतगोविन्द से कुछ सीखकर प्रतीकों का प्रचलन कर ही दिया था। सिद्ध और नाथ प्रतीकों की दिशा में एक बहुत बड़ा क़दम उठा चुके थे। उसी दिशा में कबीर का प्रतीक-प्रवाह भी दीख पड़ा। नाथों के स्वर में स्वर मिलाती हुई कबीर की उलटबासियाँ भी युग की गूँज से गूँज उठीं। उनमें कबीर का व्यक्तित्व भी उभर आया।

छन्दों के क्षेत्र में भी कबीर का योगदान एक ऐतिहासिक मूल्य रखता है। दोहा, चौपाई और पदों का प्रचलन तो पहले ही हो चुका था किन्तु पदों में जो स्वर कबीर ने भरा, उनमें से जो उच्छ्वासें निकलीं वे परवर्ती भक्ति-पदों की प्राण-वाहिनी बनकर बहीं। सगुण और निर्गुण, दोनों परम्पराओं में कबीर की पद-पद्धति का अनुसरण किया गया।

इस प्रकार कबीर धर्म, दर्शन, भक्ति, प्रचार, उपदेश, अभिव्यक्ति और शैली में युग की पुकार लेकर साहित्य में अवतीर्ण हुए। उन्होंने वह पथ प्रकट किया जिसे पीछे सूर, घनानन्द, प्रसाद, निराला और पंत आदि ने भी अपनाया। कबीर युग के प्रतिनिधि ही नहीं युग-प्रवर्तक भी थे और इन सब क्षेत्रों में उन्होंने अपने ढंग की क्रान्ति करके समाज और साहित्य को सजग किया।

3

क्या कबीर कवि थे ?

इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वान् इन्हें कवि मानने को तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में कबीर अध्यात्मवादी हैं, प्रयोग-प्रेमी हैं, और धर्मोपदेष्टा हैं। उन्होंने कुछ सुना, कुछ सीखा और बहुत कुछ अनुभव हुआ और उसी को व्यक्त कर दिया। वे हिन्दी के कवि नहीं हैं, उन्हें बलात् आग्रहपूर्वक कवि श्रेणी में खींच लिया गया है। श्री रामकृष्ण शुक्ल तो उन्हें कवि कहने में बहुत ही हिचकते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि कबीर अध्यात्मवादी हैं, किन्तु वे समाजवादी भी हैं। वे कविता के लिए कविता नहीं करते, बल्कि समाज को कविता के द्वारा अधोगति से निकाल कर अध्यात्म की ऊँचाई पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। इस आदर्श की पूर्ति में यदि उन्हें डाट-फटकार, भर्त्सना आदि से भी काम लेना पड़ता है तो वे संकोच नहीं करते। वे समाज को सबसे पहले अपने सामने लाते हैं और कविता को पीछे। कबीर की अनुभूति बड़ी व्यापक थी। वह जीवन और जगत् की होते हुए भी अलौकिक और अलौकिक होते हुए भी जीवन और जगत् की थी। जैसा उन्होंने लिखा है, वैसा शायद तुलसी भी नहीं लिख पाते यदि वे कबीर की परिस्थितियों में होते। कविता भावों का वह स्रोत है जो समाज द्वारा प्रेरित होकर कवि के अन्तर में उमड़ती है और अपने ढंग से पुनः समाज को प्रेरणा देती है। कविता अपने और समाज के लिए लिखी जाती है। उसका कोई लक्ष्य होता है, उद्देश्य होता है, उसके बिना कविता हो ही नहीं सकती। कविता जीवन का शाब्दिक प्रतिरूपण है। इसीलिए उसमें इतना सौंदर्य, माधुर्य और लालित्य होता है। जो कवि जीवन में सरसता आदि गुण नहीं देख सकते, वे कविता के सरस लक्ष्य की सिद्धि भी नहीं कर पाते। हाँ, जीवन की सरस झाँकी अनेक दृष्टियों से की जाती है, किन्तु उनसे जीवन

का स्वरूप नहीं बदल जाता। जो कविता कविता के लिए ही होती है वह मनुष्य के लिए बंधन बन जाती है। वह मनुष्य की मुक्ति के लिए नहीं होती, उसमे मनुष्य प्रेरणा नही पा सकता। मानव के अन्तःकरण का समाज से सबंध होता है। घर में हो या वन में, वह दूसरों की अपेक्षा रखता है। सूरज, तारे, चाँद, आकाश, वायु, वृक्ष, लता, सुमन आदि उसके जीवन और समाज को निरन्तर सजाते रहते हैं। कवि लोकजीवी होता है; वह लोक से पृथक् नहीं रहता और न रह सकता है। वह स्व-निर्भर रहता हुआ भी लोक के लिए रहता है। यदि वह इस तरह से न रहे तो अपने लिए भी नहीं रह सकता। उसे सामाजिक पारस्परिकता मे बड़ा बल मिलता है, उसकी शक्ति के संचय का स्रोत ही पारस्परिकता है। अतएव कविता की पारस्परिकता से बड़ी घनिष्ठता है।

मनुष्यों की पारस्परिकता का सुचारु निर्वाह ही धर्म है। इसके अनेक नियम है। इन्हीं से समाज का संचालन होता है। समाज में गुणों के साथ दोष भी है, फिर भी मनुष्य समाज में ही रहता है। उससे नाराज़ होता हुआ भी उसे चाहता है। कबीर समाज का परिष्कार चाहते हैं। वे समाज की अनेक बुराइयों से खिन्न एवं अप्रसन्न है। उन्हीं के निवारण के लिए सुधारक का रूप भी धारण करते हैं।

समाज की रक्षा प्रत्येक सामाजिक का कर्तव्य है, उसका सहज प्रवाह प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य है। 'मनुष्य सबके और अपने लिए बना है', ऐसा दृष्टिकोण प्रत्येक सामाजिक का रहता है। प्रत्येक सुधारक भी इस भाव से प्रेरित होता है। कबीर ने केवल आत्म-प्रशंसा या स्वयश के लिए कविता नहीं की। वे आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण की भावना से उत्प्रेरित हुए हैं। उनकी रचना व्यवहार-कौशल एवं 'शिवेतरक्षति' के लिए हुई है। उनका अनुभव इतना विशाल और गूढ़ था कि आत्मोल्लास के साथ-साथ उन्होंने समाजोन्नति भी की। 'साहित्य ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम है।' उसकी अवहेलना असंभव है। सूर, तुलसी, केशव आदि से तुलना करने पर कबीर को चाहे उस कोटि में न रखा जाये, फिर भी कबीर कवि थे। उनकी रचना उच्च कोटि की थी। वह सीधा हृदय को प्रभावित करती है। उनकी भाषा बोल-चाल की भाषा है। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं किया, अपितु अलंकार उनके अनुभव-पुष्ट व्यक्तीकरण में स्वतः ही आ गये हैं। उनकी रचना एक ऐसा बाण है जो लक्ष्य पर पहुँचने के लिए है।

कबीर को कुछ लोग दबी ज़बान से कवि कहते हैं और कुछ तो उन्हें कवि बिलकुल मानते ही नहीं। कदाचित् वे कबीर ग्रन्थावली या अन्य ऐसे ही ग्रंथ में आई हुई कबीर की रचनाओं के ऊपर अपना मत आधारित करते हैं—उन

रचनाओं के ऊपर जिनका न जाने कितनी पीढ़ियों तक मौखिक अस्तित्व रहा, जिनका न जाने कितनी जिह्वाओं पर उलट-फेर हुआ,—जिनकी भाषा बदलने से अर्थ का अनर्थ और सरल का कठिन अर्थ हो गया है। इतनी शताब्दियों के पश्चात् ग्रंथों में आई हुई, इतनी जबानों और कलमों के आघातों से परिवर्तित भाषा को हम मुक्त कंठ से कबीर की भाषा नहीं कह सकते है। यह बहुत सम्भव है कि उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने उनकी भाषा को अक्षुण्ण रखने के निमित्त कुछ उठा न रखा हो, फिर भी यदि और कहीं नहीं तो प्रतिलिपियों की असावधानी में परिवर्तन का निरोध नहीं किया जा सका, यह कबीर-वाणी के प्रस्तुत स्वरूप से स्पष्ट है। हाँ, भाव कबीर के है; किन्तु भाषा के फेर में कहीं-कहीं वे भी फिर गये हैं। कबीर का अध्ययन करने वाला वह विद्यार्थी है जो भाषा के अनेक परिवर्तनों से परिचित है। कबीर का आलोचक वह आलोचक है जो सतर्क, किन्तु सहृदय होकर कबीर को देखता है। जो कबीर की दृष्टि में दृष्टि डालकर देख नहीं सकता, जो अपनी गति से कबीर के पास तक नहीं फटक सकता, जिसका मस्तिष्क कबीर के मस्तिष्क से छत्तीस की स्थिति में है, वह व्यक्ति कबीर के रस का आस्वादन कैसे कर सकता है, वह विद्यार्थी कबीर का अध्ययन कैसे कर सकता है, और वह आलोचक कबीर पर आलोचना कैसे लिख सकता है ?

कबीर कवि थे या नहीं, इसकी परीक्षा करने के लिए हमें समन्तात् निरीक्षण करना चाहिये। सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि कवि की क्या योग्यता होती है ? उसकी क्या तैयारी होती है ? साहित्य के अध्येता के लिए यह प्रश्न कोई कठिन नहीं है। प्राचीनों ने 'कविर्द्रष्टा' कहकर इस प्रश्न का उत्तर दे दिया है। वह देखता है अपनी आँखों से, वह देखता है समाज की आँखों से भी; और तभी समाज उसके साथ रहता है, तभी समाज को उसके प्रति सहानुभूति होती है और तभी समाज उनके गुणों का गान करता हुआ उसका अनुकारी होता है। यदि कवि अपनी इन दोनों आँखों से काम नहीं लेता तो उसका कवि-कर्म सफल नहीं हो सकता। वह कवि कहलाने का अधिकारी नहीं। ऐसी अवस्था में उसे बल मिल सकता है तो कला से। स्मरण रखने की बात है कि कला अनुभूति और कल्पना के बिना प्राणहीन शरीर के सदृश है—उस शव के समान जो चोवा-चन्दन से चर्चित है, जिसका नाना प्रकार से अलंकरण किया गया है। उसे केवल शव कहा जा सकता है, मानव नहीं, सजीव नहीं। कला यदि कविता का रूप धारण करना चाहती है तो वह अनुभूति से विहीन होकर, द्रष्टा की सी दृष्टि से रहित होकर नहीं कर सकती।

कबीर अपनी दोनों आँखों से देखते हैं। समाज की दुर्बलताएँ उनके सामने पहले आती हैं और उनके निवारण के लिए वे अनेक मनस्वियों की वाणी

उपयोग करते हैं। यद्यपि उनके कंठ में स्वर और नाद कुछ परिवर्तित हो जाते हैं किन्तु भाव तो कहीं-कहीं और भी गंभीर हो जाते हैं। वे अपने अनुभव को अपनी अटपटी बोलियों से, अपने पुष्टतम व्यक्तीकरण से सर्वसाधारण के पास पहुंचाते हैं। यदि सर्वसाधारण कबीर का अनुभव नहीं रखते तो यह कबीर का दोष नहीं, कबीर की कविता की क्षमता का दोष नहीं। दोष किधर है ? यह जानने वाले जानते हैं।

कबीर की अनुभूति कल्पनाओं से पुष्ट और भावनाओं से रसित है। रसीली पुष्ट अनुभूतियाँ लेकर यदि वे सर्वसाधारण की भाषा में व्यक्त करते हैं तो कुछ तो इसलिए कि उन्हें सब लोग समझें और कुछ इसलिए कि उनके पास मार्जित शब्दावली नहीं है, किन्तु इसका अर्थ यह कभी नहीं कि उनके पास प्रौढ़ और पुष्ट व्यक्तीकरण नहीं है। साधारण व्यक्ति भी अपने शब्दों से, अपनी साधारण भाषा से, सुनने वालों को इतना प्रभावित कर देते हैं। यही काव्य कला है। इसी को कवित्व शक्ति कहते हैं। कवि को कविता की सामग्री विश्व से मिलती है और उसी से वह अनुभूति निचोड़ कर समाज को देता है। यही कवि-कर्म की विशेषता है। कवि सामान्यतम परिस्थिति से भाव लेकर रस रूप में अर्पित करता है। कबीर जिस सरलता से अपने भाव प्रस्तुत करते हैं उसी में उनकी कला है। जिस सहज का कबीर गुण-गान करते हैं वह उनकी उक्ति और कविता में झलकता है। यही कबीर का मर्म है।

कबीर का विद्यार्थी जब तक कबीर की कला और मर्म को नहीं जानता तब तक वह कबीर की रचनाओं को चाहे जितनी बार पढ़े वह उन्हें हृदयंगम नहीं कर सकता। उनकी ऊबड़-खाबड़ भाषा को देखकर विद्यार्थी को बहक नहीं जाना चाहिये। हमें इतिहास से दूर नहीं जाना चाहिये। कबीर की भाषा को आज की भाषा की कसौटी पर नहीं परख सकते। भूल नहीं जाना चाहिये कि कबीर उस युग के कवि हैं जिसमें भाषा चोला बदल रही थी, छंद बदल रहे थे और अपभ्रंश अपना अधिकार पुरानी हिन्दी को सौंप रही थी। इस-लिए कबीर की भाषा को दूषित ठहराने से पूर्व उनकी परिस्थितियों, समय की माँगों का अध्ययन आवश्यक है। जब लल्लूलाल जी तक की भाषा में आज के आलोचक को 'पंडिताऊपन' की गंध आती है तो कबीर की भाषा में क्या गंध आनी चाहिये, अनुमानगम्य है।

कहना न होगा कि साधारण अनुभूति के साधारण व्यक्तीकरण को कविता नहीं कहा जाता। कविता वह जीवन तत्त्व है जिसमें साधारण अनुभूति को भी असाधारण व्यक्तीकरण का बल मिला होता है, जिसमें भावना और कल्पना के पुट से सरसता का सन्निवेश किया जाता है। कबीर की साधारण अनुभूति में असाधारण भावना और असाधारण अनुभूति में साधारण कल्पना की शक्ति

है। यह तथ्य कबीर की उक्तियों, उनकी रचनाओं की असाधारणता का द्योतक है। जहाँ व्यक्तीकरण अनुभूति का पूरा साथ देता है वहीं सुन्दर कविता का उदय होता है। अतएव वे जिस समय अनुभूति से परिपूर्ण होकर, भावना से सिहरकर भाव-व्यक्तीकरण करते हैं तो 'राम मेरे दूल्हा, मैं राम की बहुरिया। राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।' की सुन्दर शब्द योजना उनके कवित्व को सरसता और कोमलता से सजा देती है। कवि कल्पना की खोज में जितना आयास करता है, उसके काव्य का मर्म उतना ही धुँधला पड़ जाता है। जहाँ कवि की कल्पना ऊँची किन्तु स्पष्ट और सरल होती है अर्थात् उसमें कवि की स्वाभाविक शक्ति ओत-प्रोत रहती है, वहाँ कविता का माधुर्य और लालित्य आस्वादन करने योग्य होता है। परम सिद्ध कवियों की भाँति कबीर अपने काव्य में हमें इसी प्रकार की छटा दिखलाते हैं—जिस छटा में सरस पाठक और मनस्वी चिंतक साथ-साथ डूब जाते है।

"लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन हों गई, मैं भी ह्वै गई लाल॥"

यह साखी उनके इसी प्रकार के कवित्व, इसी प्रकार की माधुरी और इसी प्रकार की छटा में लाकर पाठक को डुबो देती है।

कबीर समय के पीछे चलने वाले लोगों में से नही थे। उन्होंने सिद्धों और नाथों के साम्राज्य का एक अनुशासित नागरिक होकर उन्हीं के दृढ़ दुर्ग पर आक्रमण किया और विजय भी प्राप्त की और एक ऐसी क्रांति को जन्म दिया जो न केवल धर्म के इतिहासों में ही याद रहेगी, वरन् भारतीय राजनीति के इतिहास में भी अमर रहेगी।

कबीर ने सच्चे कवि की भाँति सदैव सत्य का प्रतिपादन किया है—उस सत्य का, उस अनुभूत तथ्य का, जिससे अनेक कवि अनेक बार विप्रकृष्ट हो जाते हैं। कबीर के समान सत्य की अभिव्यक्ति बहुत थोड़े ही कवि कर पाते हैं। उनकी सत्याभिव्यक्ति सीधा प्रभाव करने के कारण कटु-सी प्रतीत होती है। इसलिए कई आलोचकों ने उनकी वाणी पर कटु होने का आक्षेप भी किया है; और इसकी कटुता का कारण उन्होंने कबीर की अशिक्षा में खोजा है। मेरी समझ में यह उनका भ्रम है। कबीर पूर्ण शिक्षित थे, यदि शिक्षा का अर्थ केवल साक्षरता नहीं है। कबीर जो कुछ दीख पड़ते हैं, उसका कारण उनका सत्याग्रह था—वह सत्याग्रह जिसके भारतीय इतिहास में अनेक पहलू दीख पड़ते हैं। बौद्ध और जैन सत्याग्रह अपने ढंग के सत्याग्रह थे। हरिश्चन्द्र का सत्याग्रह अपने प्रकार का था। राम और भरत का सत्याग्रह अपने ढंग का अनूठा था। महर्षि दयानन्द ने एक अपूर्व सत्याग्रह की नींव डाली, किन्तु महात्मा गांधी का सत्याग्रह, जिसकी आभा दिग्दाहों और दुर्दिनों में भी अविरल

रूप से विकसित रही, आधुनिक परिस्थितियों में समन्वित रूप से अनूठा सिद्ध हुआ। कबीर का सत्याग्रह भी अद्भुत ही था। उसका रूप आलोचकों को जैसा दीख रहा है वह या तो उनको स्पष्ट नही है और यदि है तो उसके अतिरिक्त, उन परिस्थितियों में, कोई दूसरा रूप हो ही नहीं सकता था। वह रूप समय की माँग और परिस्थितियों का दिया हुआ था। कबीर की कविता सत्य के अनेक पहलुओं में से पूर्ण सत्य की ओर ले जाने का उपक्रम करती है। यदि हम उसके किसी एक पहलू को देखकर ही अपना मत स्थिर करने लगते है तो यह कबीर की कविता का दोष नही, दोष हमारी संकीर्ण बुद्धि का है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर की कल्पनाएँ स्वतः पूर्ण हैं। जहाँ उनके छंद अनेक स्थानों पर खड छंद का पद पाने के अधिकारी है वहाँ उनकी कल्पनाएँ उनकी अनुभूति के सुन्दर आरोप हैं। इन्ही में कबीर का प्रतीकवाद अपना अनूठा रूप सँवारता है।

जिस प्रकार सूर ने क्षेत्राभाव की पूर्ति उपमानों से की है, उसी प्रकार कबीर ने काव्य के अभावों का निवारण प्रतीकों द्वारा किया है। कबीर के प्रतीक इतने अमोल है, जितने किसी अलंकारी के अलंकार शायद ही होते हों। जिस 'लाल' की 'लाली' में अपनी सत्ता डुबोकर कबीर 'लाल' बन जाते हैं, तो पाठक को 'लाल' की विचित्रता पर विस्मित होना पड़ता है। जब कबीर अपनी आध्यात्मिक विरह-वेदना को व्यक्त करने बैठते हैं तब भी 'प्रतीक' 'माधुर्य' का सुन्दर साज सजाकर कबीर की परिचर्या के लिए प्रस्तुत होते है।

कुछ लोगों का यह भी विचार है कि कबीर अपने प्रतीकों के महत्त्व को 'ऊहा' की फूँक से उड़ा देते है, जैसे—

लेखनि करूँ करंक की, लिखि-लिखि राम पठाँउँ।

आलोचकों का यह आरोप सत्य नहीं है। मैं तो यह समझता हूँ कि ऊहा से कबीर के प्रतीक बड़े शक्तिशाली हो गये है—इतने शक्तिशाली कि वे स्वयं बुद्धि के पास आजाते है। साहित्य का इतिहास कबीर के प्रतीक प्रयोग को न केवल परम उपकृत होकर याद रखेगा, वरन् वे पथ-प्रकाश के रूप में आधुनिक प्रतीकवादी के समक्ष सदैव प्रस्तुत रहेंगे। वीर-गाथा काल की रूप और घटना-मयी कविता को लेकर हिन्दी साहित्य ने जिस प्रकार अपना जन्म ग्रहण किया था वह कदाचित् इतने महत्त्व का नही है, जितना उसके अंकम में इन प्रतीकों का प्रादुर्भाव और पोषण है। आधुनिक हिन्दी कविता का रहस्यवाद और छायावाद कबीर के प्रतीकों को बड़ी श्रद्धा से देखता होगा, यह मिथ्यानुमान की बात नहीं है।

ध्यान रहे कि इन प्रतीकों का प्रयोग अनेक योजनाओं से होता है। कहीं गोपनीय को छिपाये रखने के लिए, कहीं सूक्ष्म भावों और अध्यात्म तत्त्वों तक

पहुँचने के लिए और कहीं व्यक्तीकरण को सरल बनाने के लिए प्रतीकों का प्रयोग होता है। कबीर ने अन्तिम दो प्रयोजनों से प्रतीकों का प्रयोग किया है। अपनी योग विषयक उक्तियों में भी कबीर ने प्रतीकों का प्रयोग किया है जिनके पीछे अनेक कायिक तत्वों और प्रक्रियाओं को समझाने का प्रयत्न है। कबीर ने प्रतीक-योजना का आश्रय भाव-व्यक्तीकरण और व्यवहार-व्यक्तीकरण दोनों रूपों में किया है। कबीर की भाषा (जैसी भी है) प्रतीकों से पुष्ट है। बुद्धि और अभ्यास से पुष्ट प्रतीक प्रयोग मानव समाज को मिलता है। यही भाषा के उद्भव और विकास का रहस्य है। मूर्ति-कल्पना और पूजा के मूल में भी यही प्रतीकवाद काम करता है। कबीर ने निर्गुण राम और हरि (गोविन्द आदि) की व्याख्या भी अनेक प्रतीकों के सहारे ही की है।

यों तो भावना पर सधी हुई प्रतीक योजना व्यावहारिक हो सकती है, किन्तु जब प्रतीक किसी परोक्ष-सत्ता अथवा सूक्ष्म निगूढ़ भाव के लिए प्रयुक्त होता है तब उसका प्रयोग गूढ़ एव रहस्यमय होता है। रहस्यवाद और छाया-वाद की सृष्टि प्रतीकों के बल पर ही होती है। व्यावहारिक प्रतीक अलंकारों का काम करते हुए उपमानो के रूप में व्यक्तीकरण को सरल बनाते हैं। कबीर अपने लौकिक प्रतीकों से आध्यात्मिक आचरण की ओर भी संकेत करते हैं, यथा—

> नान्हा काती चित्त दे, महँगै मोल बिकाइ।
> ग्राहक राजा राम है, और न नेड़ा आइ॥

इसी प्रकार—

> खंभा एक गइंद दोइ, क्यूँ करि बँधिसि वारि।
> मानि करै तो पीव नहिं, पीव तो मानि निबारि॥

यों तो भक्ति काव्य में प्रतीक प्रयोगों की धारा बहती रही, किन्तु रीति-काल में घनानन्द ने प्रतीक योजना को एक नया रूप देकर भाव-मूर्तिकरण की नींव डाली जिसका उल्लास-विलास प्रसाद की कविता में देखते ही बनता है। छायावाद के कवियों ने फिर तो प्रतीक-योजना को परम्परा के रूप में ग्रहण किया।

जिस रचना में जीवन की सरसता हो, जिसमें अनुभूतियों की गहरी नींव और कल्पनाओं की ऊँचाई हो, जिसमें सहज अलंकृति और सरल व्यक्तीकरण हो, जहाँ जन-साधारण की भाषा में परोक्ष लक्ष्य हो, उस रचना को यदि कविता न कहा जाये तो, मेरी समझ में नहीं आता, क्या कहा जाये ?

कबीर की वाणी में कवित्व का विलास है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है, किन्तु वह कवित्व उनकी वाणी में सर्वत्र स्फुरित नहीं हुआ है। ऐसे अधिक स्थल नहीं हैं जिनमें कबीर के कवि की झाँकी मिलती है, किन्तु जो हैं वही

उनको कवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। कबीर की वाणी में उनकी साधना और अनुभूति का प्रौढ़ आधार है, उनका चिन्तन भी पुष्ट है, किन्तु अभिव्यंजना सहज एवं सरल होते हुए भी अनेक स्थलों पर सरस नहीं है। इन्हीं स्थलों पर कबीर का सुधारक और उपदेशक आ खड़ा हुआ है। इनमें ओज है, मार्मिकता है, कल्पना का व्यावहारिक योग भी है किन्तु भाव-प्रवणता न होने से कवित्व बाधित हो गया है। जो हो, कबीर कवि हैं और कवि उन स्थलों पर हैं जहाँ उनकी भावुकता उमड़ी है, जहाँ उनका चिन्तक और सुधारक 'प्रेम' में प्रविष्ट हुआ है।

४

कबीर की प्रेम साधना

प्रेम क्या है ?—प्रेम कबीर का सर्वस्व है। वे उसे निराला मानते है। वह भाव-भक्ति से अभिन्न है। प्रेम की सरिता लौकिक होते हुए भी अलौकिक है और अलौकिक होते हुए भी लौकिक है। प्रेम का आश्रय लौकिक भी होता है, किन्तु दिव्य प्रेम के संसर्ग से वह अलौकिक बन जाता है। दिव्य प्रेम वह प्रेम है जो अव्यभिचारी होने से अनाविल एवं पावन है। वह तो 'हजारी कपड़ा' है जिसमें किसी मल का नाम भी नहीं है।

जो सम्बन्ध कामी और काम एवं तृषित और तृषा में होता है वही प्रेमी और प्रेम में होता है। जिसके बिना प्रेमी एक क्षण भी न रह सके वही सच्चा प्रेम है। उसी को अविभक्त एवं एकनिष्ठ प्रेम कहते हैं। कबीर अपने प्रेम को 'नारदी प्रेम' कहते हैं, जिसमें हृदय और प्रेम दोनों समाविष्ट हो जाते हैं।

प्रेम का रंग ऐसा रंग है जिसकी समता कोई दूसरा रंग नहीं कर सकता, जो न कभी फीका पड़ता है और न उस पर कोई दूसरा रंग ही चढ़ सकता है। इससे और सब रंग छूट जाते हैं। यह प्रेम भव-संतरण के लिये अलौकिक तरी है। इसका सार कबीर के मत से 'रा' और 'म' मात्र में सन्निविष्ट है। वे इसी प्रेम-कल्लोलिनी के पावन कूल पर ढलकने के लिए सदैव कटिबद्ध हैं।

ऐसा प्रेम अलौकिक, अकथनीय एवं स्वसंवेद्य है :—

> अकथ कहानी प्रेम की, कछू कही ना जाय।
> गूँगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई ।।

कबीर मनुष्य जन्म की सफलता एवं सार्थकता प्रेम के सम्बन्ध से ही मानते हैं। जिसमें क्षीण होने की तनिक भी प्रवृत्ति हो, ऐसे प्रेम को कबीर प्रेम नहीं

मानते। प्रेम तो दिन दूना रात चौगुना होता है। वह तो दिन-दिन नवल-ज्योतिर्मय होता चला जाता है :—

दास कबीर पल प्रेम न घटई।
दिन दिन प्रीति नई।।

[कबीर ग्रन्थावली, पद ३०४]

प्रेम कोई बाहरी वस्तु नहीं है जो किसी किसान के खेत में मिल सकती हो या किसी बनिये की दुकान पर। इसका मूल्य चाँदी-सोने के सिक्कों से नहीं चुकाया जा सकता। कोई रत्न-राशि इसका मूल्य चुकाने के लिए उपयुक्त नहीं है। ऐसी बात नहीं है कि इसे राजा ही खरीद सकता हो, प्रजा का कोई दीन-जन न खरीद सकता हो। रुचि और प्रवृत्ति से यह किसी के लिए भी सुलभ है। जो उसे खरीदना चाहता है उसे अपना सर देना पड़ता है :—

प्रेम न खेतों नीपजै, प्रेम न हाट बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै सिर दे सो ले जाइ।।

[क. ग्र. ७०—२१]

यह 'सिर' जीव का अहंकार है जो प्रेम के मार्ग में भीषण अन्तराय है। यह अहंकार जीव का स्वभाव है। प्रेम के पथ पर चलने के लिए अहंकार का निवारण प्रेम-साधना की प्रथम सीढ़ी है। प्रेम का निर्वाह सिर देकर भी करना चाहिये। जब तक इससे प्रेम सिद्ध होता है, तब तक प्रेम-पथिक की कोई हानि नहीं है :—

सिर साटै हरि सेविये, छाँणि जीव की बाँणि।
जे सिर दीयाँ हरि मिलै, तब लग हाँणि न जाँणि।।

[क. ग्र. ७०—३१]

अहंकार के मल को दूर करके ही प्रेम की पावनता सिद्ध होती है। अहंता मय प्रेम कोरा दम्भ है जिसे कबीर 'फूस' व कजोड़ा (कूड़ा) का नाम भी देते हैं जो स्वयं तो दहनीय है ही, साथ ही अपने आश्रय का भी विनाश करके छोड़ता है। इसके दूर करने के लिये प्रत्यक्ष रूप से (प्रच्छन्न रूप से नहीं) राम कहना आवश्यक है। स्वार्थ का बलिदान, अहंकार का परित्याग, इच्छाओं का विनाश एवं आशाओं का दमन—ये सब परिष्कृत प्रेम के निषेधात्मक स्वरूप के समवेत अंग हैं। जगत् अपने स्वार्थ में लीन है, किन्तु प्रेमी का स्वार्थ प्रेम है। वह प्रिय-स्वार्थी होता है। वह प्रेम की वेदिका पर कायिक आशाओं तक की बलि दे देता है।

प्रेम करना कायर का काम नहीं है। इसके लिए साहस और वीरता की आवश्यकता है। प्रेम के समरांगण में आशाओं का संहार करना होता है। सब

भुलाकर ही प्रिय का स्मरण होता है। स्वविस्मृति में ही प्रिय-स्मृति का दिव्या-वास है। प्रिय के गहन स्मरण में ही उसकी रूपमाधुरी का विनिवेश है। अपने को भुलाने पर ही प्रिय प्रसन्न होता है, तभी उसका दर्शन मिलता है।

प्रेम का मार्ग जितना सरल दीखता है उतना कठिन भी है। जो सहज मार्ग से चला जाता है, जो प्रेम के सिवा और किसी की चिन्ता नहीं करता, उसके लिए प्रेम-पथ बहुत सरल है किन्तु जो उस पथ पर विचलित हो उठता है, जो उस पथ पर स्थिर नहीं रह सकता, उसके लिये वह असि-धारा के समान कराल है :—

भगति दुहेली राम की, जैसि खांड़े की धार।
जे डोले तो कटि परै, नहि तो उतरै पार॥

[क. ग्र. ७०—२५]

कबीर का प्रेम कोरा भाव नहीं है, वह ज्ञान से विरहित नहीं है। वह चेतन का वाहन है। उसी पर चढ़कर चेतन ज्ञान की कृपाण लेकर काल से समर करता है :—

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यान खड़ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार॥

[क. ग्र. ७०—२७]

प्रेम एक ऐसी द्यूत-क्रीड़ा है जिसकी हार और जीत दोनों प्यारी हैं, दोनों मधुर हैं। जीत हो तब तो कहना ही क्या, और हार हो तो भी कुछ कम सौभाग्य की बात नहीं है। हार भला किससे ? प्रिय से ही न !! यदि प्रेम की बाजी में, परब्रह्म की सेवा में, सिर जाता है तो जाने दो, कबीर को चिन्ता नहीं। इसीलिए वे बड़े साहस से कह उठते हैं :—

जे हार्‌या तो हरि सँवा, जे जीत्या तो डाव !
पार्‌ब्रह्म कूँ सेवताँ, जे सिर जाय तो जाव !!

[क. ग्र. ७०—३०]

प्रेमपंथ—जब तक प्रिय से परिचय नहीं, तब तक प्रेम दंभ है। प्रिय से ही प्रेम का लक्ष्य बनता है और वही पथ निर्वाण का कारण बनता है। प्रेम सम्बन्ध की सार्थकता प्रिय-परिचय से बतलाते हुए कबीर कहते हैं :—

जब लग पीव परचा नहीं, कन्याँ कँवारी जाँणि !!

[क. ग्र. ४७—२४]

प्रेमपदार्पण उतना कठिन नहीं जितना कि प्रियपरिचय :—

हथलेवा हाँसे लिया, मुसकल पड़ी पिछाणि॥

[क. ग्र. ४७—२४]

प्रेमी की स्थिति 'सार-पाँसे' के खिलाड़ी की सी होती है। प्रेम उसका 'पाँसा' है, शरीर उसका 'सार' है। जब तक अनुभवी गुरु इसको सिखाता नहीं है तब तक उसका 'दाव' नहीं बनता। कबीर गुरु को प्रेम के पथ का प्रदर्शक मानते हैं :—

पासा पकड़ा प्रेम का, सारी किया शरीर।
सतगुरु दाँव बताइया, खेलै दास कबीर।।

[क. ग्र. ४—३२]

राम-प्रेमी साधु-संत प्रिय (राम) की खोज को सरल बनाते हैं। सच तो यह है कि कबीर साधु-सन्तों को ही प्रेम का आधार मानते है। जिस प्रिय को अनेक प्रयत्न करने पर भी कबीर नहीं खोज पाते, उसको प्रिय-सरीखे प्रेमी साधु लोग अनायास ही मिला देते हैं :—

कबीर बन बन मैं फिरा, कारणि अपणैं राम।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब काम।।

[क. ग्र. ४९—५]

कबीर प्रेम के क्षेत्र में जितना आदर अपने प्रिय का करते है, उतना ही राम-प्रेमी साधु-संतों का करते हैं। यदि प्रिय कबीर के कल्याण का लक्ष्य है, तो साधु-जन उनको उस लक्ष्य तक पहुँचाने वाले हैं :—

मेरे संगी दोई जणाँ, इक वैष्णों एक राँम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाँम।।

[क. ग्र. ४९—४]

कबीर प्रेम मार्ग के पथिकों की खोज मे हैं। वे ऐसे साथियों की खोज में हैं, जो इनके साथ चलने के इच्छुक हों, जो उनके प्रेम पथ के सहचर बनना चाहते हों। वे पथ जानते हैं कि नहीं, यह कबीर को चिन्ता नहीं, वे तो केवल ऐसे व्यक्ति चाहते हैं जिनमें इस पथ पर चलने की चाह हो। कबीर इस पथ को प्रथित करना चाहते हैं :—

हम घर जाल्या आपणाँ, लिया मुराड़ा हाथि।
अब घर जालों तास का, जो चले हमारे साथि।।

[क. ग्र. ६७—१३]

वे जैसे प्रेमियों की खोज में हैं, उनको वैसे मिल नहीं रहे हैं। काश ! उनको प्रेमी मिल जाये। फिर तो सारा विष अमृत बन जायेगा, दुख आनन्द में बदल जायेगा :—

प्रेमी ढूँढत मैं फिरौं, प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमी को प्रेमी मिलै, तब सब विष अमृत होइ।।

[क. ग्र. ६७—१२]

वे ऐसा प्रेम-वीर नहीं चाहते, जो घायल न हो, क्योंकि वे स्वयं घायल है, अतएव वे अपनी पीड़ा को समझने वाला प्रेमी चाहते है। ऐसे ही प्रेमी प्रेम को दृढ़ करने में सहायता कर सकते है :—

सारा सूरा बहु मिलैं, घायल मिलै न कोई।
घाइल ही घाइल मिलैं, तब राम भगति दृढ़ होई ।।

[क० ग्र० ६७-११]

कामादि का त्याग—प्रिय-मिलन इतना सरल भी नहीं है, जितना सरल दुनिया वाले शायद सोचते हैं। यदि हरि हँसी-खेल में ही मिल जायें तो कोई कष्ट क्यों सहे? प्रिय मिलना उतना ही कठिन है जितना कि काम, क्रोध और तृष्णा का परित्याग कठिन है। इसलिये भ्रम में पड़े हुए लोगों को कबीर चेतावनी देते हुए कहते हैं :—

हाँसी खेलैं हरि मिलै, तो कौन सहे षरसान।
काम क्रोध त्रिष्णा तजै, ताहि मिलै भगवान ।।

[क. ग्र. १०—३०]

राम-रसायन, जिसको कबीर प्रेम रस भी कहते हैं, पीने में बड़ी मधुर है, किन्तु उसका मिलना दुर्लभ है। यह तो एक ऐसी मदिरा है, जिसके लिये 'सिर' का बलिदान करना होता है, 'आपा' मिटाना होता है। यों तो कलाल की भट्टी पर कितने ही पीने वाले आ बैठते हैं, पर समस्या तो यह है कि आसवपान का अवसर सबको नहीं मिलता; यह सौभाग्य तो केवल उन्हीं को मिल पाता है, जो अपना सिर अर्पित कर देते है :—

राम-रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवत दुलभ है, माँगै सीस कलाल ।।
कबीर भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपे सोई पिवै, नहिं तो पिवा न जाइ ।।

[क. ग्र. १६—२, ३]

कबीर किसी भी कीमत पर प्रेम का प्याला पीने को तैयार हैं। उनको न तो कोई भय है, न हिचक। उनको कोई वेष लजा नहीं सकता। वे अपने प्रियतम से मिलने के लिए आतुर हो रहे हैं :—

फाड़ि फुटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराउँ।
जिहि जिहि भेषाँ हरि मिलै, सोइ-सोइ भेष कराउँ ।।

[क. ग्र. ११—४१]

प्रिय-मिलन के पथ में अभिमान भयंकर विघ्न है। भला एक म्यान में

दो तलवारों का रहना और एक खंभे से दो हाथी का बँधना कैसे सम्भव हो सकता है ? इस मन से दो का सम्बन्ध कैसे निभ सकता है ? यह कैसे हो सकता है कि इस मन में अभिमान भी बना रहे और प्रियतम का प्रेम भी ? अभिमान और प्रियतम की संगति नहीं है :—

खंभा एक गइंद दोइ, क्यूँ करि बँधिसि वारि ।
मानि करै तो पीव नहिं, पीव तो मानि निवारि ॥

[क. ग्र. २५—४२]

'अहंकार' और 'ममता' बुरी बला हैं। ये प्रेम और प्रेमी दोनों का नाश करने वाले है। प्रेमी को अगति बनाकर ममता उसका गला घोंट डालती है, अतएव प्रेम के पथिक के लिये कबीर की यह चेतावनी है :—

मैं मैं मेरी जिननि करै, मेरी मूल बिनास ।
मेरी पग का पैखड़ा, मेरी गल की पास ॥

[क. ग्र. २७—६१]

प्रेम के पथिक को वासनाओं का विसर्जन करना होता है। जब तक मन आशाओं का परित्याग नहीं कर देता, जब तक वह वासनाओं से मुक्त नहीं हो पाता, तब तक यह निर्मल और पावन नहीं होता। प्रेम के निर्वाह के लिये मन की निर्मलता परमावश्यक है। प्रेम जैसी पवित्र वस्तु अपावन स्थल पर नहीं रह सकती। मलीन मन (जीव) का पावन परमात्मा से संयोग नहीं हो सकता। इसी भाव की ओर कबीर इस प्रकार संकेत करते हैं :—

धन मैली पिव ऊजला, लागि ना सकौं पाइ ॥

[क. ग्र. १५—३६]

चित्त की चिंता और इन्द्रियों का प्रसार मिटा देने पर सहज ही में प्रिय-मिलन हो जाता है। जब तक मन चारों ओर भागता रहता है, और इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों की ओर लोलुप होकर दौड़ती रहती हैं तब तक सच्चे प्रेम का उदय नहीं हो सकता। इस कारण कबीर उपदेश देते हैं :—

चिंता चित्ति निबारिये, फिर बूझिये न कोइ ।
इन्द्री पसर मिटाइये, सहज मिलेगा सोइ ॥

[क. ग्र. २८—२]

कुलमर्यादा एवं लोकलज्जा—प्रेमी कुलमर्यादा के साथ नहीं चल सकता और न वह लोकलाज के पाश में ही बँधा रह सकता है। कुल और लोक को छोड़कर ही वह अपने पथ पर चल सकता है। ये दोनों प्रेम के अन्तराय हैं। सभी प्रेमियों ने इस बन्धन को तोड़ा है। जिस प्रकार कबीर ने, उसी प्रकार

तुलसीदास और मीराँ ने भी, इस बंधन के तोड़ने की बात कही है। कबीर कुल के पीछे लगे हुए व्यक्ति को फटकार कर कहते हैं :—

दुनिया के धोखै मुवा, चलै जु कुल की काणि।
तब कुल किसका लाजसी, जब ले धर्‌या मसाँणि ॥

[क. ग्र. २५—४६]

वह प्रिय किसी कुल का नहीं है; इसलिये उससे मिलने के लिये कुल-गौरव का विचार नहीं करना चाहिये। कुल छोड़कर ही उस 'परम-प्रिय' से मिलना संभव है। उससे मिलने पर कुल का गौरव ही मिलता है। फिर प्रिय-मिलन के मार्ग में तू कुल का विघ्न क्यों डाल रहा है? ध्यान रहे कि :—

कुल खोयाँ कुल ऊबरै, कुल राख्याँ कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटि लै, सब कुल रह्या समाइ ॥

[क. ग्र. २५—४५]

प्रेम और समता—इस मार्ग में छल कपट नहीं निभ सकता, क्योंकि ये समता के बाधक हैं। इनमें विषमता का उद्‌भव होता है जिससे प्रेम का मार्ग धुँधला ही नहीं, नष्ट होता है। यही कारण है कि कबीर समदर्शिता का उपदेश देते हुए कहते हैं :—

आपा पर सम चीन्हिये, दीसै सरब समान।
इहि पद नरहरि भेटियें, तू छाड़ि कपट अभिमान रे ॥

[क. ग्र. पद ५]

विश्वास—विश्वास से प्रेम दृढ़ होकर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। विश्वास प्रेमभूमि है। विश्वास बिना प्रेम उसी प्रकार नहीं ठहर सकता जिस प्रकार बालू की भींत नहीं ठहरती। विश्वास ही प्रेम और प्रिय की स्थिति का प्रमाण है। जहाँ विश्वास है वहीं प्रिय है :—

जिन गाया विसवास सूँ, तिन राम रह्या भरपूर ॥

[क. ग्र. ५६—२१]

गुणगान—जिस प्रकार प्रेमी प्रिय की ओर आकृष्ट होता है, उसी प्रकार क्या प्रिय प्रेमी पर मुग्ध नहीं होता? अवश्य होता है।

इस लौकिक तथ्य से दिव्य प्रिय के प्रेमियों ने भी उसमें आकर्षणशीलता की कल्पना कर डाली है। आसुरी वृत्तियों का निवारण एवं दैवी संपत्ति के संग्रह से वह प्रिय अपने प्रेमी से प्रसन्न होता है, वह उस पर रीझ जाता है। प्रिय के गुणों का वर्णन अमृत से भी मधुर होता है। इससे दो लाभ हैं। उसके मधुर आश्वासन से तृप्ति होती है और मनोवृत्तियों का शमन होता है। मन प्रिय में लीन होता है :—

कबीर राम रिझाइ लै, मुख अमृत गुण गाइ ।
फूटा नग ज्यूँ जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ ।।
[क. ग्र. ७—३१]

सुरति—प्रेमरस के अविरल पान के लिये कबीर सुरति का सहारा लेते हैं । प्रेम-रस गहरे कुएँ में है, वहाँ से वह निकले कैसे ? मिले कैसे ? उसका उपलाभ ही तो प्रेमियों के समक्ष एक समस्या है । मन के संयोग से 'सुरति', प्रेम-रस के उपलाभ के निमित्त 'ढीकुली' का काम करती है :—

सुरति ढीकुली लेज ल्यौ, मन नित ढोलनहार ।
कँवलकुँवा में प्रेम रस, पीवै बारंबार ।।
[क. ग्र. लै कौ अंग १८—२]

राम-प्रेमियों को कबीर का यह उपदेश है कि वे स्थूल मनोवृत्तियों को ध्यानपूर्वक सूक्ष्म करते चले जायें, मन की यही सूक्ष्मता राजा राम को मुग्ध करती है । परिणाम यह होता है कि रामेतर सब भाव मन के क्षेत्र से निकल जाते हैं । मन के वृत्त की राम ही परिधि और राम ही केन्द्र बन जाता है । इस दशा में मन राममय हो जाता है :—

नाँन्हाँ काती चित्त दे, मँहगे मोलि बिकाइ ।
गाहक राजा राम है, और न नेड़ा आइ ।।
[क. ग्र. २७—५८]

स्वामी और सेवक, प्रिय और प्रेमी का एकमत होना, उनके मन का मिल जाना, और उनकी प्रकृति का एक हो जाना ही प्रेम का मूल रूप है । प्रेमी का चातुर्य प्रिय को मुग्ध नहीं कर सकता । उसके मन की सरलता और एकता ही प्रिय का वशीकरण होती है । कबीर मन को इस प्रकार पछाड़ देने का आदेश देते हैं जिससे 'आपा नष्ट हो जाये' । अहंकार तभी मिट सकता है जब मन की सत्ता न हो । उसी अवस्था में प्रेमी प्रियमय हो सकता है । ऐसा ही प्रेमी अमर प्रेमी है । मन को बाँधने के लिये प्रेम एक रस्सी का काम करता है, और प्रेम में बँधा हुआ मन ही प्रिय के पास पहुँचाया जा सकता है :—

प्रेम की जेवरिया तेरे गलि बाँधूँ ।
तहाँ ले जाँउँ जहाँ मेरो माधौ ।।
[क. ग्र. पद २१३]

प्रेम के निभाने के लिये मन का प्रियमय (राममय) होना अनिवार्य है, क्योंकि प्रियमय न होने की दशा में प्रेम प्रेममय नहीं होता, वह प्रेम कपटमात्र है । प्रेम में वह शक्ति है जो प्रेमी को प्रिय बना देती है :—

भ्रिंगी कीट रहै ल्यौ लाइ, ह्वै लै-लीन भ्रिंग है जाइ ।।

निष्कामता एवं अनन्यता—कबीर सकाम प्रेम और निष्फल प्रेम दोनों का एक ही अर्थ करते हैं। काम से प्रेरित होने पर प्रेम की पवित्रता बाधित होती है, क्योंकि जहाँ काम है, जहाँ इच्छा है, वहीं मन की सत्ता है और मन के रहते हुए प्रेमराज्य की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण नहीं रह सकती। ऐसी दशा में प्रेमी का एक होना, दोनों का मिलना सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्यत्र कहा जा चुका है कि प्रिय की प्रकृति के अनुरूप प्रकृति बनने पर ही प्रेम का निर्वाह हो सकता है। केर-बेर का प्रेम नही निभ सकता। अतएव सकामता को हेय बतलाते हुए कबीर कहते हैं :—

जब लग भगति सकामता, तब लग निर्फल सेव।
कहै कबीर वें क्यूँ मिलैं, निहकामीं निज देव !!

[क. ग्र. १९—१०]

प्रेम में निष्कामता का अभिप्राय अनन्यता से है। निष्काम प्रेमी ही अनन्य प्रेमी होता है। प्रेमी की आँखों में प्रियगुण ही सर्वोत्तम दीख पड़ते है, किन्तु वे उसके मोहनमंत्रमात्र हैं। उनसे वह कुछ समृद्धि की कामना नहीं करता। फलेच्छा की दशा में प्रिय के गुण पीछे रह जाते हैं और फल सामने आ जाता है। इसी कारण कबीर प्रियविहीन स्वर्ग को भी ठुकरा देते हैं :—

दोजग तो हम अंगिया यहु डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिये बाझ पियारे तुझ॥

[क. ग्र. १९—७]

वे आशा और मन को एक साथ जलाकर समाप्त कर देना चाहते हैं जिससे प्रेमराज्य निष्कण्टक बन जाये :—

आशा का ईंधण करूँ, मनसा करूँ विभूति !
जोगी फेरी फिल करौं, यौं बिननाँ वै सूति !!

[क. ग्र. २८—३]

जगत् के सभी लोग स्वार्थ के सगे हैं, स्वार्थ को लेकर सब सबका सम्मान करते है। जहाँ निस्वार्थ आदर-भाव हो, समझना चाहिये कि वहाँ हरि-प्रेम है। सकामता को मिटाने वाला एवं अनन्यता के मूल को दृढ़ करने वाला विश्वास है। जब तक प्रिय में विश्वास मूलबद्ध नहीं होता तब तक सकामता और अनन्यता प्रेमी को घेरे रहती है। विश्वास के दृढ़ होते ही प्रेमराज्य में प्रिय का एकछत्र राज्य होता है। इसी विश्वास की ओर संकेत करते हुए कबीर कहते हैं :—

जो है जाका भावता, जदि तदि मिलिसी जाइ।
जाकों तन मन सौंपिया, सो कबहूँ छाँडि न जाइ॥

[क. ग्र. ६८—३]

इस बिश्वास के दृढ़ होने से समर्पण के भाव का उदय होता है और तब प्रेमी समर्पण की आनंदलहरी में कह उठता है :—

मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कुछ है सब तेरा।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मेरा।।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर का आध्यात्मिक प्रेम वासना के लिए कोई स्थान नहीं रखता। वासना प्रेम को दूषित करती है। उससे प्रेम व्यभिचारी बनता है, स्थिर नहीं हो सकता। प्रेम में कोई लोक-नीति नहीं चल सकती। प्रेम का सार समपर्ण है। अपने आपको देकर ही प्रिय की प्राप्ति होती है। जहाँ आत्मबलिदान नहीं है वहाँ प्रिय भी नहीं है। प्रेम और आत्म-बलिदान की अन्योन्याश्रयता सिद्ध है। अतएव प्रेम में डुबकी लेने पर ही प्रिय हाथ लगता है—

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूँढ़न गई, रही किनारे बैठ।।

इसी प्रेम को विद्वानों ने अनन्य प्रेम कहा है। कबीर अनन्य प्रेम के सच्चे पुजारी हैं।

५

सन्त-काव्य की चिन्तन-पीठिका

सन्त कवियों ने मुक्तक रचना की है, प्रबन्ध नहीं। उनमें किसी कथा और कथानक को खोजना व्यर्थ है, लेकिन उनके आध्यात्मिक विचार ब्रह्म-भावना पर आधारित होने के कारण अत्यन्त आकर्षक हैं। उनके सिद्धान्त उपनिषद् तथा परवर्ती दार्शनिकों से लिये गये हैं, जिनमें शंकर प्रमुख हैं। शंकर के समान ही कबीर तथा उनके अनुयायियों ने आत्मा-परमात्मा की अभिन्नता को माना है। वे एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। वह सर्वव्यापी और सर्वज्ञाता है। ऐसा कोई भी स्थान और समय नहीं जहाँ वह विद्यमान न हो। वह सर्वशक्तिमान है, वह चमत्कार कर सकता है, बिना पाँवों के चल सकता है, बिना हाथों के कार्य कर सकता है, बिना रसना के बोल सकता है, श्रवण बिना सुन सकता है, नेत्र बिना देख सकता है और आनन रहित होने पर भी सर्वरस भोगी है। निर्गुणियों का विचार वही है जो गीता के द्वितीय अध्याय में है। निर्गुणियों का आत्मसिद्धान्त वेदान्त के अनुकूल है। कबीर ने विवर्णवाद का सिद्धान्त अपनाया है। उनका कथन है कि यह दृश्य जगत् वास्तविक नहीं है। उस ज्ञानी के लिए इसकी कोई स्थिति नहीं, जिसे ब्रह्म की स्थिति का ज्ञान हो चुका है। अविद्या के कारण ही यह विश्व वास्तविक दीखता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार रस्सी में सर्प दीख पड़ता है।

रैदास ने परिणामवाद के सिद्धान्त का अनुमोदन किया है। ब्रह्म तथा जगत् के प्रत्यक्षीकरण के लिए उन्होंने वेदान्त के सर्व विख्यात कनक-कुण्डल दृष्टान्त को लिया है। दोनों सिद्धान्त स्पष्टतः भिन्न हैं, लेकिन निर्गुणियों ने उनकी एक ही सिद्धान्त में परिणति दिखायी है। दोनों ही से ज्ञात होता है कि जगत् की ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता नहीं है, तथा ये उपनिषद तथा वेदान्त सूत्रों से पूर्णतः स्वीकृत हैं।

शंकराचार्य से गृहीत माया का सिद्धान्त निर्गुणियों के दर्शन का प्रधान अंग है। इन्होंने जगत् को माया माना है, क्योंकि उसे अनश्वर नही कहा जा सकता। वह समय के प्रवाह में दृश्य-अदृश्य होता रहता है। यह विचार इस सूत्र से मिलता है कि "जितने भी इन्द्रियग्राही विषय हैं सभी नश्वर हैं।"[१] जब हम ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं तो जगत् की प्रकृति का प्रश्न ही नहीं उठता। जो सत्य सभी तर्कों को विजय कर लेता है, वह तथ्य रूप में उपस्थित हो जाता है। ब्रह्म और जगत अभिन्न है, वे बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब के रूप में दृष्टिगत होते हैं। ससीम असीम है। वह कुछ व्यवधानों के कारण अदृश्य रहता है। यह जगत् ब्रह्म है। यदि ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तो जगत् के सभी भ्रम मिट जाते हैं। शंका इसलिए उठती है कि सीमित मन वास्तविक सत्ता के रूप में जगत् की अनुभूति करता है। यदि हम उस सम्पूर्ण को समझ लेते है तो सभी सीमा और बन्धन नष्ट हो जाते है। यह संसार तभी तक माया है जब तक ब्रह्म की तात्त्विक असीम सत्ता का साक्षात्कार नहीं कर लेते। "माया हमारे बंधनों की प्रतीक है और हमारे अज्ञान की ओर इंगित करती है। जादूगर बिना किसी वस्तु के वृक्ष उपस्थित कर देता है। वृक्ष प्रस्तुत रहता है लेकिन हम उसका विवेचन नहीं कर सकते। उसका रहस्य केवल उसके स्रष्टा को ज्ञात रहता है, यही वृक्ष माया है सारा संसार संशय और भ्रम से ग्रसित है।"[२]

माया के दो कार्य हैं : सत को अदृश्य करना तथा असत् को प्रदर्शित करना। यह नामरूपात्मक जगत् सत्य और हमारे बीच का व्यवधान है। माया भ्रमात्मक होने के कारण अविद्या अथवा अज्ञान कहलाती है। वह न सत् है और न असत्। यदि उसका अस्तित्व है तो वह ब्रह्म की सीमा है। यदि उसका अस्तित्व नहीं है तो जगत् के अस्तित्व के कारण का भी निदान नहीं किया जा सकता। संसार को अज्ञानमय और भ्रमात्मक रूप प्रदान करने के लिए उसकी सत्ता पर्याप्त है परन्तु ब्रह्म को भी सीमाबद्ध करने की शक्ति इसमें नहीं है। यह उतनी ही असत्य है जितना बाँझ का पूत और खरगोश के सींग। यहाँ कबीर का शंकराचार्य से मतभेद है जिन्होंने कहा है यह इतनी असत्य नहीं जितना 'आकाश-कुसुम' (S. B. 1. 43.[३])। निर्गुणी अवतारवाद को नहीं मानते, जिसके लिए कबीर ने स्पष्ट रूप से कह दिया है "न उन्होंने (राम ने) राजा दशरथ के राजभवन में अवतार ग्रहण किया, न वे

---

[१] यद् दृश्यं तन्नश्यम्।

[२] क. ग्रं., पृ. ३१२

[३] सं. बा., १०४३

लंकापति से भयभीत हुए, न देवकी के गर्भ से जन्म ग्रहण किया और न यशोदा की गोद में खेले।"

कर्म तथा उसका फल भारतीय दर्शन की आदि समस्या है। इसकी छाया विश्व में प्रतिभासित होती है। गीता के "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" के समान ही अंग्रेजी में एक लोकोक्ति है—"as you sow, so you reap"। मनुष्य के इसी विश्वास ने उसके कर्मों का नियन्त्रण किया है। केवल बुरे ही नहीं, अच्छे कर्मों का फल भी भोगना ही पड़ता है। "कर्म अच्छे हों चाहे बुरे, हमारे लिए बंधन है, शृङ्खला है जो चाहे स्वर्ण की हों अथवा लोहे की बाँधती ही हैं।" कर्मों का फल अनिवार्य अधिकार नहीं, विशेष कृपा है। कर्तव्य करना हमारा धर्म है लेकिन उसके अनुरूप फल की आकांक्षा हमें नहीं करनी चाहिये। यह ईश्वराधीन है; कर्मों का फल मिलना ही चाहिये, लेकिन न्याय राजा राम के हाथ में है जो सर्वशक्तिमान हैं।[1] विना आत्मज्ञान का प्रकाश प्राप्त किए मनुष्य कर्मों के वंधन से छूट नही सकता, कर्म चाहे अच्छे हों या बुरे। इस प्रकार जीव कर्मों के नियन्त्रण में है।[2] इस कर्म सिद्धान्त का सम्बन्ध मूल समस्या मुक्ति से है। कर्मों से मुक्त हुए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। यह जीवन-मरण का चक्र तब तक चलता रहता है, जब तक हमारे कर्म समाप्त नहीं होते।[3] कर्म सिद्धान्त थोड़े परिवर्तित रूप में भाग्यवाद के नाम से अभिहित होता है। यह कहने के स्थान पर कि कर्मों के फल से हम बच नहीं सकते, हम कहते हैं कि भाग्य से हम बच नही सकते।

सभी निर्गुणी पक्के आस्तिक हैं, ईश्वर को राम कहते हैं, लेकिन वे उसे संबंधातीत अवतार से परे मानते हुए किसी अन्य दिव्य सत्ता को स्वीकार नहीं करते। वे ईश्वर को जीव और प्रकृति दोनों में देखते हैं और जीव तथा ब्रह्म में निकट सम्बन्ध मानते है। जीव ब्रह्म से अभिन्न है लेकिन फिर भी उससे वियुक्त है। ब्रह्म के प्रति उनके गहन प्रेम की अभिव्यक्ति उनकी अनेक पंक्तियों में हुई है। उन्होंने असंख्य बार कहा है कि जीव को विश्रान्ति तथा शान्ति जगत की वस्तुओं से मुक्त होकर ही प्राप्त हो सकती है।

निर्गुणियों का प्रेम सूफियों की देन नहीं है जैसा कि कोई विश्वास करने की भूल कर सकता है। नाभाजी द्वारा रामानन्द पर लिखित पंक्तियों से स्पष्ट है कि यह वही प्रेम है जो रामानन्द से उनके बारह शिष्यों ने प्राप्त किया था। उस अवतरण से स्पष्ट है कि वे दशधा भक्ति को मानने वाले थे।

---

[1] क. ग्रं., १५६ . २००
[2] क. ग्रं., २८७ . २६३
[3] क. ग्रं., १८४ . २८३

सामान्यत: भक्ति नवधा मानी जाती है, लेकिन रामानन्द के ऐकान्तिक धर्म में भक्ति के नौ अंगों में प्रेमा भक्ति शिरोमणि मानी गयी है। और इसीलिए वह दशधा भक्ति कहलायी। भक्ति सूत्र का संबन्ध नारद से है। एकान्त धर्म के प्रतिपादक भक्ति को प्रेम का सबसे उत्कृष्ट रूप मानते हैं। यही प्रेमा भक्ति थी जिसे रामानन्द ने अपने शिष्यों को दिया था और जिसमें कबीर तथा अन्य निर्गुणियों ने अवगाहन किया था। कबीर ने स्वयं कहा है "नारद के द्वारा लायी हुई भक्ति में निमज्जित होकर संसार सागर को पार करो।" भक्ति वासनाओं का शमन कर मनुष्य को उस प्रेम की ओर ले जाती है जो सांसारिक इच्छाओं का विरोधी है। भक्ति और ज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं, लेकिन निर्गुणियों में भक्ति और ज्ञान के मधुर समन्वय के साथ अन्य साधनाओं के सार रूप तथ्यों तथा विश्वासों का समन्वय मिलता है। इसके लिए वे रामानन्द के ऋणी हैं। निर्गुणियों के ईश्वर विश्वास में ईश्वर-अनुग्रह ही प्रधान है।

अनुग्रह अथवा प्रसाद का अर्थ है परम सत्ता की अनुकम्पा। धर्म में प्रसाद का अर्थ होता है ईश्वर का भक्त के प्रति अनुग्रह, लेकिन वही सच्चा अनुग्रह है जो ईश्वर की कृपा द्वारा मानसिक शान्ति प्रदान करता है। जीवन की दुखमय चिन्ताओं का मूल चंचल मन तथा उसकी दूषित वृत्तियाँ है। इसी से कर्म-संस्कार बनते हैं जिनके द्वारा जन्म-मरण का चक्र चलता है। यदि मन शुद्ध तथा पवित्र है तथा ईश्वर में रत है तो कर्म-संस्कार नष्ट हो जाते हैं। दुखमय चिंताओं का अन्त हो जाता है। अतएव सच्चा प्रसाद मन की स्थायी पवित्रता और शुद्धि है। मन की शुद्धि तथा एकाग्रता आत्मा-परिष्कार और भक्ति में विशेष सहायक होते है। यही प्रसाद का सच्चा अर्थ है। ईश्वरीय कृपा जिसे प्राप्त हो वही अनुग्रहीत है। ईश्वर के अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए भक्त को सर्वदा ध्यान रखना चाहिये कि वह जो कुछ कर्म करता है, खाता है, देखता है, सुनता है और आनन्द पाता है, वह सब ईश्वर के ही कारण है, इसीलिए उसे अपनी कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिये। जो कुछ वह आनन्द पाता है और कर्म करता है सब उसी का प्रसाद है। कुछ कर्म करने तथा किसी वस्तु के ग्रहण करने से पूर्व उसे ईश्वर को समर्पित कर देना चाहिये। यह सब बात सन्त कवियों के काव्य में सफलतापूर्वक अभिव्यक्त हुई है। यही श्रेष्ठ कर्मयोग है जो गीता द्वारा भी कहा गया है: "अपने विचारों, भावनाओं, पूजा तथा उत्सर्ग को मुझे समर्पित करो; तुम धीरे-धीरे मेरे निकट आते जाओगे, तुम्हें मैं अपना रहस्य बताता हूँ, तुम मेरे प्रिय हो।" जब मन संयमित हो जाता है तो धीरे-धीरे पवित्रता और शान्ति पा लेता है, आत्मा कर्म संस्कारों से मुक्त हो जाती है और अन्त में जन्म-जन्मान्तर से मुक्ति मिल जाती है अर्थात् उसे परमानन्द की उपलब्धि होजाती है।

ईश्वर के अनुग्रह पर ही समस्त भक्ति-साहित्य अवलम्बित है । यह अनुग्रह की भावना ही तो हृदय में भक्ति को जाग्रत करती है । अशान्त मानव ईश्वर के अनुग्रह की आशा से ही भक्ति की शरण में जाता है । जिन्होंने अनुभूत किया है कि यह संसार दुखात्मक अनुभूतियों का संघात है उनकी निवृत्ति के पीछे भी यही भावना कार्य करती है । संत कवियों ने संसार की नश्वरता को भली भाँति अनुभूत किया था । जहाँ सुख के स्थान मे दुख ही अधिक है जिससे केवल वे ही बच सके हैं जिनमें आत्मप्रकाश प्रज्ज्वलित हो गया है । वह आत्म-ज्ञान, जिसके बिना जीवन-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं मिल सकता है, ईश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है । मलूकदास ने इसकी अनुभूति की थी । वे कहते हैं—"ईश्वर के समान कोई भी उदार नहीं है । उसका निवास संतों में है ।" उनकी इस उक्ति की पुष्टि श्रीकृष्ण द्वारा कथित गीता के इन शब्दों में होती है—"मैं सभी प्राणियों के लिए समान हूँ । न कोई मुझे अप्रिय है और न प्रिय । जो मेरी प्रेम से अराधना करते है मैं उनमें हूँ और वे मुझ में हैं ।" कृष्ण ने अपने शब्दों में विश्वास दिलाया है "न मे भक्तः प्रनश्यति ।" तभी तो कबीर को विश्वास है—"दामोदर भक्तों के प्रति दयावान है, उदार है और उनके जन्म-मरण के चक्र को नष्ट कर देते हैं...भाव-भक्ति अथवा प्रेमानुराग ईश्वर की कृपा प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है । उसके बिना उसे पाना कठिन है ।" गीता में इस विषय पर स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "सदा ही रागद्वेष से परे रहने वाले भक्तों को मैं आत्मानुभूति का योग देता हूँ, जिसके द्वारा वे मेरे निकट आ सकते हैं ।" इसी भाव को आधार बनाकर कबीर कहते है—"वे (राम) विश्वव्यापी हैं, लेकिन बिना प्रेममय अनुराग के हृदय में रहते हुए भी वे दूर हैं ।" वे आगे सिद्ध करते हैं कि "कबीर का कोई भी प्रयास सफल नहीं होता जब तक राम की कृपा नहीं होती । उसकी कृपा के बिना जिस शाखा पर चढ़ा जायेगा वह झुक जायेगी ।" "कहीं उसके भक्त को पीड़ा न हो इसलिए हरि स्वयं आशाओं को त्याग करने वाले, उनके गहन प्रेम में निमग्न रहने वाले, मरजीवा भक्तों का सेवक की भाँति कार्य करते हैं ।" अपने भक्तों के प्रति इसी कर्तव्य के भार को गीता में श्रीकृष्ण ने अपने ऊपर लिया है—"मैं उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर लेता हूँ जो एकाग्र मन से मुझे पूजते हैं और एकाग्र मन से दिव्य आत्मा के सेवक हो गये हैं ।" गीता में दूसरी जगह कृष्ण ने आश्वासन दिया है—"जिनका मन इस प्रकार मुझ पर केन्द्रित है, मैं शीघ्र ही उन्हें जन्म-मरण के सागर में डूबने-उतराने से बचा लेता हूँ ।" कबीर भी विश्वासी हैं । वे कहते हैं—"जिसकी तुम सहायता करते हो वही इस सागर को पार करता है ।" इस विचार पर वे अन्यत्र भी जोर देते हैं—"जब तक प्रेम से तुम अपने को उसमें निमग्न नहीं कर देते, तुम जीवन-मरण का सागर किस प्रकार पार कर सकते हो ? यह

प्रेममय अनुराग उसकी कृपा अवश्य प्राप्त कर लेगा।" कब और किस प्रकार यह स्वर्गीय कृपा आती है ? इस प्रश्न का उत्तर ऊपर दे दिया गया है। यह दिव्य कृपा उसी पर होती है जो ईश्वर की इच्छाओं पर अटल विश्वास के साथ अपने आपको समर्पित कर देता है, फिर चाहे वह पहले पापी ही हो। ऐसा ही गीताकार द्वारा कहा गया है कि "घोर पापी भी जो मुझे एकाग्र मन से भजता है पुण्यात्मा माना जाता है क्योंकि उसका लक्ष्य धार्मिक है, शीघ्र ही वह कर्तव्यशील बन जाता है और चिर शान्ति प्राप्त करता है। हे कौन्तेय, तुम पूर्ण विश्वास रखो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।" धर्मदास की प्रार्थना युक्ति-पूर्ण है—"हे मुक्ति के दाता, मेरी प्रार्थना सुनिये। निस्सन्देह आप मुझ पर धोखा, दुष्टता, पाप-परायणता और ईर्ष्यालुता का अभियोग लगायेंगे, परन्तु मुझे निश्चय है कि आपका नाम ही पतितपावन है। कृपा करके मुझे नाम स्मरण की प्रेरणा दीजिये, और अभी तक किये हुए कुकर्मो का ध्यान छोड़कर मुझे मुक्ति दीजिये।" गीता में कृष्ण कहते हैं—"मैं इस जगत् का पिता, माता, धाता, पितामह आदि सब कुछ हूँ।"[1] इसी भाव का प्रतिपादन धर्मदास के इन शब्दों में हुआ है—"तुम्ही माता, पिता, भाई, बन्धु सभी कुछ हो। फिर मैं अपनी व्यथा किससे कहूँ ? तुम सर्वशक्तिमान् हो। मैं दुर्बल हूँ। मैं आपकी ही दया की आशा करता हूँ।" कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वरीय अनुग्रह की शरण में संत सदा ही दीन रहे है। यह दीनता पारलौकिक है जो दैन्य के नाम से अभिहित होती है। इसका अर्थ वह दीनता नहीं है जो लोकग्राह्य है।

ईश्वर की अनुकम्पा में विश्वास और दैन्य-प्रकाशन संतों को आलसी और अकर्मण्य नहीं बनाता। वे भाग्यवादी अवश्य हैं लेकिन उनका भाग्यवाद अकर्मण्य जीवन से उद्भूत नहीं है। वे दायित्व का कायरों की तरह नहीं, वीरों की तरह निर्वाह करते हैं। वे निष्काम कर्म और निष्काम भक्ति में विश्वास करते हैं। यह भक्ति प्रेमा भक्ति है। सन्तों की भक्ति का मूल स्वरूप आत्मप्रेम है जिसके क्षेत्र में ब्रह्म अथवा परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही निर्गुण और सगुण भक्ति में प्रमुख भेद है।

ईश्वर विषयक भावना पर प्रकाश डालते समय संतों के दाम्पत्य भाव के प्रेम पर विचार करना आवश्यक है। अनेकों विद्वानों ने इसे सूफी मत की देन समझने की भूल की है। यह कहना कि वह हमारे संतों का सूफियों के संसर्ग में आने का परिणाम है, इसकी भारतीय उत्पत्ति को अस्वीकार करना है। दाम्पत्य भाव का प्रेम पारलौकिक प्रेम है जो सूफियों और संत कवियों ने एक ही प्रकार

---

[1] देखिये, गीता ९—१७

से चित्रित किया है। एक ही बात को दोनों धर्मों के सैद्धान्तिकों ने अपनाया है तो स्वभावतः कोई इस निश्चय पर पहुँच सकता है कि दोनों में कुछ समानता है। जहाँ तक प्रतीक-भावना का सम्बन्ध है, संत कवियों ने इसे सूफियों से लिया है, लेकिन हिन्दू इस भावना से अपरिचित नहीं थे। सांख्य दर्शन के प्रकृति-पुरुष आध्यात्मिक प्रेम-लीला में बहुत पहले ही स्त्री-पुरुष के रूप में ग्रहण कर लिये गये थे। उपनिषदों में जो दर्शन के नीरस निरूपण माने गये हैं, आत्मा-परमात्मा के मिलन को पति-पत्नी के आलिंगन के समान माना गया है। बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि जिस प्रकार पुरुष अपनी प्रिया के आलिंगन में बद्ध होकर अन्य बाह्य और आन्तरिक पदार्थों की स्थिति से असंप्रक्त हो जाता है उसी प्रकार आत्मा परमात्मा के मिलन में बाह्य और आन्तरिक अनुभूतियों को भूल जाती है। गोपियाँ जिन्होंने कृष्ण को आत्मसमर्पण कर दिया था, वैदिक ऋचाओं की अथवा प्रेमी भक्तों की अवतार मानी गयी थीं, क्योंकि वे ईश्वर के साथ निकटतम शारीरिक सम्पर्क से कम में सन्तुष्ट न हो सकी थीं। कृष्णभक्त वैष्णवों में भी माधुर्य भाव अथवा मधुर-प्रेम-भाव मिलता है। मीराँबाई ने इसी मधुर भाव में कहा है—"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई, जाके सिर मोर मुकुट मेरे पति सोई।" बल्लभ के अनुयायियों ने भी माधुर्य भाव के प्रेम को पुरस्सर किया है। उनके सम्प्रदाय में केवल कृष्ण ही पुरुष माने गये हैं, और उनके सब भक्त स्त्रियाँ मानी गयी हैं। राधाबल्लभ तथा टट्टी सम्प्रदाय ने तो इस पर और भी ज़ोर दिया है।

यह स्वीकार किया जा सकता है कि प्रतीक रूप में प्रेमोपासना सूफियों का प्रभाव हो, किन्तु हमें यह मान्य नहीं कि सन्त कवियों का प्रेमभाव सूफियों से लिया हुआ है। सूफियों की प्रतीक प्रेमोपासना तथा हिन्दुओं की प्रेमोपासना में महान् अन्तर है। फ़ारस साहित्य के प्रेम वर्णन में स्त्री-प्रेम प्राप्ति के लिए पुरुष-प्रयास का चित्रण मिलता है, और भारतीय साहित्य में स्त्री की ओर से प्रेम की प्राप्ति का प्रयास होता है। संस्कृत साहित्य से लेकर हिन्दी साहित्य तक प्रेम का उदात्त चित्रण मिलता है। संस्कृत साहित्य ने शृंगार रस को प्रेम के उत्कर्ष रूप में अपनाया है, और उसे रसराज का सम्मान दिया है। फारस तथा भारत के प्रेम सिद्धान्त में एक ही तत्त्व के दो विभिन्न पहलुओं को अपनाया गया है। भारतीय साहित्य में नायिका विरह-पीड़ा से व्याकुल होती है, फारस में इसके विपरीत पुरुष व्याकुल होता है। सूफियों की विचारधारा में फारस की परम्परा के अनुसार, ईश्वर को प्रिया माना गया है और सन्त कवियों ने भारतीय परम्परा के अनुसार ईश्वर को पति माना है। (बल्लभीय भक्तों की भाँति सन्तों ने भी एक ही पुरुष को माना है और वह ब्रह्म है, और सब जीवात्माएँ उसी पुरुष की पत्नियाँ हैं, उनकी यह भी

मान्यता है कि उन सबको ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए वे सब उपाय करने चाहिये जिनमें उनकी कर्तव्यशीलता प्रकट हो ।)

इन दोनों साहित्यों की प्रेम-भावना में 'मिलन' के विचारों में भी विभिन्नता है । भारतीय साहित्य में रति के दो पक्ष हैं—संयोग तथा विप्रलंभ । फारसी साहित्य में ये 'विसाल' और 'फिराक' कहलाते है । निर्गुणी इन्हें 'मिलन' और 'विरह' कहते हैं । निर्गुणियों के 'विसाल' में, विरह की अवस्था में ही मिलन की स्थिति बन जाती है । निर्गुणी सैद्धान्तिक रूप से सूफियों से सहमत नहीं है । निर्गुणी पूर्ण मिलन में विश्वास करते हैं । "मिलन के होते ही प्रेमी और प्रिय के सभी भेद-विभेद मिट जाते हैं, और प्रेम-लीला समाप्त हो जाती है," किन्तु सूफियों की प्रेम-लीला मिलन के बाद भी चलती रहती है ।

निर्गुण कवियों ने संयम तथा वैराग्य को बड़ा महत्त्व दिया है, जो सत्य के अन्वेषक के लिए सबसे आवश्यक विशेषताएँ हैं । हमने संयम का प्रयोग उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में वह संस्कृत साहित्य में हुआ है । संयम में मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं का नियन्त्रण हो जाता है । इसके बिना आत्मज्ञान की प्राप्ति असम्भव है । गीता में यह संयम 'तपस्' के नाम से विदित है । इसका विभाजन इस प्रकार किया गया है :—

(१) कायिक संयम
(२) वाचिक संयम
(३) मानसिक संयम

सन्तों का संयम भी लगभग इसी प्रकार का है, किन्तु लेखक ने इसे कुछ हेरफेर से देखा है । वाचिक संयम को हमने सन्तों के नैतिक संयम के अन्तर्गत देखा है ।

शारीरिक संयम के अन्तर्गत शारीरिक क्रियाओं के संयम का समावेश है जिसे हठयोग के नाम से अभिहित किया गया है । मानसिक संयम, संयम की चरम सीमा है । यह चमत्कार से प्राप्त नहीं होती । इसके लिए अविरल प्रयत्न करना होता है और इसके साथ वैराग्य एक आवश्यक विशेषता है । पतंजलि ने अपने योगसूत्र में कहा है कि मानसिक संयम अभ्यास तथा वैराग्य से प्राप्त होता है । योगसूत्र से स्पष्ट है कि हठयोग तथा वैराग्य साथ-साथ होने चाहिये । तभी मन माया-ममता से छुटकारा पा सकता है । इनमें से अकेला कोई सफलता प्राप्त नहीं करा सकता । संयम वैराग्य द्वारा पूर्ण होना चाहिये । उसे स्थायी बनाने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है । यह वैराग्य ब्रह्म प्राप्ति के पथ में बाधक, मिथ्या आनन्द देने वाले नश्वर पदार्थों को देखने अथवा सुनने से उदित होता है । किसी वस्तु के प्रति अरुचि या तो उसकी व्यर्थता की अनुभूति से उत्पन्न होती है अथवा घृणा से अथवा नश्वरता से । किसी एक के प्रति घृणा होने का अर्थ यह

है कि कोई उससे अधिक स्थायी, प्रिय, संरक्षक सत्ता विद्यमान है। यही सब कारण हैं जो सन्तों के जगत् से वैराग्य की पृष्ठभूमि में क्रियाशील रहते हैं और उन्हे ईश्वर की ओर उन्मुख करते हैं।

सन्तों के लिए असीम ईश्वर का सौन्दर्य उनके सिद्धान्त में नहीं, विश्वास में है। यह ईश्वर की वत्सलता है जो उन्हें ईश्वर के अनुग्रह में विश्वास करने के लिए प्रेरित करती है। उन्हें पल-पल पर जगत की निरर्थकता, शरीर की नश्वरता, तथा मृत्यु की भयंकरता ज्ञात रहती है। सन्तों का ज्ञान उनके नित्य प्रति के अनुभवों से उद्धृत और उनके गुरु की शिक्षा से प्राप्त है। जिसे सन्त सम्प्रदाय कभी नहीं भुला सकता वही गुरु अपने शिष्य के हृदय में आत्मज्ञान की ज्योति जगाता है, पथ दिखाता है और वही परमानन्द प्राप्ति का पथ उन्मुक्त करता है।

उन्होंने अपने अनुभव तथा ज्ञान से सीखा था कि संसार सेंवर के पुष्प के समान मिथ्या है, यह शरीर मिट्टी है, यह मिट्टी से उत्पन्न हुआ है और मिट्टी में ही मिल जायेगा। कोई भले ही मिट्टी के कच्चे माँडे, कागज की नाव, लहर और बुद्बुद को स्थायी मान ले, लेकिन जीवन से अधिक परिवर्तनशील और क्षणिक कुछ नहीं है। यह इस क्षण है, आगे का कोई निश्चय नहीं है। कबीर इसे केवल स्वप्न समझते हैं।

इसके अतिरिक्त, यह क्षणिक जीवन शारीरिक दुखों तथा मानसिक व्यथाओं से मुक्त नहीं है। शरीर व्याधियों का मन्दिर है।[1] आज हम किसी प्रिय के अभाव में दुखी हैं, कल किसी और के लिए होना पड़ेगा। भाग्य के क्रूर परिवर्तन शान्ति तथा स्वास्थ्य दोनों को दबा देते हैं। हम बड़ी कठिनाई से सुख प्राप्त करते हैं, लेकिन दुःख बिना किसी सूचना के कभी भी घुस आता है। सुख का अवसान और दुःख का विस्तार ही मनुष्य जीवन का भाग्य है। किसी को कभी भी इस जीवन से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये। यहाँ बचपन अज्ञानमय, यौवन क्षणिक और वृद्धावस्था अंगभंगमय तथा शैथिल्ययुक्त है। यहाँ नयी पीढ़ी वृद्धावस्था को घृणा से देखती है। यहाँ तक कि प्रिय पत्नी भी अपने पति के लिए वृद्धावस्था में घृणापूर्ण दुःशब्दों का प्रयोग करती है; इसलिए कोई सी भी अवस्था वांछनीय नहीं है। हमारे सम्बन्ध भी इस दुनिया में पवित्र नहीं हैं; सभी स्वार्थी हैं, सभी अपना लाभ देखते हैं। एक मनुष्य मर जाता है तो कोई भी उसे घर में नहीं रखता, और घर अपवित्र न हो जाये इसलिए उसे शीघ्र ही अन्तःपुर से बाहर ले जाने का

---

[1] शरीरं व्याधिमंदिरम्।

प्रयास करते है। इस प्रकार की बातों से संत कवियों ने भौतिक बंधनों के विषय में कटु अनुभव किया था।

सभी इन्द्रिय सुखों का परिणाम दुख है। भौतिक सम्बन्ध दुख-सुख उत्पन्न करते हैं। ये आवेग क्षणिक और खोखले हैं, इसलिए ज्ञानी उनसे बचकर निकलते हैं।

सत्य पथ के पथिक के काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह—ये पाँच शत्रु हैं। ये सभी अशान्ति देने के लिए पर्याप्त शक्तिमान् हैं। मानसिक शान्ति इन पाँचों के दमन बिना सम्भव नहीं है। इनमें से भी काम और लोभ सबसे अधिक भयंकर हैं। ये विष से अधिक घातक है। विष को तो खाने से मृत्यु होती है, लेकिन इन्हें तो देखने से ही द्रष्टा की मृत्यु हो जाती है। शकंराचार्य की प्रश्नोत्तरी की भाँति सन्तों ने भी कामिनी और कंचन को स्पष्ट रूप से कोसा है।

चाहे हम सोने और जवाहरात के सुन्दर राजभवनों में रहें, अनुपम सुन्दरी के साथ जीवन बिताएँ और समस्त संसार का ऐश्वर्य हमारे पास हो; अथवा हम चक्रवर्ती सम्राट हों; लेकिन काल से हम बच नहीं सकते। जैसे बिल्ली चूहे की घात में रहती है वैसे ही काल मनुष्य की प्रतीक्षा में रहता है। चाहे शीघ्र अथवा विलम्ब से, हमें भाग्य के हाथ में जाना है। मृत्यु से हम बच नहीं सकते। जब मृत्यु ग्रस लेती है तो "सब ठाठ पड़ा रह जाता है और कुछ भी साथ नहीं जाता।" इसीलिए संतों ने कहा है—"ऐश्वर्य पर गर्व मत करो। मृत्यु सबको समान बना देती है, वह अपना क्रूर हाथ राजा पर भी चलाती है। उसका राजदण्ड तथा मुकुट गिर जाता है और मिट्टी में मिलकर निर्धन मनुष्य के हँसिया तथा कुदाली के बराबर हो जाता है। इसलिए ऐश्वर्य और शक्ति पर गर्व करना व्यर्थ है। काल कटु सत्य है। वृद्ध मनुष्यों का हमारे बीच से चला जाना ही छोटे लोगों के लिए चेतावनी का बिगुल है—"तुम्हें भी इसी पथ से जाना है।" प्रशंसा अथवा स्तुति को संत कवियों ने विभिन्न रूपों में एक स्वर से धिक्कारा है, क्योंकि इसका मूल अहंकार में है, जो आत्मज्ञान के रास्ते में रोड़ा है। प्रशंसा की इच्छा प्रशंसा न मिलने पर आवेगों को जन्म देगी और इस प्रकार वह अनेकों बुराइयों की जननी हो जायेगी। सत्यान्वेषी के लिए प्रशंसा उसी प्रकार घातक है जिस प्रकार अन्य लोगों के लिए अपयश। इसलिए दोनों ही त्याज्य हैं। जैसा कि नानक ने कहा है—"दोनों में से एक को भी ग्रहण नहीं करना चाहिये, न अपनी प्रशंसा और न दूसरों का अपयश।" कबीर के लिए तो प्रशंसा लोभ के समान है। यह सत्य पथ से विमुख कर दूर घसीटने वाली है।

अतः यह स्पष्ट है कि त्याग और संयम आत्मिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। यह पक्षी के दो पंखों के समान हैं, जिनमें से एक के भी न रहने

पर वह उड़ नहीं सकता। इसी प्रकार त्याग, संयम में से एक के भी अभाव में वह आत्मपथ पर नहीं विचर सकता, लेकिन अभ्यास और प्रमुखता के विषय में उनके विभिन्न मत हैं। नानक के अनुसार संयम के विना वैराग्य असम्भव है, लेकिन इस विषय में मतभेद हो सकता है। संयम में, प्रारम्भ में, साधक को कठिनाई होती है, और वह तब तक शमन करने की चेष्टा न करेगा जब तक उसे संसार, शरीर तथा जीवन के खोखलेपन का अभिज्ञान न हो जायेगा। यही वह ज्ञान है जो मनुष्य में अवास्तविक के लिए विरक्ति उत्पन्न करता है। इसलिए विरक्ति ही संयम को क्रियाशील बनाती है। फिर दोनों साथ-साथ चलने लगते हैं।

संयम के विभिन्न स्तर पहले ही बताये जा चुके हैं। हालाँकि नाम भारतीय दर्शन जैसे नहीं हैं, फिर भी वे अष्टांग योग से सम्बन्ध व्यक्त करते प्रतीत होते हैं। नैतिक संयम के अन्तर्गत 'यम' आयेगा। शारीरिक संयम के अन्तर्गत 'आसन' तथा 'प्राणायाम' और मानसिक संयम में 'प्रत्याहार', 'धारणा' और 'समाधि' आयेगी। 'नियम' मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार के संयमों में विभक्त हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि संयम और नीति का गहन सम्बन्ध है। भारतीय सदाचार के सभी सिद्धान्त योग में प्रवृत्त करने वाले हैं, लेकिन ब्रह्मचर्य अथवा कौमार्य सदाचार की सीढ़ी का प्रथम पद है। वीर्य की रक्षा और एकत्रीकरण से शरीर और मस्तिष्क दोनों ही ठीक अवस्था में रहते हैं। यही जीवन का सार है, तथा मानसिक संयम के लिए प्रथम सोपान है। इसकी क्षति होने से शारीरिक तथा मानसिक अशान्ति का उदय होता है। इसीलिए कबीर ने शुक्र की रक्षा के सम्बन्ध में चेतावनी देते हुए कहा है—"वह पुरुष जो स्वप्न में भी अपने वीर्य को नष्ट नहीं होने देता वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।" इसी कारण रैदास, नानक तथा कबीर और उनके अनुयायियों ने एक स्वर से नारी की निन्दा की है।

सदाचार का दूसरा प्रमुख सोपान, जिसके लिए सन्त विशेष सतर्क हैं, अहिंसा है। हिंसा का अर्थ है मन, वाणी तथा कर्म से किसी को कष्ट पहुँचाना। इन सबसे मुक्त रहना ही अहिंसा है। अहिंसा का सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितना वैदिक साहित्य। महात्मा बुद्ध ने इसको महत्ता दी थी, फिर जैन तथा वैष्णवों ने इसे और भी महत्त्व दिया। सन्त साहित्य में अहिंसा और दया शब्द पर्यायवाची हैं। अहिंसा का प्रसाद कबीर को गुरु रामानन्द से मिला, कुछ लोगों का ऐसा मत है। मैं समझता हूँ यह परिस्थितियों की प्रेरणा और उनके हृदय की उपज थी। हाँ, रामानन्द ने उसके लिए वातावरण अवश्य बना दिया था। कबीर ने प्राणियों को आदेश दिया है—"दुर्बल की आह प्रबल

है। उसे सताना चाहिये। मरी खाल की ही धौंकनी से लोहा तक भस्म हो जाता है।" इसी स्वर में मलूकदास कहते हैं कि "यदि कोई दु:खी को सताता है तो वह स्वयं भी दु:ख के परिणाम से बच नहीं सकता। व्यथा (दु:ख) सब ही के लिए समान है, किन्तु अज्ञानियों को यह दीखती नहीं है। छोटे से काँटे के चुभने से पीर होती है, फिर उस गले के काटने से हुई पीर का तो कहना ही क्या, जिसे लोग बड़े आनन्द से खाते है।" दूसरी जगह वे कहते हैं कि "वे मनुष्य महान् हैं जिनका हृदय दया से शराबोर है, जिनकी वाणी मधुर और दृष्टि नीची है।"

चोरी भी सर्वविख्यात दुर्गुण है। जो चोरी से जीवन निर्वाह करते हैं उनका ऐश्वर्य क्षणिक होता है। अन्त में उन्हें बड़े दु:खदायी भाग्य का सामना करना पड़ता है। मधुर भाषण भी सदाचार का एक प्रमुख अंग है। सभी धर्म और सभी काल के महापुरुषों ने एक स्वर से इसको महत्त्व दिया है। हमारे वेद भी इस बात में सतर्क हैं कि सत्य भी अप्रिय न हो। एक उर्दू के शायर ने सुन्दर उक्ति में 'शीरी जुबाँ' की महिमा गाई है—"शीरीं ज़बान तुम्हें दिल की सल्तनत का बादशाह बना देगी।" कबीर ने भी अपनी साखी में कहा है कि "अपनी अस्मिता को नष्ट करके ऐसे शब्द बोलो जो केवल औरों को ही प्रभावित न करें अपितु तुम्हें भी करें।" शब्दाडम्बर सन्तों को अग्राह्य है। कबीर बड़ी सतर्क भाषा में मितव्ययता से बोलने का आदेश देते हैं। वे कहते हैं—"जानते हो भाषा क्या है? अधिक बोलने से मानसिक सन्तुलन तथा मनस् तत्व नष्ट हो जाता है।" फिर पूछते हैं—"बिना भाषा के क्या विचार विनिमय हो सकता है?" उत्तर में वे कहते हैं—"हाँ यदि तुम सन्तों से मिलो तो बिना किसी हिचकिचाहट के बात करो, किन्तु किसी असन्त से मिलने पर चुप रहो, क्योंकि ज्ञानी से बात करना सार्थक है, और अज्ञानी से निरर्थक। सतसंग को भी संतों ने बड़ी महत्ता दी है। संतों का साथ अज्ञान को दूर कर हम ज्ञान के मार्ग पर लगाता है। संतों की सेवा भी आवश्यक कर्तव्य है। संतों का साथ हमें ईश्वर कृपा से प्राप्त होता है। जहाँ राम है वहाँ सन्त हैं और जहाँ सन्त हैं वहाँ राम हैं।"

वे शत्रु मित्र में कोई भेदभाव नहीं रखते क्योंकि उनका कोई शत्रु अथवा मित्र नहीं है। न किसी को प्यार करते हैं और न किसी को घृणा। वे प्रशंसा और बुराई दोनों को घृणा करते हैं क्योंकि यह राग और द्वेष पर आधारित है। द्वार-द्वार पर भीख माँगना उन्हें मान्य नहीं है। पाखंड और अभिमान पापों के जन्मदाता हैं। इनके नाश के बिना कोई ईश्वर को नहीं पहिचानता है। ज्ञानी यदि आत्मसाक्षातकार का अभिलाषी है तो उसे पथ के रोड़े की तरह नम्र तथा दीन होना चाहिये।

अभी तक सन्तों के नैतिक संयम का विवेचन हुआ है जो उनके धर्म के

प्रमुख अंग और यौगिक साधना की पृष्ठ भूमि है। सन्तों की वाणी से ज्ञात होता है कि वे किसी विशिष्ट योग-साधना को नहीं मानते। सत्य तो यह है कि वे सार-ग्राही हैं, और उनका लक्ष्य आत्मसाक्षातकार है। वे भक्ति-योग, राज-योग, मंत्र-योग, कर्म-योग, लय-योग, हठ-योग, ज्ञान-योग का अपनी तरह क्रमशः अभ्यास करते है। "अपनी प्रथम अवस्था में यह मंत्र-योग होता है जिसे राज-योग से सहायता मिलती है, अन्तिम अवस्था में यह ज्ञान-योग होता है जिसमें परमानन्द के सच्चे स्वरूप का साक्षातकार हो जाता है। लय-योग को सन्त लोग 'लौ' कहते हैं। यह प्रेम के द्वारा सिद्ध होता है। भक्ति-योग के द्वारा इसकी सिद्धि को सभी ने स्वीकार किया है। इनका कर्म-योग बहुत कुछ गीता जैसा है। ये निष्काम कर्म (इच्छा रहित कर्म) में विश्वास करते हैं।

यह सामान्य विश्वास है कि सन्तों का योग हठ-योग के नाम से प्रसिद्ध है जो नाथ सम्प्रदाय की देन है। इन्हीं ने इसको वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया था। कुछ लोगों का विश्वास है कि योग की दो विचारधाराएँ हैं—एक तो प्राचीन, दूसरी आधुनिक। पहली मार्कण्डेय ने चलाई और दूसरी नाथपन्थियों ने। मार्कण्डेय की विचारधारा वालों ने योग के आठ अंगों की व्यवस्था की थी, किन्तु बाद वालों ने योग के मूल अंगों से 'यम' और 'नियम' को निकाल दिया और वे केवल छः ही रह गये। यदि इस परम्परा का कोई ऐतिहासिक आधार है तो इसका अर्थ है कि नाथों ने केवल प्राचीन मृतप्राय विज्ञान को जीवित करने का प्रयास किया है। यह मत अधिक तर्कसंगत ज्ञात होता है।

किन्तु इस योग का पुनर्जीवित करने की आवश्यकता ही क्या थी जबकि राज-योग विकास को प्राप्त हो रहा था ? सिद्धों ने स्वयं माना है कि हठ-योग अपने पूर्ण रूप में भी राज-योग की पूर्ति में एक साधना मात्र है। पतंजलि की साधना राज-योग के सिद्धान्त पर आधारित है। उसी प्रकार बौद्ध मत और जैन मत में भी हठ-योग का थोड़ा बहुत अभ्यास आवश्यक समझा गया है।"

हठ-योगियों के मत से साधारण मनुष्य के लिए, जिसको अपने मन पर संयम नहीं है, राज-योग की साधना बड़ी कठिन है। हाँ, मंत्र-योग तथा ध्यान का अभ्यास अवश्य किया जा सकता है। यदि ठीक से किया जाये तो वह राज-योग की पूर्णता में सहायता भी करता है, किन्तु इसमें भी अभ्यास की आवश्यकता होती है जो साधारण मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। कतिपय विशिष्ट शारीरिक प्रक्रियाओं द्वारा निर्मित हठ-योग ही वैज्ञानिक योग का एक-मात्र स्वरूप है जो प्रत्येक अवस्था में उपयोगी सिद्ध हो सकता है क्योंकि इसमें मानसिक शक्ति की आवश्यकता नहीं होती है, जो कि अन्य योगों में थोड़ी या अधिक मात्रा में अभीप्सित है। हठ-योग का सार प्राण वायु को विजय करने में निहित है। इस देश में यह सर्वमान्य धारणा है कि बिन्दु (भौतिक शरीर

कर स्वास्थ्य तथा स्फूर्ति देता है, और प्राणायम से मानसिक नाड़ी-जाल की शुद्धि होती है। सामान्यतः यह माना जाता है कि (निरंजन) शब्द-ब्रह्म, ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड परस्पर सम्बन्धित है। इसे मानने वाले प्रायः इस विषय में महमत है। इस विचार को ध्यान में रखते हुए, हम ईसाइयों के इस विश्वास को भली भाँति समझ सकते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य को अपनी आकृति के अनुसार बनाया है। सन्तों का भी यह सामान्य विश्वास है कि जो ईश्वर ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है।

इस मानवपिंड में असंख्य नालिकाएँ हैं। उन नाड़ियों या नालिकाओं के प्रमुख केन्द्र शास्त्रीय परिभाषा में चक्र कहलाते हैं। ये कमल भी कहलाते हैं "जहाँ पर आत्म-शक्ति मुक्तावस्था में रहती है। यह आत्म-शक्ति एक कमल से दूसरे कमल में क्रम से बढ़ती जाती है।" "नाड़ियाँ प्राणवायु की नालिकाएँ हैं। जिस प्रकार अश्वत्थ (पीपल) के पत्ते में सूक्ष्मातिसूक्ष्म नसें होती हैं, उसी प्रकार शरीर भी नाड़ियों से युक्त रहता है।" नाड़ी शब्द 'नद्' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'गाना' होता है। यहीं से प्राण संचालित होते हैं। भूत शुद्धि तन्त्र में इनकी संख्या ७,२०,०००, प्रपेचसार तन्त्र में ३,००,००० और शिव संहिता में ३,५०,००० है। इनकी कितनी भी संख्या हो, उनमें से कुछ ही की प्रमुखता है।

"नाड़ियों को प्राणवाहिनी कहा गया है। इन्हीं में सूर्या और चन्द्रा नाड़ी बहती हैं। ये वे पथ हैं जिनमें से प्राण-शक्ति प्रवाहित होती है। इनका (प्राण-नालियाँ का) सम्बन्ध प्राण-विज्ञान से है, वैद्यशास्त्र से नहीं। इसीलिए शरीर तथा नाड़ियों को शुद्ध करने वाली साधना का विशेष महत्त्व है। यदि अपने चरम भारतीय रूप में मानसिक शुद्धि अभीष्ट है तो शारीरिक शुद्धि आवश्यक हो जाती है। योग की प्रारम्भिक अवस्था में नाड़ियों की शुद्धि विशेष रूप में आवश्यक है। इनकी अशुद्धि ऊर्ध्वगामिनी शक्ति के मार्ग में बाधक होती है और शुद्धि उसके मार्ग में सहायक। यही प्राणायाम का कार्य है।

इड़ा तथा पिंगला काल को इंगित करती हैं; सुषुम्ना काल को खा जाती है। इसी पथ से अमरता में प्रवेश होता है। पवित्र नदियों के नामों के अनुसार ये गंगा, यमुना तथा सरस्वती के नाम से भी विख्यात हैं। मूलाधार इन तीनों का संगम है। यह संगम "युक्त त्रिवेणी" कहलाता है। आधार चक्र से इड़ा और पिंगला दाँये से बाँये को तथा बाँये से दाँये को आ जाती है। सब चक्रों में भ्रमण करती हुई ये भ्रकुटियों के मध्य के स्थान में पहुँचती हैं, जो आज्ञा चक्र कहलाता है। यहाँ से ये सुषुम्ना में प्रवेश करती हैं। तीनों की गुथी हुई ग्रन्थि 'मुक्त त्रिवेणी' के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ से वियुक्त होकर दाँये अंडकोश से

आने वाली नाड़ी बाँये नथुने में चली जाती है और बाँये अंडकोश से आने वाली दाँये नथुने में चली जाती है।

"जब श्वास केवल बाँये नथुने से आती है तो वह इड़ा अथवा चन्द्रा नाड़ी से आती है और जब केवल दाँये नथुने से आती है तो सूर्या नाड़ी अथवा पिंगला में होकर आती है; और जब वह क्रमशः दाँये बाँये से आती है, तो वह सुषुम्ना नाड़ी से आती है। तब सूर्य चन्द्र का मिलन हो जाता है। सुषुम्ना अग्नि नालिका भी कहलाती है। आज्ञा चक्र को पार करती हुई 'इड़ा' वरुणा कहलाती है और 'पिंगला' 'असी' तथा यह चक्र इसीलिए वाराणसी अथवा काशी कहलाता है।"

उपर्युक्त छः चक्र सुषुम्ना के पथ में स्थित हैं। पहला केन्द्र मूलाधार कहलाता है। यह सुषुम्ना का मूल है, जहाँ कुण्डलिनी शक्ति स्थित रहती है। यह मिलन-केन्द्र है। सभी नाड़ियों का मूल तथा सुषुम्ना नाड़ी का स्थान मेरुदण्ड के नीचे गुदा और लिंग के मध्य भाग में रहता है। इस चक्र अथवा कमल में चार दल हैं जिसके मध्य में सूर्य अवस्थित है। 'स्वाधिष्ठान चक्र' या छः दल का कमल लिंग मूल में स्थित है। दस दलों का 'मणिपूर चक्र' नाभि में स्थित है तथा बारह दलों का 'अनाहत चक्र' हृदय में स्थित है। षोडश दल कमल अथवा विशुद्ध चक्र कंठ में स्थित है। आज्ञा अथवा अक्षय चक्र, दो दल का कमल भौंहों के मध्य में 'त्रिकुटी' में स्थित है। तालु-मूल के छिद्र पर सबसे बड़ा कमल है जो 'सहस्रार' कहलाता है। इसमें सहस्र दल हैं जैसा कि इसके नाम से विदित है। निर्गुणी चक्रों की स्थिति में तो विश्वास करते हैं लेकिन उनकी गणना में एक दूसरे से सहमत नहीं हैं।

'अनाहत' अथवा हृदय चक्र के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। डाक्टर बड़थ्वाल ने दोनों नामों को एक ही चक्र के अर्थ में प्रयुक्त किया है, लेकिन आर्थर एवेलन का विभिन्न दृष्टिकोण है। वे अपनी रचना 'सर्पेंट पावर' (कुण्डलिनी शक्ति) में अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं :—नाभि के ऊपर 'नाभि कमल' (नाभिपद्म) है। यही अनाहत कमल है; और हृदय प्रदेश में लाल बन्धूक कुसुम के समान हृदय चक्र है। यह वह स्थान है जहाँ मुनि लोग अनाहत नाद सुनते हैं। यह ध्वनि दो वस्तुओं के टकराये बिना ही उत्पन्न होती है। यह शब्द-ब्रह्म ही जीवन नाड़ी है। यहीं पर जीवात्मा का निवास है। यह चक्र अष्टदल हृदय कमल से भिन्न है जो इसके नीचे है। यहीं पर मानसिक इष्टदेव की आराधना होती है। यहीं वह कल्पवृक्ष है जहाँ सब अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं। इसके नीचे 'मणिपीठ' है। जैसा कि 'विश्वेश्वर तन्त्र' ने प्राणतोषिणी में कहा है—"शब्द ब्रह्म ही सदाशिव है, शब्द की स्थिति 'अनाहत चक्र' में होती है। यह महान् 'अनाहत चक्र' सभी जीवों के हृदय में

स्थित है। 'ओ३म्कार' जो तीन गुण से सम्बन्धित है, वहीं पर है।" कबीर ने भी कई स्थानों पर 'अष्टदल कमल' की चर्चा की है।

"यदि 'सहस्रार' को भी एक चक्र मान लें, तो कबीर के पदों से स्पष्ट है कि उन्होंने छः चक्रों को माना है। उन्होंने 'अनाहत चक्र' में 'भँवर गुफा' को माना है और 'त्रिकुटी' को 'आज्ञाचक्र' में। ये छः चक्र प्रमुख कुंजी अथवा 'स्विच' हैं जिनके द्वारा शरीर के कार्य-व्यापार संचालित होते हैं। जिनको सूक्ष्म तथा स्थूल की विभिन्न मात्राओं के अनुसार कोष कहा था वे ही स्तरों में व्यवस्थित पद कहलाते हैं। इसमें संशय नहीं है कि इसके विभिन्न स्तर मनुष्य द्वारा इन कुँजियों के उपयोग की मात्रा पर निर्भर रहते हैं।"

परम्परागत योग साधना के अनुसार ये छः चक्र सुषुम्ना नाड़ी अथवा मेरुदण्ड की विभिन्न सीढ़ियाँ माने जाते हैं। इसके निम्न तथा अन्तिम छोर पर मूलाधार चक्र है। दिव्य शक्ति अथवा प्रकृति, कुण्डलिनी के रूप में सर्प के समान साढ़े तीन बार मुड़ी हुई, सुषुप्तावस्था में रहती है। वहाँ से सुषुम्ना अन्य दो इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों को अपने बाईं ओर और दाईं ओर लेकर, जो इसके ऊर्ध्व भाग में मिल जाती है, ब्रह्म रन्ध्र के छिद्र में पहुँचती है। यहीं पर सहस्रार कमल है। यहीं पुरुष का निवास है। संहिता तन्त्र में लय योग के लिए कहा गया है "मूलाधार में कुण्डलिनी सोती है और सहस्रार में परम पुरुष रहता है। बाह्य सृष्टि चलती रहती है, तब कुण्डलिनी सोती है। जब विभिन्न यौगिक क्रियाओं से उसे जाग्रत कर लेते हैं तो सभी बाह्य कार्य व्यापार अन्तर-पुरुष में समाहित हो जाते हैं। 'चन्द्रमा' 'सहस्रार दल कमल' के मध्य में स्थित है। यहाँ से अमृत स्रवित होता रहता है। यह इड़ा में होकर बहता है। 'चतुर्दल कमल' में स्थित 'सूर्य' उसे सुखा देता है तथा उसके बदले में विष स्रवित करता है, जिसके शरीर में प्रसारित होने से असमय ही जीवन-शक्ति घट जाती है। योगियों का लक्ष्य चन्द्रमा से स्रवित अमृत को सम्पूर्ण शरीर में फैलाना है तथा सूर्य के विषाक्त रस के प्रभाव से मुक्ति पाना है।"

योग-साधना में प्राणायाम का कार्य भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्राणायाम में दोनों नथुओं से क्रमशः धीरे-धीरे लम्बी श्वास खींचते हैं और निकालते हैं और अपनी शक्ति के अनुसार उसे अन्दर और बाहर रखते हैं। जो श्वास अन्दर खींचते हैं उसे 'पूरक' कहते हैं, जो बाहर निकाली जाती है उसे 'रेचक' कहते है, तथा जो अन्दर या बाहर रखी जाती है उसे 'कुम्भक' कहते हैं। श्वास रोकने के समय को प्राणायाम द्वारा धीरे-धीरे बढ़ाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इससे यौगिक शक्ति जाग्रत होती है जिसका प्रतीक कुण्डलिनी शक्ति है जो मूलाधार चक्र में सुषुप्तावस्था में स्थित रहती है और जो जाग्रत होने पर अन्य चक्रों को वेधती हुई इनमें भरी हुई प्राण

शक्ति को मुक्त करती है। इन चक्रों के वेधन के साथ साधक को उच्चतर अनुभूतियाँ होने लगती हैं, अनुपम दृश्य दीखते हैं, तथा दिव्य शक्ति प्राप्त हो जाती है। कुछ लोग उन्हें ईश्वरीय दृश्य समझ लेते हैं, लेकिन उच्चाभिलाषी को इस प्रकार के भ्रम से बचना चाहिये। नाक के मूल तथा दोनों भौंहों के बीच त्रिकुटी में स्थित 'आज्ञा चक्र' जब क्रियाशील हो जाता है तब यह समझना चाहिये कि दिव्य जीवन का प्रारम्भ हो गया। जब कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्म रन्ध्र में पहुँच जाती है, तब मन अन्तर्मुखी हो जाता है। यह 'उन्मनी' अवस्था अथवा That-mindedness or Super consciousness कहलाती है। यह वह अवस्था है जब 'अनाहत नाद' अथवा 'शब्द ब्रह्म' सुनाई देने लगता है, साधक अमर रस का आस्वादन करता है, तथा दिव्य ज्योति का साक्षात्कार करता है। यह वेदान्तियों की तुरीयावस्था (चतुर्थावस्था) के समान है, तथा "दसंव द्वार" खुलने के नाम से पुकारा जाती है।

सन्त लोग सभी आसनों के अभ्यास का आदेश नहीं देते। साधक को असंख्य आसनों की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। उनमें से एक ही को पूर्ण अधिकार के साथ पा लेना अच्छा है। बिना अभ्यास और पूर्णता के अनेकों का अपनाना व्यर्थ है। निर्गुण सम्प्रदाय में सबसे प्रमुख 'सिद्धासन' तथा 'पद्मासन' माने गये हैं। सन्तों ने प्राणायाम को अत्यधिक महत्ता दी है। इसके बिना उनका योग तिलमात्र भी आगे नहीं बढ़ सकता। 'कुम्भक' की सबसे अधिक महत्ता है क्योंकि 'कुम्भक' में ही प्राणवायु सब चक्रों का बेधन करती हुई ब्रह्म रन्ध्र में लीन हो जाती है। इससे मन शब्द ब्रह्म में लीन हो जाता है।

इस प्रकार शारीरिक संयम में आसन तथा श्वास-साधन का बड़ा ही महत्त्व है। योगाभ्यास में सन्तुलित भोजन भी सम्मिलित है जिसको सन्तों ने बड़ा महत्त्व दिया है। हठयोग प्रदीपिका ने भी योगियों के लिए अत्यधिक आहार की निन्दा की है। गीता में अधिक तथा अल्प दोनों आहारों को वर्जित कहा है। कृष्ण कहते हैं—"योग न उनके लिए है जो अत्यधिक आहारी हैं और न उनके लिए जो अत्यधिक उपवास करते हैं। यह उनके लिए भी नहीं है जो अधिक सोते हैं और न उनके लिए है जो रात्रि भर जागरण करते हैं।

शारीरिक संयम में अन्तिम तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ब्रह्मचर्य है। यह सभी यौगिक क्रियाओं का मूल है। सभी योग ग्रन्थ बिन्दु के नष्ट न होने देने के पक्ष में घोषणा करते हैं। गोरक्षपद्धति में कहा गया है—"शरीर की मूल शक्ति 'वीर्य' है। इसी शक्ति के द्वारा सिर से लेकर पाँव तक सभी नाड़ियाँ क्रियाशील रहती हैं।"

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हमारे सभी प्रयासों का लक्ष्य मानसिक शान्ति है। इसके बिना हम जगत से मुक्त नहीं हो सकते हैं। मानसिक

संयम से सन्तों का अभिप्राय है, मन को इन्द्रिय-सुख से विमुख करना, मनोवेगों का दमन करना तथा संयम से उसे शान्त करके असीम में लगा देना। यह वह अवस्था है जब योगी लोग अमित प्रकाशमयी दिव्य ज्योति का आनन्द प्राप्त करते हैं। पतञ्जलि के अनुसार यह प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का क्षेत्र है।

मन तथा शरीर वे साधन हैं जिनके द्वारा सामान्य सांसारिक अनुभवों की अनुभूति होती है। जब तक वे भौतिक अनुभूतियों के साधन रहते हैं, शुद्ध 'चित्त' की अवस्था की प्राप्ति में व्यवधान रहता है। 'चित्त' की शुद्धावस्था की प्राप्ति के लिए इस प्रकार के सब अवरोध हटाये जाने चाहिए। इसीलिए योग वह साधन है जिसके द्वारा हम बुद्धि (विकार), चित्तवृत्तियों तथा प्राणों को संयमित करके बाद में स्थिर कर देते हैं। जब चित्तवृत्ति और प्राण स्थिर हो जाते हैं तब 'चित्' अथवा परमात्मा अपने स्पष्ट रूप मे उपस्थित हो जाता है। वे बिना किसी अन्य प्रयास के मन तथा वस्तु को शक्ति में विलीन कर देते हैं। ये उसी से उद्भूत होते हैं ये इस शक्ति के नाना व्यक्त-स्वरूप हैं। यही शक्ति शिव में मिलकर शिव अथवा चेतन हो जाती है। योग इस चित्तोत्कर्ष में बाधक चित्त-वृत्तियों का निरोध कर शुद्ध (चित्) की ओर ले जाता है। यह काट-छाँट का कार्य विभिन्न नामों से विख्यात है। इस प्रकार की अनुभूतियों को हटाने से सत् चित् का आविर्भाव होता है। इस अवस्था को समाधि कहते है। यह परमानन्द की अवस्था है, जिसमें जीवात्मा-परमात्मा एकरूप हो जाते हैं। यह अनुभव तब प्राप्त होता है जब प्राण और मन विलीन हो जाते हैं और सब संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते है। यह सम रसत्व की अवस्था आत्मा की सहजावस्था है। इससे पहले वृत्तियों का उत्थान-पतन रहता है। "मेरा-तेरा" का भेद नहीं मिटता है। समाधि की अवस्था नमक की कंकड़ी के समान है, जो पानी से मिलकर एक हो जाती है। कुलार्णव तन्त्र के शब्दों में यह वह ध्यानावस्था है जिसमें अथाह समुद्र के समान गाम्भीर्य और उच्चता है लेकिन स्वयं अपने में शून्य है।

हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है कि राजयोग, समाधि, मनोन्मनी, उन्मनी, अमरत्व, शून्य, अशून्य, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क (मानसिक स्थिरता), अद्वैत, (द्वैतभाव का नाश), निरवलम्ब, निरंजन (निष्कलंक), जीवनमुक्ति तथा तुरीयावस्था (चतुर्थावस्था), सहजावस्था (आत्मा की प्राकृतावस्था) आदि सभी का एक ही अर्थ है मन की स्थिरता तथा सुख-दुख पूर्ण कर्मों से मुक्ति। यही निर्विकल्प अवस्था है। शरीर का यह विलीनीकरण विदेहावस्था अथवा परम मुक्ति की ओर ले जाने वाला है। यही अमर-जीवन की वास्तविक अवस्था, स्वरूप अवस्थान है।

लेकिन इस अवस्था के सम्बन्ध में कुछ ऐसी शारीरिक क्रियाओं के अभ्यास की आवश्यकता है जिन्हें रहस्यमय क्रियाएँ कह सकते है। हठयोग की साधना में 'पवन' तथा 'मन' परस्पर सम्बन्धित हैं। "जो श्वास पर अधिकार कर लेता है, वह मन पर अधिकार कर सकता है और जो मन पर अधिकार कर लेता है, वह श्वास पर अधिकार कर सकता है" (हठयोग प्रदीपिका ४.२२)। "चित्त के दो कारण हैं—वासना तथा समीरण, दोनों में से एक का विनाश करने से दूसरा स्वतः ही विनष्ट हो जाता है" (ह० प्र० ४.२२)

योग वसिष्ठ मे मनम् तथा प्राण की अन्योन्याश्रयता के सम्बन्ध में कहा गया है कि श्वास और प्राणियों की चेतना का सम्बन्ध बिलकुल वैसा ही है जैसा पुष्प और गन्ध का अथवा तेल-बीज और तेल का। हठयोग प्रदीपिका के एक श्लोक में मन को वश में करने की यह विधि लिखी है—"मन इन्द्रियों को, श्वास मन को तथा श्वास को 'लय' वश में करने वाला है। 'लय' अथवा तल्लीनता नाद पर निर्भर है" (हठयोग प्रदीपिका ४.२९)। इस नाद का अर्थ है 'अनाहत' अथवा बिना चोट की हुई ध्वनि। इसी 'अनाहत नाद' में 'ज्ञेय' रहता है, जिसमें मन स्थित रहता है। जहाँ मन लय हो जाता है, वहाँ परमावस्था होती है। जब वे श्वास को ब्रह्म रन्ध्र के शून्य में चढ़ा लेते हैं तथा मन को अनाहत में लीन कर देते हैं तो योगी रहस्यमय अनुभव करते हैं। कबीर भी ऐसा ही कहते है—"कुम्भ में जल है और जल में कुम्भ है। अन्दर भी जल है तथा बाहर भी। जब कुम्भ रूपी व्यवधान हट जाता है तो पानी पानी में मिल जाता है—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तथ कथ्या गियानी ।।

इसी प्रकार अन्दर भी शून्य है, बाहर भी शून्य है, और चारों ओर शून्य है (कबीर ग्रन्थावली पद ४४)। शून्य का ज्ञान तभी तक रहता है, जब तक योगियों को शब्द ज्ञान रहता है। जैसे जैसे शब्द लय होता जाता है, वैसे वैसे ब्रह्मत्व छाता जाता है (हठयोग प्रदीपिका ४. १०१)। यह अवस्था, जब मन शब्द में लगा रहता है, योगियों के शब्दों में 'सुरति' कहलाती है। जब वह शब्द में लीन हो जाता है तो उस अवस्था को निरति कहते हैं।

सुरति, निरति, शब्द, अजपा, तथा सहज शून्य संत काव्य के कुछ सामान्य शब्द हैं। सुरति अथवा शब्द-योग सबसे उपयुक्त साधन है; जिसे संत आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयोग में लाते हैं। सुरति-शब्दयोग संतों का आविष्कार नहीं है। हां, संत-युग से पहले यह इतना प्रचलित नहीं था। 'सुरत' को सामान्यतः सुरत्ति कहते हैं। यह शब्द सुरति से व्युत्पन्न दीख पड़ता है

जिसका संबन्ध अन्तर्ध्वनि के श्रवण से जोड़ा जाता है। कुछ लोग इसे स्रोत से व्युत्पन्न मानते हैं जिसे दार्शनिक भाषा में मन का प्रवाह कहते है। इसलिए सुरति-शब्दयोग जो शब्द का प्रतीक है, सुरति का स्थान है। यह निरति में परिणत हो जाता है। यहाँ पर चित्तवृति शब्द में लीन हो जाती है। यह न तो बाहर से आता है और न इसका कारण कोई मन्त्र है। एक प्रकार का शब्द हमारे अन्दर और बाहर होता रहता है जो 'अनाहत' या अनहद नाद, अथवा अनुरणनहीन ध्वनि कहलाती है। निर्गुणी इसे 'अनहद' कहते हैं। गुरु के आदेश के अनुसरण से साधक उस पथ पर पहुँच जाता है जिसमें मन असम्प्रज्ञात समाधि अथवा निरति में लीन हो जाता है। नादबिन्दूपनिषद् में इस विषय का विस्तृत उल्लेख है। ध्यानबिन्दूपनिषद् तथा शिवसंहिता ने भी अनाहत शब्द की महिमा गायी है।

डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने "सुरति को दिव्य स्मृति कहा है" जो जीवात्मा अपने साथ लाती है। वे कहते हैं "यही तत्त्व प्रमुख है जिसके द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है।" बच्चों में यह स्मृति सद्य रहती है। उनके भोलेपन में अंग्रेजी कवि वर्डसवर्थ ने इसकी झलक देखी है। निर्गुणी जब पुनः बालक होने की बात कहते हैं तो उनके सामने शैशव रहता है। यह स्मृति वयोवृद्धि के साथ धीरे-धीरे धुँधली होती जाती है और मानव स्वार्थपूर्ण कार्यों में रत हो जाता है। बालकों का सहज उत्साह जो साधारण घास की पत्तियों, वयः प्राप्त लोगों द्वारा पददलित तुच्छ कुसुमों, नन्हीं तितलियों तथा अन्य असंख्य छोटी-छोटी वस्तुओं को अनुपम सौन्दर्य प्रदान करता था, अब हृदय को आनन्द से विभूषित नहीं करता। हृदय तन्त्रियाँ ढीली हो जाती हैं और आनन्द-संगीत से आन्दोलित नहीं होतीं तथा शैशव में तीव्र रहने वाला प्रत्येक स्पर्श शिथिल हो जाता है।

"Trailing clouds of glory do we come
From God who is our home,
Heaven lies about us in our infancy.
Shades of the Prison-house to close upon
The growing boy. —*Wordsworth*

और वयः प्राप्त मनुष्य इस 'बन्दीगृह' को अपना स्वाभाविक घर समझने लगता है, लेकिन तब भी कभी-कभी दिव्य ज्योति उसकी स्मृति में आभासित होती है और विश्व के पीछे उस रहस्यमय अज्ञात, क्रियाशील शक्ति के धुँधले अनुभव के कारण वह अपने को संसार से दूर समझता है। यह झलक कई कारणों से आती है। सांसारिक सुखों की अस्थिरता तथा उसके दुखों की क्रूरता उसे इस ओर प्रेरित करती है, लेकिन अनुकूल परिस्थितियों के अभाव में

वह विस्मृति में छिप जाती है। दिव्य स्मृति के लिए सांसारिक दुखों तथा क्रूरताओं की प्रतीक्षा करना बुद्धिमानी नहीं है। यह संभव है कि ये उतनी तीव्रता से न आयें जिससे हमारा अस्तव्यस्त यंत्र क्रियाशील हो सके।

इस सुरति को निश्चित रूप से जाग्रत करने के लिए उन लोगों की संगति आवश्यक है, जिन्होंने समीरण से स्मृति की चिनगारी को अग्निशिखाओं में परिणत कर दिया है और इस संसाररूपी बन्दीगृह की दीवारों को भस्मसात् कर डाला है—ये ही संत है। संतों की संगति एक ऐसा आध्यात्मिक वातावरण उपस्थित कर देती है जो आत्म-संस्कार के लिए आवश्यक है। संत लोग आत्म-प्रकाश के वास्तविक केन्द्र हैं। इसलिए निर्गुणियों ने उनकी संगति की बहुत महत्ता बताई है।

कुछ लोग सुरति की व्युत्पत्ति 'स्मृति' से मानते हैं और कुछ स्वरति (आत्म-रति) से मानते हैं। यह मानने में हमें भी कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन निरति शब्द की व्युत्पत्ति आशा से मानने को हम तैयार नहीं है। डा० बड़थ्वाल के अनुसार सुरति का अर्थ है 'दिव्य मूल का स्मरण'। इस विवेचन से हमें कोई आपत्ति नहीं है। साधना-पथ में गुरु के शब्दों का स्मरण भी इसका एक युक्ति-संगत अर्थ हो सकता है। इसका अर्थ हो सकता है नाद में ध्यान लगाना, जो मन की वृत्तियों को आकर्षित करता है और कुछ दिन के अभ्यास से अपने में लय कर लेता है। निरति इससे ऊँची अवस्था है जो सुरति की पूर्णता के पश्चात् आती है। निरति वही अवस्था है जो असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था कहलाती है। निर्गुणी इसे सहजावस्था कहते हैं। कबीर के अनुसार सुरति निरति में विलीन हो जाती है—वही मुक्तावस्था है। उनके लिए यह सुख का ही पर्याय है क्योंकि उनका विश्वास है कि सुरति परमानन्द में लीन हो जाती है। यहाँ मृत्यु का भय नहीं रहता है। यही परमानन्द की अवस्था है। यह निराधार अवस्था है। इसमें किसी अवलम्ब की आवश्यकता नहीं होती। मन निराधार होकर विलीन होजाता है। यही आत्मस्थता की अवस्था है जो दुख सुख से विमुक्ति की स्थिति है।

साक्षात्कार के साधन के रूप में अजपा-जाप निर्गुणियों ने निश्चय रूप से गोरखनाथ के सम्प्रदाय से लिया है। मन की तन्मयता तथा श्वास का साधन अजपा-जाप से पहिले की अवस्था है। गोरक्षपद्धति में अजपा-जाप को गायत्री मन्त्र की तरह माना गया है जो योगियों की मुक्ति पर प्रभाव डालता है। यह दिन-रात श्वास प्रक्रिया के साथ चला करता है। प्राण वायु हकार के रूप में बाहर आती है और सकार के रूप में अन्दर जाती है। इस प्रकार जीवात्मा 'हंस-हंस' का मन्त्र-जाप निरन्तर करती रहती है। निर्गुण सम्प्रदाय में हम जाप का रूप

अधिक परिष्कृत पाते हैं; यह जाप की अन्तिम अवस्था है। मलूकदास के शब्दों में सुमिरन अथवा जाप इस प्रकार करना चाहिए कि दूसरा न देख सके; यहाँ तक कि ओठ भी न हिलें और प्रेम भी गुप्त रखना चाहिये। इसके लिए माला अथवा हाथ की आवश्यकता नही है। साधक जिह्वा से भी राम का उच्चारण नहीं करता है। उसका जप हरि द्वारा होता है, वह शान्तिपूर्वक विश्राम करता है। वह तन्मयता तथा सतर्कता की उस अवस्था में पहुंच जाता है जिसमें पनिहारी रहती है। वह चलती है, वार्तालाप करती है, लेकिन उसका मन घड़े की तरफ लगा रहता है। वह क्रियाशील रहता है, बाह्य रूप से संसार में रहता है, लेकिन उसका मन दिव्य स्मृति में लगा रहता है। उसका सम्पूर्ण जीवन दिव्य शक्ति के स्मरण में तथा गुरु-शब्द के ध्यान में रहता है, एक श्वास भी व्यर्थ नहीं जाती। संत वाणी संग्रह में कबीर इसी प्रकार के स्मरण का आदेश देते हैं—"अपना ध्यान स्मरण में लगा दो, लेकिन मुख से कुछ न बोलो। इन्द्रिय-कपाटों को संसार से बंद करलो और इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनालो।" "सचमुच जब मन पर खुमारी छा जाती है तब मुख के शब्द की आवश्यकता नहीं रहती है।" दादू कहते हैं—"सहजावस्था में ध्यान अन्तर्वर्ती हो जाता है। साधक मन ही मन हरि-हरि स्मरण करता है; मुख से कुछ नहीं कहता है।"

यहाँ शब्द का परिचय दे देना असंगत न होगा। वेदों में हमें शब्द का परिचय शब्द ब्रह्म के नाम से मिलता है। उपनिषदों में शब्द ब्रह्म ओ३म्कार के लिए प्रयुक्त होता है। कठोपनिषद् कहता है—"यह शब्द ही ब्रह्म है। यह सर्वोच्च है। इसका ज्ञान उच्चाभिलाषी को उससे मिला देता है, जिससे मिलने की उसकी इच्छा है। निर्गुण सम्प्रदाय में इसका अर्थ ओ३म्कार और गुरु शब्द दोनों ही हैं। गुरु नानक की प्राण संगली में ओ३म्कार का बड़ा विस्तृत वर्णन है। इस संसार में, दृश्य-अदृश्य में ऐसा कुछ नहीं जो ओ३म्कार की परिधि से बाहर हो। दादू कहते हैं—'शब्द' शिष्य को गुरु द्वारा दी हुई शिक्षा है। यह और कुछ नहीं, केवल सत्य है जो उसे सहज स्वाभाविक अवस्था में ले जाता है, जो प्रिय का स्थान है (दादू वाणी ३,८,६)। आगे ये शब्द का चिन्तन करने का आदेश देते हैं जिसमें मन लगा रहता है। "यह गुरु की शिक्षा है जो सहजावस्था में लीन होने में सहायक होती है" (दादूवाणी ३,१०,११)। शब्द ही बन्धन है, शब्द ही मुक्ति है, शब्द ही निर्माण है, शब्द ही विध्वंस है (दा० वा० भाग २,२३,७,८)

शून्य शब्द का भी बड़ा लम्बा इतिहास है क्योंकि समय-समय पर उसके अनेक अर्थ किये गये हैं। इसका बीज ऋग्वेद में उस स्थान पर खोज सकते हैं जहाँ सृष्टि के पूर्व की दशा का इन शब्दों में वर्णन है—"तब न सत् था और न

असत्'' (ऋग्वेद १०–१२९–१), ''तब न मृत्यु थी और न अमरता'' (ऋग्० २), ''तब उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था, कौन जान सकता है, कौन कह सकता है कि कब और कैसे यह अद्भुत सृष्टि स्थिति में आई'' (ऋग्० ६)

उपनिषद् में दी हुई आत्मा की परिभाषा शून्य के अतिरिक्त कुछ और नहीं प्रतीत होती। परमब्रह्म के स्वरूप का विवेचन करते समय किसी निश्चित परिणाम पर न पहुंच सकने के कारण ऋषियों ने उसे निराकार घोषित कर दिया था।

'नेति नेति' की उक्ति धीरे-धीरे विकसित होते-होते सतर्क तथा निश्चित रूप से आध्यात्मिक चेतना, निर्वाण की अवस्था में पहुँच गई। बौद्ध विचार-धारा के प्रमुख सिद्धान्त क्षणभंगुरतावाद, अनात्मवाद निर्वाण से उपलब्ध शान्ति पर आधारित हैं। शून्यता का सिद्धान्त बौद्धों ने बड़ी गहनता से आत्मसात् किया तथा अन्य विद्वानों ने भी इसका पर्याप्त अवगाहन किया। महायान साहित्य, अश्वघोष के काव्य साहित्य तथा नागार्जुन के साहित्य ने इसके साथ पर्याप्त न्याय किया है। नागार्जुन की परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि शून्य केवल नास्तिसूचक नहीं है।

''वह जो शून्य से सम्बन्धित है, वही सबसे सम्बन्धित है और जो शून्य से अलग है वह सबसे अलग है।''[1]

यह सिद्धान्त बड़े अद्भुत ढंग से किसी मध्ययुग के विचारक ने स्थापित किया था कि प्रत्येक वस्तु अस्थायी है तथा परिवर्तनशील है; इसीलिए वह शून्य है; यह शून्य ही सत्य है; यही महान् सत्ता है।''

तन्त्र साहित्य ने इसके अर्थ में निश्चित परिष्कार किया। गायत्री मन्त्र के अनुसार अकेले शून्य की पूजा ही बिना किसी न्यास अथवा प्राणायाम के सभी कुछ पवित्र कर देती है (परिच्छेद १)।

कामधेनु तन्त्र का विश्वास है कि शून्य का ज्ञान सब शून्यों से महान् है। यह सम्पूर्ण शून्य है, पवित्र है तथा असत्य और अशुचिता से रहित है। इसकी ज्योति दस-सहस्र सूर्यों के समान है (पाताल ११)। उस ''शून्य' का जाप करना चाहिये जो हृदय-क्षेत्र में प्रकाशित है'' (पाताल २१)।

और ज्ञान संकलिनी तन्त्र कहता है—''परमात्मा ही शून्य है जहाँ मन लीन होता है'' (३३), ''शून्य तत्व ही जीवन है'' (३४ वही)। आगे कहता है—''आराधना मन को शून्य में लीन करने को कहते हैं, अन्य प्रकार के ध्यान को साधना का नाम नहीं दिया जा सकता'' (५४ वही)

---

[1] देखिये, नागार्जुन का माध्यमिक सूत्र।

इस प्रकार 'शून्य' चेतना का कोष बना दिया गया। महाप्रभु महादेव कहते हैं—"मैं रुद्र हूँ, मैं शून्य हूँ, मैं सर्वमान्य और निर्गुण हूँ" (८५ वही)। मध्य युग के संतों ने शून्य को अपनी तरह ही ग्रहण किया। मूर्ति पूजकों के लिए वह विभिन्न मूर्तियों के रूप में पवित्रता का केन्द्र बन गया। निर्गुणियों के लिए वह असीम की अभिव्यक्ति की एक पद्धति है। यह उनके सहज, समरस, एकरस सिद्धान्तों से मिल भी गया है।

कबीर की समन्वयात्मक प्रतिभा शून्य का अर्थ केवल 'नहीं' मानकर ही सन्तुष्ट नहीं हुई, यह उनकी पदावली के प्रश्न-उत्तरों से स्पष्ट है। "क्या यहाँ केवल शून्य है ?" उत्तर में वे अपने को सचेत करते हैं "राम-प्रेम-हीन कोरे शून्य का स्नेही मनुष्य "अपनपौं" (आत्मा) बिसार देता है।"

(अष्टपदी रमैनी पृ० २३९)

फिर वे पूछते हैं—जाति क्या है ?—"पानी और पवन के संयोग से हुई उत्पत्ति ! जब शून्य में शब्द समा जायेगा तब जाति किसको कहा जायेगा ?"

(वहीं से)

"हमारे शरीर के शून्याकाश में अनाहत नाद गूँजता रहता है, उसी शून्य में हमारा मन भी लीन रहता है।" (वहीं से)

"हमारे भीतर ही गंगा यमुना हैं, और यहीं सहज शून्य का घाट है।

(कबीर ग्रन्था० लै का अंग, ३)

"सहज शून्य ही अमर वृक्ष है जो समस्त विश्व को पृथ्वी और पानी सहित अपने में समाहित कर सकता है" (परिशिष्ट १०८)। "शून्य असीम है जो सभी बन्धनों से परे है।" (परि० ११)

"यह शून्य रिक्त नहीं है। यह जीवों का निवास स्थान है।" (गुरु शिक्षा हेरा अंग ७)। "श्री कमलाकान्त यहीं बारह दलों के कमल में रहते हैं।"

"शून्याकाश में बजते हुए 'अनहद' नाद के साथ मेरा मन नृत्य कर रहा है।" (वही पद ७२)

"इसी शून्य प्रदेश में मैंने अपना निवास स्थान बनाया है, जिससे मैं इस रस में सदा डूबा रहूँ।" (पद १५४)

"यही सत्ता शून्य है जिसमें कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं रहता।"

(पद २११)

"यदि कोई शून्य में लीन हो जाता है तो जीवन-मरण का भ्रम मिट जाता है।" (वही ७३)

"लेकिन कबीर कहते हैं—"बन्धन और भ्रम छूट जाते हैं तब जीवित अवस्था में ही हमारा मन शून्य में प्रवेश कर जाता है।" (वही ६३)

"जब व्यक्तिगत शून्य, विश्व शून्य में विलीन हो जाता है तो जीव समदर्शी हो जाता है और वायु के समान सूक्ष्म हो जाता है।" (वही २४)

"जीवन-मरण के चिर बन्धनों को तोड़ने के लिए जीव को शून्य में प्रवेश करना चाहिये।" (वही ६१)

दादू को भी अपने गुरु कबीर की तरह शून्य का अर्थ है केवल रिक्त मान्य नहीं था। वे घोषणा करते है "आपका रिक्त को नाम देने का क्या तात्पर्य है जिसमें कोई सत्ता नहीं है।" (दादूवाणी ७२५)

"समस्त विश्व अवास्तविकता को सत्ता समझकर भ्रम में पड़ा रहा है।" (वही ७९५)

दादू ने स्वीकार किया है कि "सहज ज्ञान ही असीम है, जिसका कोई आकार नहीं है, कोई सीमा नहीं है और जिसे सामान्य मनुष्य त्याज्य समझता है।" (वही भाषा अंग २६)

"जो अपने आवेगों को भस्मसात् कर देता है, सहज में रहता है और शून्य की आराधना करता है वह विश्वज्ञान प्राप्त कर लेता है और चिरविजयी हो जाता है।" (वही, राग विलावल ३४९)

"ईश्वर शून्य सरोवर में कमल है और मन भ्रमर है।" (दादूवाणी ५२·१९७)

दादू ने तीन प्रकार के शून्य माने हैं—(१) काया-शून्य (२) आत्मा-शून्य (३) परम शून्य। काया-शून्य में पाँच इन्द्रियाँ हैं। आत्मा-शून्य में जीव प्रकाशित होता है और परम शून्य में ब्रह्म से मिलन होता है। (दादू वाणी पृ० ६० पंक्ति ६—७)

सन्तवाणी में हमें ब्रह्म शून्य का उल्लेख भी मिलता है वहाँ असीम, अपार, निराकार ब्रह्म रहता है। इसी सहज शून्य में प्रेमलीला चल रही है। (वाणी ५४-५५)

सहज शून्य ही सभी सूर्य, चन्द्र और आकाश मण्डल का आधार है। इसी में क्षिति, जल, पावक और समीर अभिव्यक्ति पाते हैं। काल, आवेग, आत्मा, मन और इसके आकार-विस्तार सभी का मूल स्रोत यही है। यही ईश्वर का स्थान भी है। सहज शून्य सबके साथ है। (परचा अंग ५४-५५)

गुरु नानक का विश्वास है कि यहाँ न दिन था और न रात, न सूर्य था और न चन्द्र। उसकी समाधि शून्य थी (ग्रन्थ साहित्य-राग मारू)। यह शून्य ही है जिसका योगी ध्यान लगाते हैं (ग्र० सा० असना अष्टपदी)। प्राण संगली में शून्य का विस्तृत विवेचन है। प्रथम परिच्छेद में बतलाया गया है कि किस प्रकार ईश्वर ने शून्य से नाना रूपात्मक जगत् बनाया (पृष्ठ १)। दूसरे परिच्छेद में परमात्मा के ध्यान के बारे में बताया गया है। हम नानक के शून्य में लीन होने के

विषय में पढ़ते हैं। वे वहाँ से अमूल्य हीरा प्राप्त करते हैं (पृष्ठ ८)। तीसरे परिच्छेद में शून्य से जीवन के विकास का निरूपण है (पृष्ठ १७)। वहाँ वे कहते हैं "सब शून्य-शून्य कहते हैं, ईश्वर स्वयं ही शून्य के ध्यान में लीन है। जब वे स्वयं ही शून्य के ध्यान में लीन हैं, फिर कौन गुरु और कौन चेला ?"

(पृष्ठ १६)

"जबकि उस अन्धकार में ईश्वर अकेले थे तब वे स्वयं गुरु थे, वे स्वयं शिष्य थे" (वही, १६)। "शून्य में ही सफल सहज है" (वही पृष्ठ ६, ३६)। "केवल वही शून्य संन्यासी है जो शून्य को समझता है।" (पृ० ६-५८)

"मुअज्जिन को अनहद नाद सुनने के लिए अज़ान देने दो तथा शून्य की मस्जिद के सामने सिर झुकाने दो।" (पृष्ठ १०-६४)

सहज-भाव अथवा सहजावस्था आत्मा की प्रकृत अवस्था है। यहाँ सभी शारीरिक दुःखों की अनुभूतियाँ समाप्त हो जाती है। इन्द्रियों का कार्य यन्त्र-वत् तथा सहज हो जाता है, मानसिक वृत्तियाँ जो बन्धन का कारण हैं, विलीन हो जाती हैं और समरसत्व आ जाता है। शत्रु-मित्र नहीं रहते, कुछ भी दुखमय और सुखमय नहीं रहता। इसी अवस्था में इन्द्रियों के वस्तुओं के सम्पर्क में आने पर भी मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होते। "इन्द्रियाँ कार्य करती हैं लेकिन उस मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जो शून्य में लीन होकर स्थिर हो जाता है।" यहाँ पुत्र, कलत्र, धन तथा काम के लिए कोई आकर्षण शेष नहीं रह जाता है। यहाँ कबीर भी राम से एक होकर मिल गये हैं। "यह अवस्था तब आती है जब मन और श्वास एक दूसरे में लीन हो जाते हैं।" (दादू वाणी, पृष्ठ ७ पंक्ति ६)। "मन के दो गुण नष्ट हो जाते हैं। अब वह निष्कलंक और पवित्र है। उसके लिए शीत और गर्मी की अनुभूति समान है। वह अब प्रकृत अवस्था में है।" (दादू वाणी, पृ० १०७ पंक्तियाँ ८, ६, १२, १३)। यह शब्द-समाधि का समानार्थक है।[१]

इस चिन्तन परम्परा का सन्तों की अभिव्यक्ति शैली पर भी प्रभाव पड़ा है। निर्गुणियों का समस्त काव्य समूह मुक्तक है और प्रकृति चित्रण तथा चरित्र चित्रण के लिए उसमें बहुत कम स्थान है। हाँ, मुक्तक में एक छोटा प्राकृतिक दृश्य अवश्य दिखाया जा सकता है, तथा काव्य सौन्दर्य का परिचय दिया जा सकता है, लेकिन पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के शब्दों में "संत मूल रूप में कवि नहीं थे।" उनके लिए कविता कविता के लिए नहीं थी। उन्होंने व्यवसायी कवियों को धिक्कारा है। कबीर उन्हें समय का पिछलगू कहते हैं, उन्हें वास्तविक रूप में कुछ भी प्राप्त नहीं होता। उनका कथन है कि कवि

---

१ देखिये, गो० प० तथा ह० यो० प्र०

कविता करते हैं और मर जाते हैं। 'कविता कविता के लिए' उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखती। उनके लिए कविता साधनमात्र थी। उन्होंने जो कुछ कहा है वह कवित्व की दृष्टि से नहीं कहा। फिर भी उनकी वाणी में अनेक स्थलों पर कविता फूट पड़ी है। जहाँ प्रेम की अभिव्यंजना है, जहाँ सम्बन्ध की भावना है, वहाँ संयोग और वियोग दोनों पक्षों में कविता ने स्वरूप सँवारा है। उपदेशों और डाँट-फटकारों में कविता उनसे दूर चली गई है। सामाजिक आलोचना में भी कविता को देखना व्यर्थ है, किन्तु हृदय के प्रत्येक तार से काव्य की झंकृति सुनाई पड़ती है।

संतकाव्य के चिन्तन-पक्ष में कविता के लिए कोई अवकाश नहीं था। चिन्तन काव्य का एक अंग बन सकता है, किन्तु वही सब कुछ नहीं हो सकता है। संतकाव्य में अनेक स्थलों पर चिन्तन 'सर्वेसर्वा' बन गया है अतएव वहाँ कवित्व भी साकार नहीं हो पाया है। फिर भी संतवाणी में जो स्थल कवित्वमय हैं वे ही उसे संतकाव्य के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त हैं। वे उन तक लोकवाणी में ही पहुँच सकते थे। संस्कृत और प्राकृत (जिनमें प्राकृत बहुत पहिले ही लोकभाषा के पद से हट चुकीं थी) धर्मग्रन्थों और काव्य की कलापूर्ण भाषाओं को उन्होंने अमान्य कहा है। वे न उनका उद्देश्य सफल कर सकती थीं और न सरलता का साधन थीं। न सन्त उन भाषाओं के ज्ञाता थे और न जनता ही उन्हें समझती थी। कबीर ने संस्कृत को 'कूपजल' कहा है और 'भाषा' को 'बहता नीर'। जब कभी किसी भी संत ने संस्कृत में रचना करने का प्रयास किया, उसका परिणाम हास्यास्पद ही सिद्ध हुआ। उनकी इस विचित्र भाषा को संस्कृत की नकल कहा जा सकता है। लोकभाषा का, जिसे वे दुगनी आवश्यकता के कारण प्रयुक्त कर रहे थे, प्रयोग काव्य क्षेत्र में नया न था। इन संत कवियों से एक ईसवी पहिले अमीर खुसरो ने विभाषा (हिन्दी, ब्रज, अवधी, खड़ी बोली) में कलापूर्ण पदावलियाँ लिखी थीं, परन्तु उन्होंने गोरखनाथ के पदचिह्नों का अनुसरण किया क्योंकि उन्होंने व्याकरण तथा छन्द के बन्धनों को अमान्य माना है। उनकी अपनी संक्षिप्त विधि थी, जिसमें वे अपने विचारों को अपनी तरह प्रस्तुत करते थे, जिससे उनकी कविता में खुरदरापन आ गया था। रामानन्द के संसर्ग ने भी निर्गुणियों को लोकभाषा के प्रयोग के लिए बाध्य किया। समस्त निर्गुण सम्प्रदाय में केवल सुन्दरदास सुशिक्षित व्यक्ति थे। वे इनके द्वारा काव्य के नियमों के अनादर के कारण क्षुब्ध थे और उन्होंने अपने काव्य में उनका पालन किया।

"संत काव्य ऐसी हिन्दी में लिखा गया है, जो खुरदरी, अपरिष्कृत, और कहीं कहीं ऊबड़खाबड़ है। इन्होंने साहित्यिक रूप तक पहुँचने का कम प्रयास किया है। वे इस बात की चिन्ता नहीं करते कि उनके शब्द हिन्दी, फ़ारसी

अथवा असभ्य हैं। जब तक वे परिचित लगते हैं तब तक उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं कि उनके वाक्य व्याकरण से शुद्ध हैं अथवा नहीं।" भावाभिव्यक्ति में भी निर्गुणियों ने पर्याप्त स्वतन्त्रता रक्खी है। भाषा और छन्द जो स्वतन्त्रता से प्रयुक्त हुए हैं, उनके अपने हैं। इसके दो कारण हैं—प्रथम, कुछ ही अपवादों को छोड़कर शेष सभी निर्गुणी अशिक्षित थे; द्वितीय यह है कि उन्होंने रामानन्द और गोरखनाथ का अनुसरण किया है, जिन्होंने संस्कृत के पंडित होते हुए भी अपने उपदेश लोकभाषा में दिये हैं। छंद को असावधानी से प्रयुक्त करने का प्रमुख कारण उनका काव्य के नियमों से अपरिचित होना है। उनके लिए भाषा केवल भावाभिव्यक्ति का साधन थी, वह स्वयं एक साध्य न थी। यदि विचारों को भाषा और अलंकारों में लगा दिया जाता तो उनका प्रमुख उद्देश्य नष्ट हो जाता। उन्होंने जिस सत्य का जीवन में साक्षात्कार किया था, उसे वे मनुष्यों को बिना किसी विघ्न-बाधा के सरलतम रूप में देना चाहते थे। वे अपने विचार जिस रूप में चाहते थे उसी रूप में अभिव्यक्त कर देते थे। जब उन्होंने स्वयं सरलतम विधि को खोज लिया था तथा उनके सम्मुख गुरुओं के दृष्टान्त प्रस्तुत थे, तब कोई कारण नहीं था कि वे उस राजमार्ग से विचलित हो जाते।

६

सूरदास

महाकवि सूरदास अष्टछाप के प्रमुख कवियों में से हैं। वे भक्त पहले है और कवि बाद में, किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि भक्ति के कारण किसी प्रकार से उनकी कविता का अलाभ हुआ है। प्रत्युत् भक्ति ने उनके कवित्व को जो कुछ दिया है, वह हिन्दी-काव्य-लोक की अक्षय निधि है। भक्ति एक भाव होने से काव्य में उसका समावेश 'सोने में सुगन्ध' बन जाता है। सूर के व्यक्तित्व के भावनाबहुल पक्ष ने ही उनकी कविता को 'गीतशैली' प्रदान की और गीतों को एक परम्परा प्रदान करने में अष्टछाप के कवियों का (जिनमें सूरदास प्रधान हैं) जो मूल्य रहा है, उसको हिन्दी कविता का इतिहास शायद भुला न सकेगा। पदों की परम्परा में भी सूरदास ने 'चार चाँद' लगा दिये। इन्हीं महात्मा ने हिन्दी साहित्य में वात्सल्य को पहली बार इतना महत्त्व देकर अपनाया और शृंगार के रसराजत्व को प्रामाणिकता भी सूर की लेखनी से ही उपलब्ध एवं सिद्ध हुई। भाषा के क्षेत्र में भी सूर की अनूठी देन है। जब तक साहित्यिक शोध-कार्यों में कोई इतर व्यक्ति व्रजभाषा का आदि कवि होकर प्रकट नहीं होता, तब तक सूर ही व्रजभाषा के आदि कवि के आसन पर शोभा पायेंगे, परन्तु इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि व्रजभाषा के मूल को स्थिर करने में सूर का बहुत बड़ा योग है। भावाभिव्यक्ति को एक नयी चेतना और नयी गति तथा मुक्तक को गरिमा प्रदान करने वाले भी यही महात्मा हैं। उनका प्रत्येक पद लोक की एक मुक्त झाँकी प्रस्तुत करता है, जिसमें अलौकिक अनुराग और दिव्यालोक विलास कर रहा है।

कहा जाता है कि सूर ने अपने 'सूरसागर' को सवा लाख पदों से सजाया था। सब पद प्राप्त न होते हुए भी केवल प्राप्त पदों से ही उनकी कृति का 'सागरत्व' सिद्ध हो जाता है। कहा तो यह भी जाता है कि 'सूर-सारावलि' और

'साहित्य लहरी' ये दो अन्य रचनाएँ भी सूर की हैं, किन्तु उनको अन्य रचनाएँ कहना उचित नहीं। 'सूर-सारावलि' वास्तव में 'सूरसागर' की ही एक 'पद्य-सूचनिका' है और 'साहित्य-लहरी' में सूर के 'कूटों' का संग्रह है। सूरसागर में भी ऐसे कूट पद मिलते है। इस दृष्टि से 'सूरसागर' ही सूर की महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें लौकिक जीवन के सम्बन्ध से पारलौकिक संकेत किये गये हैं, जिसमें बाल-केलियों और श्रृंगार-लीलाओं के रस-निधि मे चंचल मानव-मन को निमग्न करने का अतुल एवं अपूर्व प्रयत्न है।

'सूरसागर' स्पष्टतः एक भक्ति-ग्रन्थ है जिसमें भागवत पुराण को आधार माना गया है, किन्तु सूरदास की प्रतिभा ने भागवत के बाहर भी संचार करके 'अनुकरण' या 'आदान' पथ से रस-संचय किया है। इस दृष्टि से भागवतेतर ग्रन्थों में 'गीतगोविंद', 'ब्रह्मवैवर्त पुराण', 'गर्ग-संहिता' और 'विद्यापति-पदावली' का बड़ा महत्त्व है। फिर भी सूरसागर में ऐसे स्थलों का अभाव नहीं है जिनमें सूर की मौलिकता की झलक और छलक स्पष्ट है। ध्यान रखने की बात है कि सूर दार्शनिक नहीं थे। वे ऊँची कोटि के भक्त थे इसलिए दार्शनिक विवेचनाओं को लेकर चलने वाले भागवतीय प्रसंगों का अनुकरण सूरसागर में या तो बिलकुल ही नहीं हुआ, अन्यथा सूक्ष्म या सांकेतिक ही रह गया है; पर जहाँ उनकी भक्ति की तरंगें उठने लगी हैं वहाँ विस्तारों ने भागवत के विस्तारों से होड़ लेकर अपना विस्तार किया है। ऐसे स्थलों पर मौलिकता सूर की परिचित सहचरी बनी रही है। दशम स्कंध सूरसागर का सबसे बड़ा अंश है जिसमें लीलाओं के वर्णन ने अधिक से अधिक स्वतंत्रता, सरसता, चित्रोपमता एवं वैदग्ध्य प्राप्त किया है। इन्हीं वर्णनों में कृष्ण की बाल-लीलाओं को लेकर सूर के भक्त हृदय ने कल्पना का अतुल सामंजस्य प्राप्त किया है। इसी स्कंध ने अपने वात्सल्य-वैभव की विशेषता से सूर को न केवल हिन्दी जगत् में ही अपूर्वता और अमरता प्रदान की है, अपितु भारतीय साहित्य में उनके नाम को अतुल गौरव प्रदान किया है।

सूर का समय धार्मिक दृष्टि से बड़ी उथल-पुथल का समय था। अनेक सम्प्रदाय अपने-अपने मत से जन-जीवन को आन्दोलित कर रहे थे। कहीं सहजिया सम्प्रदाय का डंका बज रहा था तो कहीं सखी और राधावल्लभीय सम्प्रदाय का। यदि चैतन्य भक्ति के भाव-पक्ष की प्रबलता पर जोर दे रहे थे तो वल्लभाचार्य भक्ति के विधि-विधान एवं बाह्य रूप को प्रमुखता प्रदान कर रहे थे। इस युग में संतों का एक वर्ग मानवता की सामान्य भाव-भूमि पर जाति-पाँति के बन्धनों से परे, सम्प्रदायवाद से दूर, एक प्रभु ही की निष्ठा का प्रतिपादन कर रहा था। सूर ने भक्ति के क्षेत्र में वल्लभाचार्य का अनुकरण तो किया ही है, किन्तु भाव-पक्ष को प्रबलतर बनानेवाले चैतन्य महाप्रभु का

अनुसरण भी किया है। उन्होने 'प्रेमा भक्ति' के बल से मतमतान्तरों की खाई को मिटाकर जीवन में प्रेम की भूमिका प्रथित की है।

इसमें सन्देह नहीं कि सूर सगुणोपासक भक्त थे। वे वल्लभीय भक्ति-पद्धति में निष्णात परम भागवत थे। उनकी भक्ति-भावना पुष्टिमार्गीय थी। कहने की बात नहीं कि 'भागवत' पुष्टि मार्ग का महामान्य ग्रन्थ है और 'भागवत' में प्रतिपादित भक्ति भागवत सम्प्रदाय की भक्ति है। यहाँ यह कहना व्यर्थ होगा कि भागवत सम्प्रदाय बहुत प्राचीन है, कदाचित् महाभारत से भी प्राचीन, किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि पुष्टिमार्गीय भक्ति की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। उनमें से प्रमुख है बालकृष्ण के प्रति आकर्षण, किन्तु सूर ने जहाँ इस आकर्षण को स्वीकार किया है वहाँ राधा को भी मान्यता प्रदान की है। आलोचकों ने यह ठीक ही कहा है कि सूरदास जी ने कृष्ण के मानव रूप को ही प्रधानता दी है; फिर भी वे उनके अतिलौकिक दिव्य रूप के चित्रण का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं। यह दूसरी बात है कि मानवीय रूप की स्वाभाविकता के कारण उनका अलौकिक रूप दब-सा गया है। कृष्ण के रूप सौन्दर्य के वर्णनों, उनकी क्रीड़ाओं और चेष्टाओं के निरूपणों तथा विभिन्न संस्कारों, उत्सवों और समारम्भों के विवरणों में सूर की मौलिकता का विलास स्पष्ट है; पर साथ ही कृष्ण की अलौकिकता से मुद्रित सूर की भक्ति-भावना विभूषित भी होती चलती है।

गोपियों के चित्रण में भी सूर की मौलिकता स्पष्ट है। गोपी-प्रेम का आदर्श राधा की दशा की प्राप्ति है। इसी कारण किसी गोपी का व्यक्तित्व पृथक् रूप से विकसित नहीं हो पाया है। इससे गोपियों के चरित्र के विकास में बड़ी बाधा प्रस्तुत हुई है। भ्रमर-गीत में निरूपित गोपियों के सामूहिक रूप से भी यही प्रमाण मिलता है। भागवत की भाँति सूरसागर की गोपियों में किसी अतिप्राकृत तत्त्व का आरोप नहीं किया गया। सूर की गोपियाँ व्रज की भोलीभाली ग्राम-नारियाँ हैं जो अनेक मानवीय दुर्बलताओं का आवास बनी हुई हैं। यही कारण है कि वसन्त और फाग के अवसर पर वे अति प्रगल्भ दिखायी पड़ती हैं। सूर के गोपी-चित्रण पर चैतन्य की छाया होते हुए भी वह गौडीय वैष्णव आलंकारिकों के गोपी-चित्रण से भिन्न है।

राधा के वर्णन में सूर ने अपनी मौलिकता का प्रमुख परिचय दिया है। सूर से पहले के माने जाने वाले अनेक ग्रन्थों में, जिनमें ब्रह्मवैवर्तपुराण, गर्ग-संहिता, गीतगोविन्द, विद्यापति-पदावली एवं चण्डीदास के गीत प्रमुख हैं, राधा के चित्र इतने स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक और सरस नहीं हैं जितने वे सूर की लेखनी से हो गये हैं। उक्त ग्रन्थों की राधा की सभी विशेषताओं का समन्वय तो सूर की राधा में है ही, पर उसके प्रेम में जो स्वाभाविक विकास दीख पड़ता

है, उसी में सूर की प्रतिभा का गौरव है। सूर ने जिस कौशल से किशोरी राधा की संयत चपलता के चित्र प्रस्तुत किये हैं उसी कौशल से उसकी सरल बाल-चपलता के चित्र भी प्रस्तुत किये हैं। सूर की राधा का हृदय चाहे परकीया की तीव्र वेदना से पीड़ित न हो परन्तु स्वकीया की गम्भीर और स्वाभाविक उत्कंठा से उद्वेलित अवश्य है।

यह ध्यान में रखने की बात है कि राधा की भावना बालकृष्ण की भावना के साथ कहीं भी असंगति प्रस्तुत नहीं करती। चाहे सूर ने किसी पद को गीतगोविन्द की छाया में लिखा हो, चाहे ब्रह्मवैवर्त पुराण और गर्गसंहिता की छाया में लिखा हो और चाहे विद्यापति, चैतन्य व चंडीदास के अनुकरण में लिखा हो, सूर की मौलिकता के महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। सूर के मौलिक पारावार में ही भक्ति-उर की तरल तरंगों का विलास है। उन्हीं में उनके हृदय का वैभव देखने योग्य है। जो गौरव भागवत को नहीं मिल सका है, वह 'सूरसागर' को मिला है। यही सूर की मौलिकता है, यही उनकी प्रतिभा है और इसी ने सूर को हृदय का पारखी बना दिया है। सूर की परख में मनोविज्ञान की स्वाभाविकता और अनुभव की गहरी चोट है।

पुष्टि-मार्ग में भगवदनुग्रह का बड़ा महत्त्व है। पुष्टि या पोषण भगवदनुग्रह को ही कहते हैं। 'जाउँ कहाँ तजि चरन तिहारे' कहकर सूरदास किसी अन्य व्यक्ति या देव की शरण में जाना पसन्द नहीं करते। उनके सर्वस्व तो कृष्ण ही हैं। वे उन्हीं के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए दिखायी पड़ते हैं। यही भक्ति का प्रपत्तिवाद है, परन्तु वे राधा को कृष्ण से भिन्न नहीं मानते। वे उनको कृष्ण की परम शक्ति के रूप में ही स्वीकार करते हैं। गर्गसंहिता और 'नारद पांचरात्र' में भी राधा कृष्ण की अभिन्न शक्ति हैं। कदाचित् पाँचरात्र का प्रभाव भी सूर पर रहा हो। यही कारण है कि कृष्ण के साथ राधा की स्तुति या उपासना भी सूर को मान्य है।

सूर की भक्ति में नाम, रूप, लीला और धाम को बड़ा गौरव मिला है, किन्तु वे केवल 'कृष्ण' नाम के ही पीछे नहीं पड़ जाते। भगवान् के इतर नामों का भी उनकी दृष्टि में वही मूल्य है। राम, कृष्ण, हरि, गोपाल, गोविन्द आदि नाम उनको भेद-सूचक नहीं प्रतीत होते। इन नामों में तो वे कोई तात्त्विक भेद नहीं देखते, किन्तु कृष्ण का रूप सूर को परम प्रिय है।

कभी वे वैजयन्ती माला धारण किये हुए मोर-मुकुटधारी वंशीधर को मुग्ध होकर देखते हैं, तो कभी गुंजामाल धारण किये, पीताम्बर काछे हुए वनमाली के रूप-सागर में अवगाहन करते हैं। गायों के पीछे आते हुए कृष्ण का धूलि-धूसरित श्याम शरीर जितना गोपियों को मुग्ध करता है उतना ही सूर को भी। राधा की रूप-माधुरी कृष्ण की वदनद्युति को और भी आलोकित कर देती है।

लीला और धाम के सम्बन्ध में भी सूर का बड़ा आग्रह है। माखन-चोरी, कुंज-विहार, कन्दुक-क्रीड़ा, रास-लीला आदि अनेक लीलाओं का वर्णन सूर इस प्रकार करते हैं मानों वे दर्शक रहे हों और उनकी स्मृति से उतर-उतर कर प्रत्येक लीला उनकी कविता में रूप पा रही हो। जब वे अपनी कल्पना को भावना के पुट से काव्य में निरूपित करते हैं तो भक्ति-भाव की सहज सुरसा प्रवाहित होने लगती है। कृष्ण-लीलाओं में सूर का मन जितना निमग्न हुआ है उतना उनके गौरव और महत्त्व को देखने में नहीं। कृष्ण की लीलाओं में गोपियों का अभिन्न स्थान है। ऐसी बहुत थोड़ी लीलाएँ होंगी जिनमें गोपियों का परिग्रह न हो। गोपियों का आग्रह भक्त का आग्रह है, अनन्य भाव का निर्वाह है। फिर कृष्ण उनसे पृथक् होकर लीलाएँ क्यों करते। भगवल्लीलाएँ तो अनुग्रह-रूपा हैं। वे भक्तों के लिए मानों वरदान हैं। अनन्य भक्त ही उनका आनन्द प्राप्त कर सकते है। जिन लीलाओं के कारण भगवान् लीलाधर कहलाते हैं और जो उनकी मोहनी शक्ति को प्रत्यक्ष करती है, भला वे भक्त का प्राणधन और कण्ठहार क्यों न होंगी ?

लीलाओं के सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण के लीलाधाम कितने मनोहर बन रहे हैं, इस तथ्य को केवल भक्त-हृदय ही समझ सकता है। भगवान् के नित्य शरीर के संपर्क से भक्त-मन कहीं भी पावनता का अनुभव कर सकता है, किन्तु उनकी सगुण-माधुरी के संपर्क से कोई स्थल कितना महत्त्वशाली बन जाता है, इस रहस्य को सूर जैसे सगुणभक्त ही समझते हैं। व्रजराज की लीलाओं से व्रजधाम कितना आकर्षक बन गया है ? सूर को व्रज कितना प्रिय है ? उसके प्रति उन्हें कितना मोह है ? यह रहस्य उनके निवास-आग्रह से प्रकट हो सकता है। कई बार वे गोपियों के मुख से भी कहला देते हैं कि 'जहाँ राधा-कृष्ण नहीं, गौएँ और गोप नहीं, गोकुल-वृन्दावन नहीं, केलि-निकुंज नहीं और यमुना का शोभन पुलिन नहीं, चाहे वह वैकुण्ठ ही क्यों न हो, वह उन्हें कभी वांछनीय नहीं है।' यह आकर्षण न केवल धाम का महत्त्व बढ़ा देता है अपितु वहाँ के निवासियों और भाषा का भी महत्त्व बढ़ा देता है।

सूरदास जी तत्त्वतः दार्शनिक नहीं थे, वे भक्त और कवि थे। उनका लक्ष्य दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन नहीं था। उनके भक्ति-विभोर हृदय से जो मादक स्वर निकले, उन्हीं का संकलन सूरसागर है। उसमें स्वतन्त्र रूप से दार्शनिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा न होते हुए भी, उन सिद्धान्तों का अभाव नहीं है जो भक्ति-सागर के रत्नमात्र हैं। सूरदास जी की भक्ति कोरी भावुकता नहीं है। भक्ति-क्षेत्र में उनकी मान्यताएँ हैं जो चाहे उनकी समन्वयशीलता का ही परिणाम सही, किन्तु किसी सिद्धान्त पर आधारित अवश्य हैं। व्रजवास से पूर्व भले ही उनका मन माया और अविद्या को कोसता रहा हो, किन्तु बाद

में तो वह क्षोभमुक्त ही दीख पड़ता है मानों व्रजरज के स्पर्श से ही उन्हें परम-धाम प्राप्त हो गया था। नाम, रूप, लीला और धाम के वर्णनों में ही उन्हें चतुर्मुखी भक्ति की सिद्धि हो गई थी। इसको छोड़कर वे मोक्ष की विभिन्न कोटियों के पचड़े में क्यों पड़ते? यही कारण है कि सूरसागर में दार्शनिक सिद्धान्तों की कोई क्रमिक विवेचना दुर्लभ है। यद्यपि सूर के पदों में कोई कठोर साम्प्रदायिक आग्रह नहीं मिलता है, किन्तु सम्प्रदाय ने उन्हें प्रभावित तो किया ही है।

सूर ने इस मायात्मक जगत् से छूटने का एकमात्र उपाय हरि-भक्ति ही को माना है। उसके बिना जीवन व्यर्थ ही नहीं, भारस्वरूप भी है। जीव के तापत्रय का शमन भगवद्-भक्ति-धारा ही कर सकती है। उससे न केवल भौतिक क्लान्ति ही नष्ट होती है, प्रत्युत् मन और हृदय का कलुष भी नष्ट होता है। तभी मानव-मन उच्च भावों को प्रश्रय देने मे समर्थ होता है। उन्होंने ज्ञान, योग और वैराग्य को भक्ति का साधनमात्र मानकर भक्ति ही को साध्य माना है। जो तत्त्व ज्ञान और योग द्वारा अगम्य है उसको सूर ने भक्ति द्वारा सरल एवं सुलभ बताया है। इसका कारण भक्ति की साध्यता है, अतः वह स्वतः पूर्ण है।

यदि उदारता के लोचनों से देखा जाये तो सूर की भक्ति में शास्त्र-प्रतिपादित भक्ति के सभी प्रकार मिल जाते हैं जिसमें सामयिक प्रभाव और मौलिकता की छाप स्पष्टतः दीख पड़ती है। सूर ने उपदेशक का काम नहीं किया और न वे उपदेशक थे ही। वे तो हरि-प्रेमी भक्त थे, अतएव प्रेम के अनेक पहलुओं से उन्होंने चंचल एवं व्यग्र जन-मन को आकर्षित करके प्रेम-निमग्न करने का प्रयत्न किया है। उनके समकालीन समाज में भक्ति का जो परंपरारूढ़ रूप था और जो लोकगीतों आदि की परंपराओं में उद्दाम गति से चला जा रहा था, उसी को सूर ने अपनी कविता का आधार बनाया। उन्होंने प्रेम के प्रचलित प्रवाह को रोककर जन-रुचि को बदलने का कोई प्रयत्न नहीं किया, क्योंकि वे सुधारक नहीं थे, भक्त थे। सुधार के मार्ग से वे जन-मन को भक्ति तक नहीं ला सकते थे, इसलिए उन्होंने लोक-जीवन के मार्ग से जन-रुचि को भक्ति से आकृष्ट और सरसित किया। सूर के भक्ति-पदों में प्रेम के एक ऐसे राज-मार्ग की ओर इंगित किया गया है जिसमें अनेक जीवन-व्यापी वीथियाँ मिलकर एक हो जाती हैं और जिनके अनुसरण से लोक-पथिक परमार्थ सिद्ध कर सकता है। सूर ने जन-जीवन का गंभीर अध्ययन करके जो अनुभूति और प्रेरणा संचित की थी, वही उनकी भक्ति थी। यहाँ अभिव्यक्ति को कल्पना का सहयोग भी मिल गया। शायद ही कोई पद हो जिसमें भक्ति और कविता परस्पर सहयोगी न हों। काव्य-लोक में बहुत ऊँची उड़ती हुई भी सूर की कल्पना भक्ति के वायु-मंडल

से विलग नहीं हुई है। विस्मय की बात तो यह है कि उसमें लोक-जीवन का सत्य भी प्रतिष्ठित रहा है।

कहना न होगा कि वैष्णव भक्तों ने भारतीय संस्कृति की रक्षा में अपूर्व योग प्रदान किया था। जब भारतीय क्षितिज पर दुर्दिन की घटाएँ घिर रही थीं और संस्कृति का सूर्य उनसे आवृत हो चुका था, तब विदेशी संस्कृति का सोम दूसरी ओर से अपने मनोहर रश्मि-उद्वेलनों से जन-मन को मुग्ध करने लगा था। उस समय वैष्णव भक्तों ने सजग होकर हृदय का अवलंब लिया और उससे उद्गत भाव-धारा में लोक-मन को निमग्न करने का संकल्प किया। उनके प्रयत्नों की सफलता का साक्ष्य संस्कृति का इतिहास दे रहा है। सूफ़ी कवियों ने इस लीलाधाम में प्रेम-लीला के आरोपित संकेतों की अभिव्यंजना के लिए जिस स्वर का आलाप किया था उसको सूर ने सतर्क और व्यग्र होकर सुना। दक्षिण देश में सूफियों के स्वर बहुत पहले से ही प्रतिध्वनित हो रहे थे। वहाँ के अनेक वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को अग्रसर करके—उस भक्ति को जिसमें आरोपों के स्थान पर लोक-जीवन का समावेश था—सगुण प्रेम की प्रतिष्ठा की। अनेक प्रमाणों से स्पष्ट है कि दक्षिण के प्रयत्नों से उत्तर भी सचेत हुआ। श्री वल्लभाचार्य का मथुरा-आगमन कदाचित् उसी प्रेरणा का परिणाम था।

सूफ़ियों ने लौकिक संकेतों से जिस अलौकिक प्रेम का निदर्शन कराया था, उसी का निदर्शन सगुण भक्तों ने, विशेषतः कृष्ण-भक्तों ने भी कराया, किन्तु भिन्न मार्ग से। सूफ़ियों ने लौकिक संकेतों को निराकार एवं निर्गुण की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया था, किन्तु कृष्ण-भक्तों ने संकेत नहीं किये क्योंकि उन्हें अपने सगुण आराध्य के वर्णन के लिए ऐसे संकेतों की आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने अलौकिक का लौकिक वर्णन किया है, जिससे उपासना को व्यावहारिक रूप मिल गया है, जबकि सूफ़ी निर्गुण को हृदय तक लाने के लिए केवल आरोपों के पीछे पड़े हैं जो हृदय-देश के निवासी न होकर प्रायः बुद्धि-देश के ही विलासी रहे हैं। इस रहस्य को वैष्णव आचार्यों ने अच्छी तरह अवगत करके सगुण भक्ति की जो धारा प्रवाहित की वह भारतीय संस्कृति पर छाये हुए आवरण को दूर करने का प्रयत्न मात्र था।

सूर के पाठकों को यह तो विदित ही है कि सूर के हाथों में कृष्ण की माधुरी अलौकिक होते हुए भी लौकिक है। फिर भी उनकी लौकिक लीलाएँ अलौकिक की ओर संकेत किये बिना नहीं रहती हैं। यदि उनसे 'अलौकिक' ध्वनित न होता तो वे भगवल्लीलाओं के रूप में अपना महत्त्व खो देतीं। सच तो यह है कि सूर आदि लीला-गायकों ने 'अलौकिक माधुर्य' को इन्द्रियों का विषय बना दिया है, इसलिए वह हमारी केवल 'आध्यात्मिक' निधि ही न

रहकर जीवन-निधि बन गया है। वह उन इन्द्रियों का आकर्षण बन गया है जिनका लोक-संचरण प्रथित है और जो मन के संकेतों पर नाचती हैं। सूर ने इन्हीं इन्द्रियों के मार्ग से मन को 'कृष्ण-दास' बनाने का सफल प्रयास किया है। इस प्रकार सूर और उनके साथियों ने निराकार की निरवलम्बता से असहाय और व्याकुल लोक को न केवल आकर्षण ही दिया प्रत्युत् साकार का अवलम्ब भी दिया। इसी के फलस्वरूप हम देखते हैं कि कृष्ण अपने रूप और वेश से ही सुन्दर एवं मनोहर नहीं है बल्कि 'शक्ति-सम्पन्न' और शालीन भी हैं। जो सहचरों के आमोद के लिए जीतकर भी हार सकते हैं, वही महाभयंकर कालिय नाग को नाथकर व्रजलोक को उसके भय से मुक्त भी कर सकते हैं। जो कमल से कोमल और नवनीत से मंजुल है, वही मथुरा के अखाड़े में मुष्टिक और चाणूर को पछाड़ने के साथ-साथ कुवलयापीड के भयंकर दाँतों को भी उखाड़ सकते हैं।

रही शील की बात, सो कृष्ण दु:शील कहीं नहीं हैं। जो कृष्ण लोक-रंजक रूप धारण करते हैं, जिनमें लोक-मन को पकड़ने की क्षमता है और जिनके लोचनों से ओझल हो जाने पर व्रज-जन व्याकुल हो उठते हैं, उनकी दु:शीलता की कल्पना स्वतः दु:शीलता की प्रतीक है। सूर ने कृष्ण की जो लीलाएँ सहज लौकिक रूप में प्रस्तुत की हैं उनमें भक्त-मन की रंजनाशक्ति विद्यमान है। हाँ, किसी अभक्त को उनमें दु:शीलता का आभास हो सकता है, किन्तु बालकृष्ण की लीलाओं में उनके आरोप भी बालू की भीत ही रहते है। कृष्ण की बाललीलाओं में शील और दु:शील का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिये, क्योंकि बालचापल्य दु:शीलता की सीमाओं में कदापि आबद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार सूर ने कृष्ण और उनकी लीलाओं में लौकिक और अलौकिक का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया है जिसका साक्ष्य प्रत्येक पद से मिल रहा है।

जन-मन के आकर्षण के लिए सूर ने संगीत की जो लहरियाँ अपने पदों में निहित की हैं, वे भक्त-हृदय की ही नहीं, किसी भी संगीतज्ञ का अपूर्व धन हैं। काव्यत्व के साथ-साथ राग-रागनियाँ भी सूरदास की भक्ति-रचनाओं को अनुप्राणित कर रही है। राग-रागनियों की विविधता और नित्यकीर्तनमहोत्सव में उनकी प्रतिष्ठा सूर की संगीत-कला का प्रमाण है।

सूर के गीतों के सम्बन्ध में कुछ लोगों का यह विचार है कि वे गीत-परम्परा के परिभुक्त कवलमात्र हैं, किन्तु यह मान्यता उचित नहीं है। पदों की परम्परा शायद विद्यापति से भी अधिक प्राचीन है। विद्यापति के पदों से स्पष्ट है कि इतनी प्रौढ़ परम्परा विद्यापति से पहले की होनी चाहिये। उनसे कितने पहले की होनी चाहिये, इस सम्बन्ध में कोई निर्णयात्मक बात नहीं कही जा सकती है, क्योंकि साहित्य में आने से पूर्व कोई परम्परा लोक-साहित्य की

कसौटी पर परीक्षित हो चुकती है। जयदेव का 'गीतगोविन्द' यह संकेत करता है कि विद्यापति से पूर्व उनके-से गीतों की परम्परा का साहित्य में अवतरण हो चुका था। फिर भी यह मानना अनुचित नहीं है कि हिन्दी-साहित्य की गीत-परम्परा में, जिसमें विद्यापति के पदों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, सूर के पदों का प्रमुख सहयोग रहा है। यदि सूर की गीतधारा में आ मिलने वाली विद्यापति आदि की गीतावलियों का मूल्य आँकने लगें तो उसके निमित्त सूर के उस पद का सहारा ले सकते हैं जिसकी दो पंक्तियाँ ये हैं—"इक नदिया इक नार कहावत, मैलोहि नीर भर्यौ। जब दोनों मिलि एक बरन भये सुरसरि नाम पर्यौ।" इससे हमारे कहने का आशय यह है कि सूर की गीत-गंगा में मिलकर पद-परम्परा ने सच्चे मानी में गीतत्व प्राप्त किया। विद्यापति ने 'पदावली' लिखी और उनके पद गाये भी जाते थे, किन्तु उनमें राग-रागनियों की विवेचना नहीं दीख पड़ती। सूर ने अपने पदों मे राग-रागनियों के सूक्ष्म विभाजन से हमें गीत और संगीत के गहन सम्पर्क में प्रस्तुत कर दिया है।

कुछ आलोचकों का मत है कि सूर के सब पद 'गीत' की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते, केवल विनय के पद ही 'गीत' अभिधा के योग्य हैं। इस सम्बन्ध में उनका तर्क है कि विनयेतर पदों में आत्मप्रकाशन की प्रधानता नहीं है, अतएव विषयी गौण हो गया है। जहाँ विषयी गौण हो जाता है वहाँ विषय के प्रधान होने से गीत-तत्त्व का ह्रास हो जाता है। यदि इस तुला में हिन्दी साहित्य के गीतों को परखा जाये तो बहुत थोड़े गीत सामने आ सकेंगे। इस संकीर्ण तुला को कुछ उदार बनना चाहिये, अन्यथा इसको स्वीकृति नहीं मिल सकती। अनुभव प्रमाण देता है कि जब तक कोई वर्णन कवि की आत्मा का अंश बनकर नहीं निकलता तब तक उसको 'काव्य' संज्ञा नहीं मिल सकती। किसी दृश्य का वर्णन कवि द्वारा आत्मसात् होकर जब हमारे सामने आता है तो वह कवि के आत्म-दर्शन का भी परिचय देता है। गेय गुणों से युक्त होकर ऐसी रचना गीत-कोटि में आ सकती है। लोक-गीतों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अंग्रेजी आदि साहित्यों की 'गीति' रचनाएँ ऐसे अनेक प्रमाण दे सकती हैं। यह ठीक है कि सूर के बहुत से पद वर्णन-प्रधान हैं, किन्तु उन्हें 'अगीत' कोटि में रखकर 'आलोचना' पर 'अतिकठोरता' का कलंक नहीं लगवाया जा सकता। गेयता, संक्षिप्तता, आत्म-निर्भरता और ध्वन्यात्मकता से युक्त वर्णन सूर के आत्मरस का पुट पाकर गीत हो गये हैं। गीत में कवि की आत्मा ही तो सिहर उठती है और इस विशेषता का सूर के अधिकांश पदों में कोई अभाव नहीं है। हाँ, कुछ पद ऐसे हैं जिनमें सूर की आत्मा का रस पूर्णरूप से नहीं मिल सका है। इस अभाव के कारण 'गेयता' होते हुए भी वे 'गीतत्व' प्राप्त कर सके हैं। जहाँ गीतों में सूर चित्रकार के रूप में अपना व्यक्तित्व

अभिव्यक्त करते हैं वहाँ उक्त पदों में वे 'फोटोग्राफर' मात्र दीख पड़ते हैं। उनमें उनकी लेखनी बुद्धि के संकेत पर नाचती दीख पड़ती है।

सूर अनन्य भक्त और अद्‌भुत कलाकार हैं। संगीत-कला को प्रेरित करने में सूर का महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता। यदि अनेक छन्दों, अलंकारों आदि का वैभव केशव को आचार्य-पद पर आसीन करा सकता है तो अनेक राग-रागनियों का काव्यगत विनिवेश क्या सूर को 'संगीताचार्य' का पद नहीं दिला सकता? इतना ही नहीं, हिन्दी कवियों के लिए नायक-नायिका भेद का द्वार भी सूर ने ही खोला था। इस दृष्टि से सूर को आचार्य कहना शायद अधिक अनुचित न होगा। इन तथ्यों के आधार पर ही कुछ आलोचकों ने रीति-काव्य का बीजारोपण भक्ति-काव्य में ढूँढ़ निकाला है। सब जानते हैं कि हिन्दी कवियों में से सूर के हाथ में शृंगार को जो गौरव मिला है वह किसी के हाथ में नहीं मिला। वात्सल्य-रस के तो सूर मानों एकछत्राधिप हैं, अतएव उन्हें वात्सल्य-सम्राट् कह देने में कोई अनौचित्य नहीं दीख पड़ता।

सूर का प्रकृति-वर्णन भी उनके हृदय की सरसता, उदारता और व्यापकता लेकर अवतीर्ण हुआ है। यह ठीक है कि सूर का प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के लिए भी है, किन्तु 'वह केवल उद्दीपन के लिए ही है' यह कह देना अनुचित है। कोरे उद्दीपन से सूर के प्रकृति-वर्णन का मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। सूर के हाथों में प्रकृति ने जो खेला खेली है उसमें उसका निजी साहित्यिक महत्त्व है। जितने उपमान प्रकृति ने सूर को दिये हैं, उतने तुलसीदास के सिवा शायद किसी भाषा-कवि को नहीं दिये। वे न केवल सूर के प्रकृति-सम्पर्क और अनुभूति की गहनता के सूचक हैं, अपितु उनके कारण ही सूर का काव्य-क्षेत्र संकोच के दोष से मुक्त हो सका है। ठीक है कि वर्णन के लिए सूर ने जीवन का जो क्षेत्र चुना है उसमें व्यापकता अवश्य नहीं है, पर उन्होंने जीवन की व्यापकता की अवहेलना करके उसे अछूता नहीं छोड़ा है। उन्होंने प्रकृति से सीधा सम्बन्ध जोड़कर जो उपमान ग्रहण किये हैं वे जीवन को व्यापक रूप में प्रस्तुत करने में पूर्णतः समर्थ हुए हैं। इस प्रकार सूर-काव्य में प्रकृति केवल उद्दीपन के लिए नहीं है, वरन् जीवन का दिग्दर्शन कराने के लिए भी है। जीवन का साथ छोड़ कर केवल प्रकृति में विहार करने वाला व्यक्ति तो कभी कवि हो ही नहीं सकता, यह तो सत्य है ही, पर क्या वह मानव भी हो सकता है? यह एक प्रश्न है। जीवन से पृथक् मनुष्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती, अतएव यह असम्भव है कि काव्यगत प्रकृति-वर्णन में जीवन का पुट न हो। जीवन का पुट प्रकृति-वर्णन में अनेक रूपों में दिया जा सकता है। उन्हीं में से उद्दीपन भी एक रूप है, किन्तु वही सब कुछ नहीं है। जीवन जिस प्रकार अपने निर्वाह के लिए प्रकृति का सहयोग प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार अपने प्रतिरूपण के लिए

भी। सूर की कविता की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसे उपमानों के रूप में प्रकृति की प्रचुर सम्पत्ति मिली है। साथ ही काव्यगत सरसता ने भी प्रकृति का पूर्ण सहयोग पाकर सूर को 'सूर' के पद का गौरव प्रदान किया है। इस प्रकार प्रकृति ने एक ओर तो सूर के काव्य का अलंकरण किया है और दूसरी ओर उसे जीवन से स्पंदित एवं सरस बनाया है।

यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि सूर हृदय के पारखी हैं। सूर ने जितना सुन्दर मानव-रूप का वर्णन किया है, उससे कहीं अधिक सुन्दर मानव-वृत्तियों का वर्णन किया है। मनोभावों के तो वे बड़े कुशल चित्रकार हैं। अपनी कविता में चेष्टाओं और मनोवृत्तियों के सामंजस्य से सूर जीवन की स्वाभाविकता के निकट पहुंचकर अपनी अपूर्व मनोवैज्ञानिक क्षमता का परिचय देते हैं। वात्सल्य और शृंगार रस के क्षेत्रों में मनोवैज्ञानिक चित्रणों का प्राचुर्य है। बाल-चेष्टाओं के वर्णन में सूर ने जो कमाल दिखलाया है वही मातृ-हृदय की तरलता के चित्र प्रस्तुत करने में भी दिखलाया है। शृंगार की विविध परिस्थितियों के चित्रण करने में सूर की कला अतुलनीय है। कहा तो यह जाता है कि सूर के शृंगार-वर्णन के अन्तर्गत विप्रलंभ के चित्र ही मार्मिक हैं, किन्तु गोचारण, रासलीला, दधिलीला, माखन-चोरी आदि वर्णनों ने संयोगपक्ष को भी बड़ा मार्मिक और आकर्षक बना दिया है। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि सूर का गोपी-विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य के शृंगार-क्षेत्र में एक अनुपम वस्तु है। यह कहना ठीक ही है कि सूर को गोपी-विरह-वर्णन में संयोग-वर्णन की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। इसका कारण यह है कि जिस और जितनी मार्मिकता का संनिवेश विरह-वर्णन में किया जा सकता है, उतना संयोग-वर्णन में नहीं। वियोग की प्रत्येक परिस्थिति वेदना से उद्वेलित होती है। वेदना या दुःख में जो विस्तार या गांभीर्य माना गया है वह सुख की किसी परिस्थिति में नहीं माना गया है, अतएव वियोग का क्षेत्र अपनी मार्मिकता के कारण प्रथित है। सूर ने उस मार्मिकता को कई गुना बढ़ा दिया है। विरह का वैभव किसी भी प्रेम-काव्य की सम्पत्ति होता है। सूर के विरह-वर्णन में प्रेम की व्यापकता देखने योग्य है। जिधर देखिये उधर ही प्रेम का साम्राज्य है। गोपी-कृष्ण के प्रेम में सरिता का रूप भी है और सागर का प्रवाह और गंभीरता भी। इसकी अनुभूति सूर शायद विरहेतर परिस्थितियों में नहीं करा पाते। सच तो यह है कि रस का सारा मर्म ही सूर के गोपी-विरह-वर्णन में निहित है। अन्य रस, जिनमें संभोग शृंगार भी सम्मिलित है, विप्रलंभ की गंभीरता में खो-से जाते हैं।

अनुभावों और संचारियों के रूप में सूर ने जिन परिस्थितियों को अपने हाथ में लिया है, वे जीवन की गंभीरता के आँकने में बड़ी सहायक बनती हैं।

प्रकृति ने उद्दीपनों के बहाने ही नहीं, जीवन के सजीव एवं सप्रभाव चित्रण में भी अनुपम योग देकर सूर-काव्य की श्री-वृद्धि की है। गोपी-विरह-वर्णन की सफलता में तो प्रकृति ने अद्भुत सहयोग प्रदान किया है। जहाँ प्रकृति के प्रति एक दाहभरी पुकार निकल पड़ती है, वहाँ दर्दभरी संवेदना भी फूट पड़ती है। एक ओर आत्म-तिरस्कार है और दूसरी ओर आत्म-संवरण, एक ओर जीवन के प्रति उपेक्षा-भाव है और दूसरी ओर मोह। इन दोनों के बीच में विषय-विषयी-गत, वस्तु-हृदय-गत जितने वर्णन बने हैं वे सब परिस्थितियों की बहुलता और गहनता के प्रतिपादक हैं। विरही हृदय अपने लिए सहारा कहाँ-कहाँ खोजता है और उसकी निस्संबलता कहाँ-कहाँ दिखायी देती है, जीवन के उन-उन स्थलों को हम विरहिणी गोपियों के सम्बन्ध से देख सकते हैं।

सूर की गोपियाँ जितनी विरह-कातर हैं उतनी ही प्रियनिष्ठ भी हैं। वे भोली-भाली सीधी-सादी ग्राम बालाएँ हैं, किन्तु प्रेम में बड़ी दृढ़ हैं। उद्धव के संदेश से उनके हृदय पर जो आघात होता है उसका प्रमाण स्वयं 'भ्रमरगीत' है। व्याकुल हृदय छटपटा कर अपनी अभिव्यक्ति किस प्रकार करता है, इसका प्रमाण हमें गोपियों की वाणी से भ्रमरगीत में पद-पद पर मिल जाता है। प्रेम-विह्वल आतुर नारी-हृदय का जितना सजीव प्रतिरूपण भ्रमरगीत में मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। संयोगकालीन सुख एवं कृष्ण के रूप और व्यवहार की स्मृति से उत्पन्न गोपियों की व्याकुलता में सूर की अभिव्यक्ति की मनो-वैज्ञानिक भाव-भूमि प्रतिबिम्बित है। गोपियाँ कृष्ण के सम्बन्ध से अनेक स्थलों, लीलाओं और व्यक्तियों का स्मरण भी कर लेती हैं। उनकी विरह-कातर गिरा से ऐसा प्रतीत होता है मानों प्रकृति में उसका अपना सौन्दर्य नहीं था, वह कृष्ण के सम्बन्ध से सुन्दर बनी हुई थी। यदि प्रकृति कृष्ण के वियोग में भी हरी बनी हुई है तो यह उसका अनाचार है जिससे गोपियों को विस्मित होकर पूछना पड़ता है—'मधुवन तुम कत रहत हरे'। प्रकृति के कुछ दृश्यों में गोपियों को अपनी दशा की साम्यानुभूति भी होती है। ग्रीष्मकालीन शुष्कप्राय यमुना की धारा में उन्हें अपनी-सी कृशता ही दिखायी पड़ती है। प्रवासी कृष्ण दूर रहने के कारण गोपियों की विरह-कृशता से अवगत नहीं थे, किन्तु ग्रीष्म-सन्तप्त यमुना की धारा कितनी कृश होती है, इसका कृष्ण को अनुभव था। यमुना के उपमान से अपनी दशा का कृष्ण को बोध कराने के प्रयास में न केवल गोपियों की विरह-स्थिति की गम्भीरता ही व्यक्त होती है, वरन् सूर की अनुभूति की गहनता एवं कल्पना की सम्पन्नता भी प्रकट होती है। 'जो गति देखियत कालिन्दी की सो गति भई हमारी', इन शब्दों से गोपी-हृदय का मर्म एवं सूर का कवि-कर्म, दोनों एक साथ प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

सूर का गोपी-विरह-वर्णन मनोभावों के प्रस्तुत करने में तो सुन्दर बन ही

पड़ा है, साथ ही अनेक पात्रों के सम्बन्ध से जीवन की विविधता को प्रस्तुत करने में भी सफल रहा है। गोपियाँ एक ओर तो अपनी उक्ति और चेष्टाओं से अपने अन्तर का उद्घाटन करती हैं तथा दूसरी ओर कृष्ण, उद्धव, कुब्जा, कंस, बलराम, नन्द, यशोदा आदि का चरित्र भी हमारे सामने रख देती हैं।

गोपियों के अन्तर्गत राधा और यशोदा भी सम्मिलित है, अतएव गोपी-विरह कहने से हमारा तात्पर्य केवल श्रृंगार तक ही सीमित नहीं हो जाता है, प्रत्युत् वात्सल्य-विप्रलम्भ भी उसी के अन्तर्गत आ जाता है। कृष्ण के लिए दही और माखन भेजती हुई एवं वंशी का स्मरण दिलाती हुई यशोदा 'संदेसो देवकी सों कहियो' कहकर जिस हृदय का परिचय देती हैं वह वात्सल्य से उमड़ता हुआ मातृ-हृदय ही तो है, जिसमें पुत्र-वियोग से उत्पन्न मूक-वेदना का आन्दोलन हो रहा है। पुत्र कितना प्यारा होता है, यह माता की प्रतिनिधि यशोदा से पूछा जाये अथवा कृष्ण बलराम को मथुरा छोड़कर लौटे हुए नन्द से पूछा जाये ? नंद तो पुत्र-वियोग से विह्वल भार्या की, न जाने, क्या-क्या भर्त्सना सुनते हैं।

कुछ विद्वानों का यह कहना है कि सूर के काव्य में समाज का रूप देखना व्यर्थ है, क्योंकि उन्होंने जान-बूझकर समाज को नहीं छुआ है। पर प्रश्न तो यह है कि सूर ने जीवन-चित्रण भी किया है या नहीं ? यदि किया है तो जीवन समाज से अलग कैसे रह सकता है ? व्यक्ति कितना ही उपाय करे वह समाज मे रहता हुआ समाज से अलग नहीं रह सकता। उन लोगों की बातें जाने दीजिये जो दुनिया को छोड़कर किसी बन या पर्वत की कन्दरा में आत्म-चिंतन में लगे रहते हैं, किन्तु मैं तो यह भी कह सकता हूँ कि उनका जीवन भी पशु-पक्षी, वृक्ष आदि की संगति प्राप्त करके अन्तर का सामयिक उल्लास प्राप्त करता ही है। वे भी एकदम बहिर्जगत से निरपेक्ष नहीं हो जाते। कहा नहीं जा सकता कि व्यक्ति की वह कौनसी दशा होती होगी जिसमें वह सर्वनिरपेक्ष होकर रह सकता है। परम योगी का योग-जीवन भी सम्पर्क की कहानी प्रस्तुत करता है। पता नहीं एक ओर से निरुद्ध होकर मन कहाँ लीन होता होगा, किन्तु वह भी कहीं लगने की कथा प्रस्तुत करता है। अतएव जीवन की कहानी समाज से अलग होकर कहीं नहीं लिखी जा सकती। इस दृष्टि से सूर के काव्य में समाज को देखने का प्रयत्न न करना सूर के काव्य का अवमूलनमात्र होगा। देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है। क्या सूर अपने समय के प्रतिनिधि नहीं हैं अथवा वे कवि नहीं हैं ? यदि कवि हैं तो उनके काव्य में उनके समय की छाप अवश्य होनी चाहिये। समय की छाप से तात्पर्य है तत्कालीन समाज का चित्रण। जो सूर परिवार, मित्र, शत्रु, जीवन-निर्वाह के साधन, जीवन के अनेक पहलू, आमोद-प्रमोद, जीवन की अनेक अवस्थाएँ—जैसे बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य—आदि अनेक

भावों का चित्रण और प्रेम की अनूठी भूमिका प्रस्तुत करने में कुशल हैं, उनको हम समाज का चित्रकार न मानें, यह उचित न होगा।

यह ठीक है कि सूर ने अपने नायक के बाल-जीवन का ही चित्रण प्रमुख रूप से प्रस्तुत किया है, किन्तु यह भी ठीक है कि मथुरा के शासक और द्वारिका के अधिपति कृष्ण को भी सूर ने नहीं भुला दिया है। हाँ, इसके चित्र सूर-काव्य में उतने रंगीन और चमकीले नहीं उतरे हैं। इसका कारण यह था कि सूर का हृदय बाल कृष्ण के अतिरिक्त कृष्ण के अन्य रूपों में उतना रम नहीं सका है। जहाँ हृदय रमता है वहीं वह खिलता भी है और जहाँ खिलता है वहाँ अभिव्यक्ति में कान्ति और चमक रहनी ही चाहिये। बाल कृष्ण के साथ-साथ सूर ने जिस राधा को लिया है वह गोपियों की प्रतिनिधि है। जिस प्रकार कृष्ण के अनेक चित्रों में किसी बालक के चित्र देखे जा सकते हैं, उसी प्रकार राधा के चित्रों में किसी गोपी का चित्र हम देख सकते हैं। सूर की सब गोपियों का लक्ष्य राधा की अवस्था की प्राप्ति है। यही कारण है कि राधा के चरित्र में अन्य गोपियों का चरित्र डूब-सा जाता है। वहाँ उनका चरित्र अधिक निखर नहीं पाया है। कृष्ण गोप-समाज के प्रतिनिधि हैं फिर भी व्रजराज हैं। उनका व्रजराजत्व वैभव-जनित नहीं है, अपितु प्रेम-जनित है। उन्होंने लोक-हृदय पर विजय प्राप्त कर ली है, इसलिए कभी-कभी उनके प्रति कुछ सामाजिक उपालंभ भी आते हैं, किन्तु रूप और साहचर्य-जन्य आकर्षण में उन सबका विलय हो जाता है।

कहा तो यह भी जाता है कि सूरदास के कृष्ण भागवतादि प्राचीन ग्रन्थों के कृष्ण हैं और सूरदास की गोपियाँ भी उन्हीं ग्रन्थों की गोपियाँ हैं। क्या इसका तात्पर्य यह समझना चाहिये कि इस क्षेत्र में सूरदास का कोई योगदान नहीं है? यदि है तो क्या उक्त ग्रन्थों के अनुवाद के रूप में ही उन्होंने अपना योग दिया है? यदि यह अनुसंधान तथ्याश्रित है कि सूर अन्धे थे तो सूरसागर को भागवत का अनुवाद कहना उचित नहीं है, और यदि यह माना जाये कि वह भागवत की भावछाया है तो यह स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति सूर की है, किन्तु भागवत के ऐसे अनेक प्रसंग हैं (वे दार्शनिक प्रसंग हैं) जिनको सूरदास ने या तो बिलकुल छोड़ दिया है या उनके संक्षिप्त संकेत भर दिये हैं तथा कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहाँ सूर की भक्ति उल्लसित हुई है और जहाँ उनके कवित्व ने विलास किया है। ऐसे स्थलों पर विस्तार-वर्णनों में सूर की मौलिकता प्रत्यक्ष रूप से झलकती है। उन्हें हम भागवतादि ग्रन्थों की भाव-छाया भी नहीं कह सकते। जिन स्थलों पर सूर ने मौलिक चित्र प्रस्तुत किये हैं उनमें सूर के हृदय और मस्तिष्क का प्रतिफलन है।

जिन उत्सवों, क्रीड़ाओं, खेलों, व्यवहारों एवं नैतिक दृष्टिकोणों को हम

सूर काव्य में देखते हैं वे भागवतकालीन होते हुए भी बहुत कुछ सूर से सम्बन्धित हैं। एक तो इसलिए कि उन्हें सूर ने उनको अपनी स्वीकृति, उनके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया है जिससे वे भागवत से सूरसागर में उतर आये हैं, दूसरे, कुछ चित्र सूर ने अपने समय के दिये हैं। इन दोनों अंशों से मिल कर सूर-काव्य के सामाजिक चित्रण पूर्ण हुए हैं।

राजा का जीवन कैसा होता था, अथवा गोपाल लोग अपना जीवन कैसे बिताते थे, उनके जीवन में प्रातः सायंकाल का क्या मूल्य होता था, उनके घर और खिरक क्या होते थे, उनके आमोद-प्रमोद क्या थे, क्या प्रथाएँ उस समय प्रचलित थीं, वर्णों की क्या व्यवस्था थी, आने-जाने आदि के क्या साधन थे, भोजनादि में प्राय: किन-किन वस्तुओं का प्रयोग होता था, गोचरणा के लिए जाते हुए गोपाल अपना भोजन किस प्रकार ले जाते थे, किस प्रकार वे एकत्र होकर भोजन करते थे, गौएँ चराने की क्या शैली थी, पानी कहाँ से भरा जाता था, राजा अपनी शक्ति का दुरुपयोग किस-किस अर्थ में करता था, उत्सव आदि में लोग कैसे सम्मिलित होते थे, व्यापार की कौन-कौनसी वस्तुएँ होती थीं और लोगों के असन-वसन और भूषण क्या-क्या होते थे, इनको प्रस्तुत करने वाले चित्र क्या सामाजिक चित्र नहीं कहलायेंगे ?

सूरसागर में सभी तरह के राजाओं का वर्णन मिलता है। इसमें युधिष्ठिर जैसे धार्मिक और नीतिवान्, दुर्योधन जैसे लोभी, कंस जैसे अत्याचारी तथा शिशुपाल जैसे कुटिल राजाओं का वर्णन है। कृष्ण का द्वारिकाधीश के रूप का भी वर्णन है। इससे प्रतिबिम्बित होता है कि सब तरह के राजाओं के सम्बन्ध में सूर को ज्ञान था। वास्तव में समाज में सदा से सम और विषम दोनों तरह के तत्त्व रहे हैं। कंस का राज्य एक आततायी का राज्य था। उससे उसकी बहन तक थरथर काँपती थी क्योंकि वह उसके बालकों तक का काल था। दशम स्कंध में देवकी कृष्ण के जन्म होने के बाद कंस का रूप याद करके ही काँप उठती है। वह कहती है :—

द्वार कपाट-कोट पट रोके, दस दिसि कंत कंस भय भारी।

जब बहिन तक इतनी व्याकुल है तो इससे अनुमान किया जा सकता है कि पूरी प्रजा कितनी डरती होगी। जिसके डर से दशों दिशाएँ भयभीत हों, उस राजा के आतंक का क्या कहना है। इससे उस समय के राजाओं की प्रकृति का परिचय भी मिल जाता है। पूतना, काकासुर, शकटासुर, तृणावर्त, वकासुर आदि जिन राक्षसों को कृष्ण ने मारा था वे सब कंस के साथी तथा अनुचर ही थे। उस समय राजा अपनी शक्ति इसी में समझता था कि प्रजा से कठिन से कठिन कार्य कराये जायें और उसके विरोध में कोई सिर न उठा सके। नन्द से

एक सहस्र फूल मँगाने का मुख्य अभिप्राय तो कृष्ण को कालियनाग के सामने संकट में डालना था। फूल तो बहाना मात्र था। कालियदह के सहस्र फूलों के सम्बन्ध में कंस का यह आदेश-पत्र जाता है—

> कालीदह के कमल पठावहु तुरत देखि यह पाती।
> जो मौका नहिं फूल पठावहु तो व्रज देहुँ उजारि,
> महर, गोप, उपनन्द न राखउँ सबहिनि डारों मारि।

राजा लोग पहलवानों को, भयानक जानवरों को अपने राज्य में इसलिए रखते थे कि उनके द्वारा वे शत्रुओं को मरवाने का प्रयत्न करते थे। मथुरा जाने पर कृष्ण को कंस के द्वारा पोषित हस्ती का सामना करना पड़ा, और मल्लों से युद्ध करना पड़ा। कंस की बारी तो अन्त में आती है। ऐसे अवसर पर पापी राजाओं का भयभीत होना स्वाभाविक ही था। कंस कृष्ण को देखते ही थरथर काँपने लगा। क्या ऐसे राजाओं का सूर के समय में अभाव था? कबीर और सिकन्दर लोदी की कहानी वातावरण में अब तक छा रही थी। कृष्ण की पहुँच से कंस के हृदय में जो प्रतिक्रिया हुई उसका चित्र सूर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

> जाय पहुँचे तहाँ कंस बैठो जहाँ, गये अवसान प्रभू के निहारे
> ढाल तरवारि आगे धरी रहि गई, महल को पंथ खोजत ना पावत।

ग्वालों का जीवन और स्वभाव बड़ा ही सरल तथा रहन-सहन गाँव वालों की तरह ही था। गो-सेवा उनका व्यवसाय और धर्म था। सवेरे स्वयं गायों का काम करना, दूध दुहना, तथा दिन में गायें चराना उनका मुख्य काम था। ग्वालिनें दही बिलोतीं, मक्खन बनातीं और घर का कामकाज करती थीं। कृष्ण के जन्म के बाद व्रज में एक नये जीवन का संचार हो गया था। प्रत्येक कार्य में उन्हें आनन्द आता था, उल्लास में वे मग्न रहती थीं, रोम-रोम में प्रसन्नता प्रस्फुटित हो गई थी। यद्यपि सूर के वर्णनों में जो आनन्द-मग्नता झलकती है उसमें साहचर्य भाव का प्राधान्य है। उसमें जो ग्वालों का सरल जीवन है वह समाज की प्रतिच्छाया से विरहित नहीं है।

सवेरे-शाम गायों के साथ समय बिताने में उन्हें कितना आनन्द होता था! ग्वालों का जीवन प्रकृति की गोद में उल्लसित होता था। उसमें क्या सौन्दर्य और आकर्षण है, इसको हम सूर के लघु चित्रों में देख सकते है। सवेरा होते ही सब ग्वाले गायों के पास पहुँच जाते हैं, यह तो उनका नियम ही है। इसका वर्णन हमें यशोदा के शब्दों में मिलता है। कृष्ण को जगाते हुए वे कहती हैं:—

> जागो हो नन्द कुमार
> हों बलि जाउँ मुखार बिन्दु की गौसुत मेलों खरिक सम्हार।

ग्वाले गाय दुहते रहे हैं और गोपिकाएँ दही बिलो रही हैं, दोनों ही काम प्रात:काल के है :—

भोर भयो दधि मथन होत, सब ग्वाल सखन की हाँक परी ।

शाम के समय गाय को चराकर लौटने का दृश्य दिखायी देता है । साँझ होते ही सब गोपों को चिन्ता हो जाती है कि घर वापस चलने का समय हो गया । कृष्ण कहते हैं :—

व्रजहि चलउ आई अब साँझ ।
सुरभि सबइ लेउ आगे करि, रैन होइ जनि बनहि माँझ ।

कृष्ण का मुख गोपद-रज से शोभित है । हरिऔध जी भी 'प्रिय प्रवास' में ग्वालों के इस जीवन को न भूले । ग्वाले सवेरे से गायों को लेकर चरागाहों में निकल जाते थे । पहले तो वे दूर नहीं जाते थे, पर कृष्ण के कहने पर वे वृन्दावन जाने लगे थे । गाय चराने की विधि का वर्णन भी सूरदास ने किया है । गायों को चारों ओर से ग्वाले घेरकर एक जगह कर लेते हैं । फिर पीछे-पीछे चलते हैं ।

गइयन घेरि सखा सब लाये ।
देखेउ कान्ह जात बृन्दावन यातइ मन अति हर्ष बढ़ाये ।
आपसु में सब करत कोलाहल धौरि धूमरी धेनु बुलाये ।
सुरभि हाँक देत सब जहँ तहँ टेरि टेरि हेरी सुर गाये ।

वे वन में गायों को चराते थे, दोपहर का भोजन वहीं करते थे और घर से गोप-गोपियाँ छाक बनाकर ले जाती थीं । इस समय सब मिलकर बैठते थे और कमल के दोनों में वे उसे खाते-पीते थे । कभी-कभी आपस में ग्वाल-बाल झगड़ भी बैठते थे, किन्तु कुछ क्षणों के लिए ही । वे खूब गाते-बजाते तथा वन में प्रकृति के साहचर्य में अनेक प्रकार से आनन्द मनाते थे । सूर के ये वर्णन सूर-कालीन समाज के सजीव चित्र हैं, यद्यपि इनमें द्वापर की ऐतिहासिक भूमिका है ।

आमोद-प्रमोद तो सूर के समय के ही हैं । गोपी-ग्वाल बच्चे के जन्म के अवसर पर परम उल्लसित हो उत्सव मनाते थे । कृष्ण से सम्बन्धित जितने भी उत्सव हुए हैं, सूरदास ने उन सबका विशद वर्णन किया है । उनमें तत्कालीन समाज की छाप को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता ।

कृष्ण के जन्मोत्सव पर नन्द और यशोदा ही नहीं वरन् गोपी-ग्वाल भी प्रसन्न थे । वहाँ नन्द की प्रसन्नता ऐसे अवसर पर दान-दक्षिणा देने से प्रकट होती है । वे किसी को वस्त्र पहनाते हैं, किसी को भूषण, किसी को हार और किसी को तुलसी की माला । वहाँ गोपी-ग्वाल नाचने और गाने में मस्त हो जाते हैं ।

नाचत तरुन वृद्ध अरु बालक गोरस कीच मचाई ।

इन लोगों के लिए आमोद-प्रमोद के साधनों में सावन में झूला, और फागुन में होली मुख्य था। कृष्ण के संसर्ग से झूले का महत्त्व और भी बढ़ गया था :—

> जमुना पुलिनहि रच्यौ, रंग सुरंग हिंडोलनो।
> रमत राम स्याम संग ब्रज-बालक सुख पावत हँसि बोलनौ।

होली में मस्त गोपियों का चित्र देखिये :—

> गोकुल सकल ग्वालिनी घर-घर खेलत फाग,
> मनोरा झूमकरो।
> झुंडन मिलि गावत चलीं झूमक नन्द दुआर॥

ऐसे अवसर पर तो गोपियाँ तथा ग्वालबाल सभी झूमते थे। प्रकृति से उनका गहन सम्पर्क था। सूरदास ने ग्वालों के आमोद-प्रमोद में रास को भी मुख्य स्थान दिया है। शुभ्र चाँदनी में कृष्ण ने गोपी ग्वालों के साथ रास रचा है। उस समय प्रकृति का साहचर्य जितना ग्वालों को प्राप्त था उतना सम्भवतया किसी भी वर्ण को नहीं था। इतना सरल और सादा जीवन होने पर भी गोपियों को यदि किस चीज का गर्व था तो वह गोधन का। ग्वाल-घर की महत्ता यशोदा के इन शब्दों से प्रतीत होती है :—

> नित सहस मथानी मथिये, मेघ शब्द दधि माट घमरकौं।
> कितने अहिर जियत मेरे घर, दधि मथि ले बेंचत महि भरकौं।
> नव लख धेनु दुहत हैं नित प्रति, बड़ो नाम है नन्द महरकौं॥

ग्वालों के घर दूध-दही से भरे रहते थे। जिसके घर में जितने पुराने बर्तन थे उसे उतना ही अधिक गर्व था। खिरक में गायें बाँधी जाती थीं और वहीं ग्वाले अपनी-अपनी गायें दुहते थे। राधा के इन शब्दों में इस बात का परिचय प्राप्त कीजिये :—

> खरिक माँहि अबहीं ह्वै आई, अहिर दुहत सब गइया।

गोपियों का मुख्य काम छाक बनाना, मक्खन निकालना और घर का कामकाज था। पानी यमुना से आता था, पनघट पर गोपियों की बड़ी भीड़ रहती थी। वे वहीं स्नान करती थीं तथा वहीं से पानी लाती थीं।

सूरदास ने बच्चों के कई खेलों का वर्णन किया है, उसे पढ़कर किसी को भी सन्देह नहीं रह जाता कि वह सूरकालीन समाज का चित्रण नहीं है। हाथ में ताली मारकर भागना, आँख मिचौनी, गेंद का खेल तथा चकई-भौंरा का खेल— ये उस समय के प्रमुख खेल थे। भौंरा-चकरी खेलते हुए कृष्ण का चित्र देखिये :—

> कटि काछनी पीताम्बर ओढ़े हाथ लिये भौंरा चकरी।

उस समय पुत्र जन्म के बाद अन्नप्राशन और वर्षगाँठ होता था। वास्तव

में यह एक आनन्द मनाने का अवसर होता था। इन संस्कारों में पूजा की जो विधि थी वह आज तक चली आरही है। अत: यह कहना अनुचित न होगा कि सूर के समय में भी ये संस्कार ऐसे ही मनाये जाते थे। पुत्र-जन्म धनहीन और धनवान, दोनों के लिए ही परम उल्लास का अवसर होता है। इस उल्लास का बड़ा सजीव चित्र सूर के हाथों से उतरा है। अन्य उत्सवों की शोभा ने भी सूर के वर्णनों में अवतार लिया है।

अन्नप्राशन की एक सरस झाँकी देखिये :—

> कनक थार लइ खीर धरी, भरि तापर घृत मधु नाइ
> नन्द लइ-लइ हरि मुख जुठरावत, नारि उठी सब गाइ।

इस अवसर पर सोने के थाल में खीर भरकर उसके ऊपर घी और शहद पिता पुत्र को चटाता था और एकत्र नारियाँ मंगल गान गाती थीं। इसके अतिरिक्त चौक पूरने और द्वार पर साँतिया रखने की प्रथा भी प्रथित थी।

विवाह भी बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। कन्या के घर पर जो हर्ष मनाया जाता है उसका तो कहना ही क्या; मगर बरात के लौटने पर वर-घर पर जो हर्षोत्सव मनाया जाता है, वह जीवन की एक ऐतिहासिक घटना होती है। इस उत्सव का सूर के शब्दों में एक चित्र देखिये :—

> आवहु री मिलि मंगल गावहु।
> हरि रुकमिनी लिये आवत् हैं, यह आनन्द जदुकुलहिं सुनावहु।
> बाँधहु बन्दनवार मनोहर, कनक कलस भरि नीर धरावहु।
> दधि अक्षत फल फूल परम रुचि, आँगन चन्दन चौक पुरावहु।
> कदलि जून अनूप किसल दल सुरंग सुमन लइ मंडल छावहु।
> हरद दूब केसर मग छिरकहु, भेरी मृदंग निसान बजावहु॥

विवाह के अवसर पर जिन रीत-रिवाजों का वर्णन किया गया है वे सभी आज भी हैं और उसी प्रकार सूर के समय में भी होंगे।

सूर के अनेक पद तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर भी पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। वेदों के पण्डित नामकरण के लिए बुलाये जाते थे। उन्हीं को सूर ने शायद ऋषि कहा है। समाज में एक प्रकार के ब्राह्मण भी थे जो पूजा-कार्य करते-कराते थे। सम्भवतः ये उतने सम्मानित नहीं थे जितने ऋषि लोग। इनको सूरदास ने पाँडे नाम दिया है। ये व्यावसायिक ब्राह्मण थे। व्यापारी लोग बनजारे (वाणिज्यकार) कहलाते थे। वे बैलों पर सामान लादे इधर-उधर फिरते थे।

दूध-दही दुकानों पर नहीं बिकता था। लोग शहरों में जाकर दूध-दही बेचते थे। प्रायः दही बेचा जाता था और ग्वालिनें ही दही बेचा करती थीं। बड़े-बड़े घरों में दही बिलोया भी जाता था। वहाँ बहुत-सी बिलोने वाली

नारियाँ काम करती थीं। मक्खन बेचा जाता था और इसके क्रय-विक्रय से बहुत बड़ा व्यापार चलता था। आवागमन के साधनों में रथ, शकट और घोड़े प्रमुख थे। उनमें से शकट सामान्य साधन था। ग्वाले लोग प्राय: शकटों को ही काम में लेते थे—"शकट साजि सब ग्वाल लै मिलि गिरि पूजा के काज।" रथों में घोड़े जुतते थे। अक्रूर के रथ में घोड़े ही जुते थे।

समाज में चौके की प्रथा भी थी किन्तु चौके के नियमों का पालन सब लोग नहीं करते थे। ग्वाले लोग वन में किसी स्थान पर भोजन कर लेते थे।

दूध, दही, रोटी और मक्खन सामान्य भोजन थे। विशेष अवसरों पर मिष्ठान्न का भी आयोजन होता था। खोवा की मिठाइयाँ, जलेबी, खुर्मा, शकरपारे, लड्डू (मोती लड्डू, खीर लड्डू), मालपुआ, घेवर, खजूरे आदि का विशेष प्रचलन था। नमकीन पकवानों में दही-बड़े और पकौड़ियाँ बहुत पसन्द की जाती थीं। पक्के भोजन में पूड़ियों का विशेष स्थान था। हमारे उस समय के भोजन में मेवाओं का भी स्थान था। अनेक पकवानों में लवंग, एला एवं कपूर का प्रयोग भी किया जाता था। बालकों को शारीरिक पुष्टि के लिए माखन-मिश्री का सेवन कराया जाता था। सुपक एवं सुकोमल रोटी सामान्यतया अधिक पसन्द की जाती थी।[1]

हरे फलों में केला, आम, खीरा और खूबानी का वर्णन आता है। दाख, खोपरा, चिरोंजी, चिटरा, बादाम आदि मेवाएँ सामाजिक प्रयोग में अधिक आती थीं।

गोपों की वेशभूषा साधारण होती थी। काली कामरी, काँछरी आदि का विशेष प्रचलन था, परन्तु स्त्रियाँ शृंगारप्रिय होती थीं। जब गोपियाँ दही बेचने मथुरा जाती थीं तब उनकी वेशभूषा यह होती थी :—

बैनी गूँथि माँग मोतिन की सीसफूल सिर धारत।
गोरे भाल बिन्द सिन्दुर पर टीका धरचौ जराउ।
नासा नथ मुक्ता की शोभा रह्यौ अधर तक जाइ।
कुच कंचुकी हार मोतिन अरु भुजनि विजइठे मोहत।
डारन चुरी करनि फुन्दना जनि कंज पासि अलि सोहत।
छुद्र घंटिका कटि लहँगा रंग तन मनसुख की सारी।
सूर ग्वालि दधि बेचन निकरी पग नूपुर धुनि भारी।

कृष्ण भी आभूषण पहनते हैं :—

---

[1] देखिये सूरसागर, दशम स्कन्ध, १८३

कान्ह गरे सोहै कण्ठ माला, अंग अभूपण अँगुरिनि गोल ।
कट किंकिनि पग नूपर बाजइ, पूकन पान पहुँचियाँ राजइ ।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सूर के इन वर्णनों पर तत्कालीन समाज की रीति-रिवाजों का भी प्रभाव है। सूर ने जिस समाज को देखा होगा उसी को चित्रित किया है। वेशभूषा ही क्या, आचार-विचार पर भी सूर के समय की छाप है। इतना कह सकते हैं कि सूर का ध्येय समाज-चित्रण न था, पर भावना के प्रवाह में समाज का रूप स्वयं ही बहता चला गया है, प्रयास नहीं किया गया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कह सकते हैं कि सूर का साहित्य विश्लेषण में भी अनुपम है तथा संघात में भी।

उसमें सामाजिक चित्रण अवश्य है, पर ऐसा नहीं है कि वह पाठक के चित को सामाजिक समस्याओं में उलझा दे। सूर-साहित्य में समाज के अनेक चित्र हैं जो कवि-हृदय के गहरे रंग में रंगे हुए हैं। हृदय के तरल स्पन्दनों में इनका आविर्भाव हुआ है, बौद्धिक बन्धनों में नहीं।

सूर की समाज-व्यवस्था में एक क्रान्ति और आन्दोलन की झाँकी मिलती है। जिस प्रकार की समाज-व्यवस्था सूरसागर में निरूपित हुई है, वह अनेक विघ्न-बाधाओं के विरोध में लोकतंत्रीय व्यवस्था ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर का शासन-विषयक आदर्श ही विचित्र है। उनकी दृष्टि में प्रेम का शासन ही प्रमुख शासन है। हृदय का शासन मौलिक होता है, उसमें कृत्रिमता के लिए कोई अवकाश नहीं होता। कृष्ण ने सूर के हाथों में इसी प्रकार का शासकत्व प्राप्त किया है। वे गोप-गोपियों को भय या त्रास से विजित नहीं करते, प्रत्युत् वे अपने प्रेम, त्याग और बलिदान से उनको मुग्ध करते हैं। वन की भीषण अग्नि में अपने आपको झोंक कर गो-गोपों की रक्षा करना अथवा कालिय विषधर को नाथ कर व्रज को भय-मुक्त करना कृष्ण के प्रेम और बलिदान के उदाहरण नहीं हैं, तो और क्या हैं? व्रज की रक्षा के लिए कृष्ण ने इन्द्र-प्रकोप का जिस प्रकार सामना किया और व्रजवासियों ने जिस प्रकार उन्हें अपना सहयोग दिया, इसमें केवल उनकी लीलाओं का ही वर्णन नहीं है वरन् उनके लोकनायकत्व का परिचय भी है। एक ओर कंस की दुर्नीति और नृशंसता थी और दूसरी ओर कृष्ण की प्रेम-सरस रक्षकता और पोषकता थी। उनके लिए प्रजा के लोग अपने ही बन्धु-बान्धव थे। उदारचेतानामादि शब्दों में कृष्ण का अध्यात्म-दर्शन ही नहीं, वरन् नैतिक आदर्श भी है। लोक-नायक का सबसे बड़ा गुण ही यह है कि वह सबको अपना समझे, अपना-जैसा समझे। किसी भी युग की नीति में यह सिद्धान्त संगति प्राप्त कर सकता है।

सूर व्रजभाषा के कवि माने जाते हैं। कुछ लोगों की मान्यता तो यहाँ

तक है कि ये व्रजभाषा के आदि कवि हैं, किन्तु आधुनिक शोधों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि सूर व्रजभाषा के आदि कवि नहीं हैं। सूर की भाषा भी यही प्रकट करती है कि वह प्रौढ़ व्रजभाषा है। उसमें आदिकालीन सरलता नहीं है। फिर भी वह टकसाली व्रजभाषा है जिसमें एक ओर तत्सम मिलते हैं तो दूसरी ओर फारसी के शब्द मिलते हैं। तद्भवों ने सूत्ररूप से इन मणि-मुक्ताओं को धारण कर रखा है। विभक्ति और क्रिया प्रयोग मथुरा और आगरा के आस-पास के हैं, किन्तु व्रजभाषा के कुछ पूर्वी प्रयोग भी मिल जाते हैं। अतएव 'कर्‍यो', 'दियो' के साथ 'कीन्हों', 'दीन्हों' और 'कौन कौ' के साथ 'का कौ' आदि प्रयोग भी मिलते हैं।

फारसी के शब्द व्रजभाषा के उच्चारणों को स्वीकार कर लेते हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि सूर की भाषा पर एक ओर भागवत का प्रभाव है तो दूसरी ओर व्रज के ग्वालों का। फारसी के केवल वही शब्द सूर की वाणी में प्रवेश कर सके हैं जो जनवाणी द्वारा सम्मानित हो चुके थे। इस दृष्टि से सूर की भाषा को टकसाली व्रजभाषा कहना ही अधिक उपयुक्त है। कोमलता, ललितता और मंजुलता, ये इस भाषा के प्रधान गुण हैं। यदि सूर जैसे भक्त ने व्रजवल्लभ और उनके लीलाधाम का वर्णन व्रज बोली में किया है, वह भी टकसाली बोली में, जिसको लोक रुचि और साहित्यिक आदर मिल गया था, तो उचित ही है।

किसी एक उद्देश्य की ओर नहीं ले जाती। मेरी समझ में सूरसागर की पद-रचना अपने रूप में विद्यापति पदावली के ही निकट है। विद्यापति के जैसे पदों का प्रचलन सूर के पहले सन्तवाणी में भी बहुत हो गया था। अतएव सूरसागर के पदों में इन्हीं की प्रेरणा है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भागवत और सूरसागर की तुलना में एक तालिका उपस्थित की है[1] जिससे स्पष्ट हो जाता है कि भागवत और सूरसागर दोनों में ही दशम स्कन्ध की काया अधिक स्थूल है। दशम के अतिरिक्त भागवत के किसी स्कन्ध में ३३ से अधिक अध्याय नहीं हैं, दशम स्कन्ध को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में बाँट दिया गया है और दोनों भागों में क्रमशः ४९ और ४१ अध्याय होकर कुल ९० अध्याय हैं। इसी प्रकार सूरसागर में दशम के सिवा किसी स्कन्ध में २१९ से अधिक पद नहीं, किन्तु भागवत की भाँति दशम स्कंध यहाँ भी पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभक्त है और प्रत्येक भाग में क्रमशः ३४९४ एवं १३८ पद हैं अर्थात् दशम स्कन्ध की समस्त पद-संख्या ३६३२ है।

हमें भागवत और सूरसागर के तुलनात्मक अध्ययन से पता लगता है कि 'कृष्ण कथा' दोनों ग्रन्थों का उद्देश्य है, जिसका विकास दशम स्कन्ध में प्रतिफलित हुआ है। यद्यपि दोनों ही ग्रन्थों में २४ अवतारों की कथाएँ मिलती हैं किन्तु विस्तार और विकास कृष्ण-कथा को ही मिले हैं। इस कथा का मूल स्वरूप दशम स्कन्ध में ही है। पूर्ववर्ती स्कन्धों को भूमिका और परवर्ती स्कन्धों को परिशिष्ट कह सकते हैं। यह अनुमान तब और भी परिपुष्ट हो जाता है जब हम देखते हैं कि सूरसागर के अकेले दशम स्कन्ध में ३६३२ पद हैं और शेष स्कन्धों में कुल ४०० ही पद हैं। इसके अतिरिक्त इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि सूर ने दशम के सिवा अन्य स्कन्धों में भागवत में वर्णित अनेक कथाएँ छोड़ दी हैं, कुछ बढ़े हुए प्रसंग भी दृष्टिगोचर होते हैं। उनका आधार वाल्मीकि रामायण या महाभारत पुराण है, किन्तु दशम स्कन्ध में भागवत की कथाओं के वर्णन के साथ-साथ अनेक घटनास्थल सूर की मौलिक प्रतिभा के दान हैं। कहीं-कही ब्रह्म-वैवर्त पुराणादि से भी सहायता लेली गयी है। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'सूर' का ध्यान उस कृष्ण-कथा पर केन्द्रित है जो कृष्ण की आयु के पूर्व भाग से सम्बन्धित है। इस कथा को सूर ने दशम स्कन्ध में लिखा है। प्रथम ९ स्कन्ध भूमिका रूप हैं तथा अन्तिम दो परिशिष्ट-रूप।

भागवत की कथाएँ प्रायः असंश्लिष्ट एवं अननुस्यूत हैं। दो कथाओं के मध्य सम्बन्ध-स्थापना के रूप में प्रायः प्रश्न और उत्तर ही मिलते हैं। सूर-

---

[1] हिन्दुस्तानी—अप्रैल १९३४, पृ० १२२-१२३

सागर में यह क्रम नियमरूप से नही मिलता। प्रश्नोत्तर पद्धति बहुत कम अपनायी गयी है। प्राय: प्रत्येक कथा का स्वतन्त्र प्रवाह चलता है। हाँ, अपने कथा वर्णन में सूरदास परीक्षित-शुकदेव प्रश्नोत्तरों का इस प्रकार संकेत अवश्य कर देते हैं :--

"जो शुक नृप सों कहि समुझायो।
सूरदास त्योंही कहि गायो ॥"

अथवा

"शुक नृप सों ज्यों कहि समुझायो।
सूरदास त्योंही कहि गायो ॥"

कथा कहने में सूर ने भागवत का अनुकरण किया है। सूरसागर में राम-कथा तथा कृष्ण-लीलाओं को छोड़कर अन्य कथाओं का वर्णन भागवत की अपेक्षा संक्षिप्त मिलता है, किन्तु भागवत की वे छोटी-छोटी घटनाएँ एवं परिस्थितियाँ जिनका भागवत मे संक्षिप्त रूप है, सूरसागर मे अधिक विकास, रमणीयता और स्वभाविकता पा गयी हैं। कृष्ण-लीलाओं एवं गोपी-आचरण की जो अवस्थाएँ वात्सल्य प्रेम की पोषक है, उनका रूप सूर के हाथों में अधिक परिष्कृत और मनोहारी हो गया है। राधा-कृष्ण की सम्बन्ध-कलना का आधार ब्रह्मवैवर्त पुराण है, किन्तु श्रृंगार के पोषक अनेक चित्रण सूर की मौलिकता के साक्षी हैं। भागवत और सूरसागर के भ्रमरगीत का अन्तर स्पष्ट है।

प्रथम स्कन्ध

सूरसागर में भागवत प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम अध्याओं की कथाएँ बिलकुल नहीं हैं। इसके पश्चात् आठवें, नवें, दसवें, तेरहवें, पन्द्रहवें, सत्रहवें और अठारहवें अध्याय की कथाएँ सूरसागर में क्रमशः श्रीभगवान परीक्षित गर्भरक्षा जन्म वर्णन, भीष्मोपदेश युधिष्ठिर प्रति वर्णन, भीष्म देह-त्याग वर्णन, भगवान को द्वारका गमन वर्णन, विदुर को उपदेश राजा धृतराष्ट्र गांधारी प्रति, गमन, राजा युधिष्ठिर को वैराग्य वर्णन, हरि वियोग, पांडवन को उत्तर गवन वर्णन, परीक्षित राजा को कलियुग दण्ड, ऋषि शाप वर्णन शीर्षक के अन्तर्गत मिलती हैं। भागवत के अध्याय १२, १४ और १६ की कथाएँ क्रमशः श्री भगवान् परीक्षित गर्भरक्षा जन्म वर्णन, हरिवियोग पांडवन को उत्तर गवन वर्णन, और परीक्षित राजा को कलियुग दण्ड के प्रकरणों में सन्निहित हैं। भागवत अध्याय ११ और १९ के प्रकरण सूरसागर में नहीं हैं। भागवत द्वितीय स्कन्ध के प्रथम अध्याय में जिस राजा खट्वांग का वर्णन है सूरसागर में उसका वर्णन प्रथम स्कन्ध के ही अन्त में कर दिया गया है। भागवत में केवल इस कथा की संकेत सूचना है, किन्तु सूरसागर में संक्षेप में पूर्ण विवरण है।

भागवत के द्वितीय स्कन्ध के प्रथम अध्याय में शुकदेवजी ने राजा परीक्षित को 'वैराग्य' का निरूपण किया है। इससे अधिक विस्तृत निरूपण सूरसागर के प्रथम स्कन्ध में १७०-२१६ पद तक 'परीक्षित का मन के प्रति', 'चित्तबुद्धि-संवाद', 'मन-बुद्धि का संवाद', एवं 'मन-प्रबोध' शीर्षकों में वर्णित मिलता है जिसमें संसार का मिथ्यात्व, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि की घातकता तथा भगवद्भक्ति की सारभूतता का विशद वर्णन है। मन-प्रबोध के अन्तर्गत ही भगवान् के ध्यान करने योग्य रूप का नखशिख वर्णन है जो भागवत के द्वितीय स्कन्ध के दूसरे अध्याय का विषय है।

सूरसागर प्रथम स्कन्ध में जितने भी अतिरिक्त प्रकरण हैं वे स्पष्ट रूप से भागवत के विषय नहीं हैं। सूरसागर की कथा भागवत की कथा से पूर्व की सूचना देती है जो भगवान कृष्ण के दूत-कर्म से प्रारम्भ होती है। इस पूर्व कथा का आधार महाभारत है। शेष प्रकरण सूर की प्रतिभा का स्वतन्त्र दान हैं।

द्वितीय स्कन्ध

सूरसागर के इस स्कन्ध में ३८ पद हैं, इन्हीं में भागवत के १० अध्यायों मे से कुछ का विषय ग्रहण कर लिया गया है, कुछ को छोड़ दिया गया है। कुछ पदों का विषय कविकल्पना-प्रसूत है। विराट रूप वर्णन, नृप विचार वर्णन, नृप के वचन शुकदेव प्रति वर्णन, शुकदेव वचन वर्णन, नारद-ब्रह्मा-संवाद वर्णन, चतुर्विंशति अवतार वर्णन, ब्रह्मा उत्पत्ति चतु:श्लोक प्रति वर्णन और चतु:श्लोकी श्रीमुख वाक्य वर्णन—इनका आधार भागवत है और भागवत, द्वितीय स्कन्ध, अध्याय पहला, चौथा, पाँचवा, सातवाँ और नवाँ, सूरसागर के उपर्युक्त वर्णनों की आधारशिला हैं। भागवत के दूसरे, तीसरे, छठे, आठवें और दसवें अध्याय के प्रकरण सूरसागर में नहीं हैं। अनन्य भक्ति महिमा वर्णन, नाम महिमा वर्णन, हरिविमुख निन्दा वर्णन, सत्संग महिमा वर्णन, भक्ति साधन वर्णत्र, आत्म-ज्ञान और आरती सूर की निजी संपत्ति हैं।

भागवत के कुछ विषयों को सूरसागर में बहुत संक्षिप्त कर दिया गया है। भागवत द्वितीय स्कन्ध के पहले अध्याय में विराट् का विशद वर्णन है। श्लोक २४ से ३७ तक विराट् रूप का ही निरूपण है, किन्तु सूरसागर द्वितीय स्कन्ध के २७ वें पद में वह केवल दो पंक्तियों में ही समाप्त हो जाता है। सूरसागर के द्वितीय स्कन्ध के ३६ वें पद में ही सृष्टि और चौबीस अवतारों का वर्णन कर दिया जाता है जबकि भागवत में पहली कथा के लिए पूरा पाँचवा अध्याय, और दूसरी के लिए सातवाँ अध्याय दिया गया है।

तृतीय स्कन्ध

सूरसागर में यह स्कन्ध भी अति संक्षेप से लिखा गया है। इसका कलेवर

केवल १८ पदों का है, किन्तु भागवत के इस स्कन्ध में ३३ अध्याय हैं। सूरसागर में भागवत के केवल तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें, सोलहवें, सत्रहवें, अठारहवें, उन्नीसवें, इक्कीसवें, तेईसवें, चौबीसवें, पच्चीसवें, अट्ठाईसवें, इकत्तीसवें तथा तैंतीसवें अध्याय को संक्षेप में ग्रहण किया गया है। २८वें अध्याय में से केवल 'कृष्ण-रूप का ध्यान' लिया गया है। भागवत के इस स्कंध के अन्य अध्यायों को सूरसागर मे कोई स्थान नहीं मिला।

सांख्य, योग, पुरुष और प्रकृति के जो प्रकरण भागवत के इस स्कन्ध में मिलते हैं, सूरसागर में उनकी अवहेलना करदी गयी है। सूरदास तृतीय स्कन्ध के अन्त में 'कपिलदेव सांख्य जो गायो। सो राजा मैं तुम्हें सुनायो।' लिखकर ऐसा आभास देते हैं कि संभवतः इस स्थल पर सांख्य वर्णन है, किन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। 'सांख्य'-नाम का केवल उल्लेख है, वर्णन नहीं है।

चतुर्थ स्कन्ध

सूरसागर में भागवत के पहले, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, तेईसवें, चौबीसवें, छब्बीसवें, सत्ताईसवें, अट्ठाईसवें, तीसवें और इकत्तीसवें अध्याय का नितान्त अभाव है। भागवत के छठे, सातवें, सोलहवें, सत्रहवें, अठारहवें, उन्नीसवें, बीसवें, इक्कीसवें, और बाईसवें अध्याय के प्रकरणों का सूरसागर के इस स्कन्ध में केवल इंगितोल्लेख है। शेष अध्याओं का विषय सूरसागर में भागवत के समान सविस्तार तो नहीं मिलता, किन्तु सरल एवं सुगम रीति से अवश्य प्रतिपादित है। भागवत के उन्नीसवें अध्याय की, जिसमें 'पुरंजनोपाख्यान' का तात्पर्य है, सूरसागर में विस्तृत व्याख्या की गयी है।

सूरसागर चतुर्थ स्कन्ध के तीसरे और चौथे पद में यज्ञ पुरुष अवतार का विस्तृत वर्णन है, किन्तु पाँचवें पद में 'अर्थ संक्षिप्त यज्ञ पुरुष अवतार कथा', नामक शीर्षक से वही प्रकरण फिर दुहरा दिया गया है। इसी प्रकार आठवें पद में 'ध्रुववरदेन अवतार वर्णन' है, वही नवें पद में फिर दुहराया गया है, यद्यपि संक्षेप में।

पंचम स्कन्ध

भागवत पंचम स्कन्ध के पहले, दूसरे, तीसरे, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें से छब्बीसवें अध्याय तक के प्रसंग सूरसागर में अनुपलभ्य हैं। इस स्कंध के शेष अध्यायों का विषय सूर ने संक्षेप में ही प्रतिपादित किया है।

षष्ठ स्कन्ध

सूरसागर के छठे स्कन्ध में अजामिल-उद्धार और वृत्रासुर की कथाएँ हैं। इसी स्कन्ध में चित्रकेतु राजा का उपाख्यान भी है। अजामिल की कथा

भागवत के षष्ठ स्कंध के पहले और दूसरे अध्याय पर आश्रित है तथा वृत्रासुरवध का आधार भागवत का सातवाँ, और नवें से लेकर पन्द्रहवें तक के अध्याय हैं। गुरु-महिमा का वर्णन भी सूर ने इसी से संयुक्त कर दिया है जो भागवत के इस स्कंध में नहीं है। इसके प्रतिपादन में सूरत्व की झलक है।

'वृत्रासुर की उत्पत्ति' और 'दधीचि ऋषि का देह-त्याग'— इन प्रकरणों में सूरसागर और भागवत में अन्तर है। "पुत्र शोक से संतप्त तथा क्रुद्ध होकर त्वष्टा ने अपनी एक जटा उपाड़ली जिससे वृत्रासुर की उत्पत्ति हुई", यह सूरसागर का वर्णन है, किन्तु भागवत में लिखा है कि "यज्ञ समाप्त होने पर अन्वाहार्य पचन नामक अग्नि (दक्षिणाग्नि) से एक बड़ा भयानक दैत्य प्रकट हुआ"—

अथान्वाहार्यपचनादुत्थितो घोरदर्शनः।
कृतान्त इव लोकानां युगान्तसमये यथा ॥

(भाग० ६-९-१२)

इसी प्रकार दधीचि ऋषि के देह-त्याग के विषय में भागवत में लिखा है कि "अतः जब वे भगवान से अत्यन्त युक्त होकर स्थित होगये तो उन्हें इस बात का पता ही न चला कि मेरा शरीर है या नहीं। परीक्षित ! भगवान् की शक्ति पाकर इन्द्र का बल-पौरुष उन्नति की सीमा पर पहुँच गया। अब विश्वकर्मा ने दधीचि ऋषि की हड्डियों से वज्र बनाकर उन्हें दिया।" किन्तु सूरसागर में ऋषि योग द्वारा शरीर-परित्याग करते हैं। गो द्वारा चटवा कर उनके शरीर की त्वचा उपड़वायी जाती है और इन्द्र हाड़ लेकर वज्र बना लेते हैं।

सप्तम स्कन्ध

सूरसागर के सप्तम स्कन्ध में तीन प्रकरण मिलते हैं—'नृसिंह रूप अवतार वर्णन', 'श्री भगवान शिवसहाय वर्णन', तथा 'नारद-उत्पत्ति कथा वर्णन'। इनमें से पहला प्रकरण भागवत सप्तम स्कन्ध के अध्याय २ से ९ तक चलता है। दसवें अध्याय में प्रह्लाद के राज्याभिषेक तथा त्रिपुरदहन की कथा का प्रकरण है। 'त्रिपुरदहन की कथा' को ही सूरसागर में 'श्री भगवान शिवसहाय वर्णन' के नाम से लिखा गया है। 'नारद उत्पत्ति कथा वर्णन', प्रसंग भागवत सप्तम स्कन्ध का नहीं है। यह भागवत प्रथम स्कन्ध अध्याय ५-६ का विषय है जिसे सूरसागर के सप्तम स्कन्ध के अन्त में स्थान मिला है।

इस स्कन्ध में भी सूरदास ने वर्णाश्रम धर्म के लम्बे प्रसंगों को छोड़कर केवल भगवत्कथा-सूत्र का निर्वाह किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर की भक्ति-भावना ने उन्हें गूढ़ एवं उलझे हुए विषयों में प्रवेश करने से रोक दिया है। उनकी प्रतिभा भक्ति-रसामृत में निमग्न है और उसी भक्ति-रस का आस्वादन वे पाठकों या श्रोताओं को बड़ी उदारतापूर्वक कराना चाहते हैं। अतएव भागवत से सूर ने भगवत्कथा के उन प्रकरणों तथा तत्सम्बन्धी विचार

परिपाटियों को चुना है जो भक्ति-रसामृत की उत्पत्ति और उत्कर्ष में परम सहायक प्रतीत हुए हैं ।

अष्टम स्कन्ध

सूरसागर का अष्टम स्कन्ध गजमोचन से प्रारंभ होता है जिसका श्रीगणेश भागवत के द्वितीय अध्याय से होता है । भागवत के प्रथम अध्याय में मन्वन्तरों का वर्णन है जिसे सूरसागर में छोड़ दिया गया है । 'गजमोचन प्रकरण' भागवत अष्टम स्कन्ध के दूसरे से चौथे अध्याय तक चलता है । तदनन्तर सूरसागर में 'कूर्मावतार' और 'समुद्र-मंथन' और 'अमृत वितरण' के विषय हैं जो भागवत ५ वें से ९ वें अध्याय तक चलते हैं । दसवें और ग्यारहवें अध्यायों का 'देवासुर संग्राम' सूर ने छोड़ दिया है । सूरसागर के 'मोहनी-रूप' नामक प्रकरण में भागवत अष्टम स्कन्ध के १२ वें अध्याय की कथा का सार है । फिर भागवत के तेरहवें और चौदहवें अध्याय में मन्वन्तरों और मनु आदि के कर्मों का वर्णन है जिसका सूरसागर अष्टम स्कन्ध में सर्वथा अभाव है । पन्द्रहवें से इक्कीसवें अध्याय तक भागवत में वामनावतार और बलि की कथा का निदर्शन है जिसका सूरसागर में संक्षिप्त रूप मिलता है । भागवत के बाईसवें और तेईसवें अध्याय भी सूरसागर में लुप्त होगये हैं । सूरसागर में 'मत्स्यावतार' का जो संक्षिप्त वर्णन उपलब्ध है वह भागवत के चौबीसवें अध्याय का सार मात्र है । इसी स्कंध में सूरसागर के दसवें पद में जिन 'सुन्द' और 'उपसुन्द' असुरों का वर्णन है वह भागवत में अलभ्य है । इस प्रकरण का आधार महाभारत के आदिपर्व के अन्तर्गत सुन्द उपसुन्द की कथा है, किन्तु जिस स्त्री के ऊपर दोनों भाई लड़ते हैं उसका नाम आदि पर्व में 'तिलोत्तमा' दिया हुआ है । विश्वकर्मा ने ब्रह्मा के आदेश से संसार से श्रेष्ठ रत्नों का तिल-तिल भर अंश लेकर उसका एक-एक अंग बनाया था । इसलिए ब्रह्माजी ने उसका नाम 'तिलोत्तमा' रक्खा था । उसी को सूरदास ने भगवती कहकर पुकारा है ।

नवम स्कन्ध

भागवत के इस स्कन्ध में २४ अध्याय हैं जिनमें से केवल १३ अध्यायों का संक्षेप सूरसागर में मिलता है । भागवत के अन्य अध्याय सूरसागर में लुप्त हैं । राजा पुरुरवा को वैराग्य वर्णन भागवत के चौदहवें अध्याय से; च्यवन ऋषि कथा वर्णन तीसरे अध्याय से; हलधर विवाह वर्णन तीसरे अध्याय से (श्लोक २७—३६ तक); राजा अम्बरीष की कथा चौथे और पाँचवें अध्याय से; सौरभि ऋषि कथा वर्णन छठे अध्याय से; श्री गंगा भुवलोक आगमन वर्णन नवें अध्याय से; परशुराम अवतार वर्णन पन्द्रहवें अध्याय से; श्री रामकथा दसवें और ग्यारहवें अध्याय से; राजा नहुष राज्य प्राप्ति, इन्द्राणी चाह, ब्रह्मशाप से सर्प देह पावन वर्णन अठारहवें अध्याय से; तथा देवयानी कूप-निपातन, राजा ययाति पाणिग्रह,

शुक्र शाप–राजपुत्र–यौवन-भाग, वैराग्य, मोक्ष-प्राप्ति वर्णन अठारहवें और उन्नीसवें अध्याय से मिलते है। राजा नहुष को राज्यप्राप्ति, इन्द्राणी चाह, ब्रह्म-शाप ते सर्प देह पावन वर्णन महाभारत के उद्योग पर्व के अध्याय २३० और २३१ के आधार पर वर्णित हैं क्योंकि इनका जो स्वरूप सूरसागर मे है वही महाभारत में है, भागवत में नहीं। इन्द्रदुराचार, इन्द्र-अहिल्या प्रति गौतम शाप वर्णन भागवत में नहीं है। यह वर्णन वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड में वर्णित अहिल्योद्धार के आधार पर है। 'श्री गंगाविष्णु पादोदक की स्तुति' तथा 'कच संजीवनी विद्याहेतु', 'शुक्र गेह गवन', 'देवयानी लोभावन', 'परस्पर शाप वर्णन' का भागवत में कोई उल्लेख नहीं है। भागवत में रामायणी कथा प्रधानतः दसवें अध्याय में ही समाप्त हो जाती है, बहुत थोड़ा उत्तरांश ११ वें अध्याय के लिए बच जाता है। दोनों अध्याय बहुत छोटे-छोटे हैं। कथा-सूत्र अतिसंक्षेप में सूक्ष्मरूप से चलता है, किन्तु सूरदास ने इस कथा का वर्णन भागवत की अपेक्षा कई गुने विस्तार के साथ किया है।

सूरसागर में 'अहिल्योद्धार' रामवनगमन के समय होता है। वाल्मीकि रामायण में विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण के मिथिला पहुँचने पर यह घटना घटती है। संस्कृत के अन्य ग्रन्थों में कहीं भी यह अवसर नहीं दीख पड़ा। सूर की इस सूझ का क्या आधार है यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता।

दशम स्कन्ध

इसमें स्तोक भी सन्देह नहीं कि दशम स्कन्ध सूरसागर की आत्मा है। यह तथ्य इसकी विशालता से ही बहुत कुछ सिद्ध हो जाता है। यहीं नहीं, भागवत में भी दशम स्कन्ध को ९० अध्याय दिये हैं और इसे पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में विभाजित किया गया है। इसी प्रकार का विभाजन सूरसागर में भी है। सूरसागर दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध की लगभग सभी कथाएँ भागवत उत्तरार्द्ध से मिलती हैं। केवल भागवत के ९० वें अध्याय का, जिसमें 'भगवान श्री कृष्ण का लीला विहार व द्वारकापुरी की समृद्धि का वर्णन' है, सूरसागर में विलोप है। इसके अतिरिक्त सूरदास ने 'उत्तरार्द्ध' में 'श्री कृष्ण द्वारकागमन हेतु पंथी प्रति व्रज नारी वचन वर्णन' और 'सखी वचन राधिका प्रति शकुन विचार', ये दो प्रकरण अपनी ओर से जोड़ दिये हैं। सूरसागर पूर्वार्द्ध में भागवत की लगभग सभी कथाएँ कहदी गयी हैं। इनके अतिरिक्त १. छठी व्यवहार, २. अन्नप्राशन लीला वर्णन, ३. कनछेदन लीला वर्णन, ४. घुटुरवनि चलिवो वर्णन, ५. पाँयन चलन समय वर्णन, ६. बालवेश वर्णन, ७. चन्द्रप्रस्ताव वर्णन, ८. कलेवा भोजन समय वर्णन, ९. खेलन समय वर्णन, १०. ब्राह्मण को प्रस्ताव वर्णन, ११. चकई भौंरा खेलन समय वर्णन, १२. श्री राधाकृष्ण जी का प्रथम मिलाप वर्णन, १३. सुख विलास वर्णन, १४. गृह गवन वर्णन, १५. श्री राधिका

जी को यशोदा गृह गवन वर्णन, १६. श्री श्याम राधा खेलन समय वर्णन, १७. राधा गृह गवन वर्णन, १८. कंस कमल का फूल मंगयो, १९. श्री राधा यशोदा के गृह आई वर्णन, २०. पनघट प्रस्ताव वर्णन, २१. दान लीला वर्णन, २२. दान लीला दूसरी वर्णन, २३. ग्रीष्म लीला सखिन सहित यमुना विहार वर्णन, २४. अनुराग समय के पद वर्णन, २५. आंखिया समय के पद वर्णन, २६. श्री कृष्ण विवाह वर्णन, २७. श्री राधिका जी का मान वर्णन, २८. खंडिता समय वर्णन, २९. श्री राधा जी का मान वर्णन, ३०. बड़ी मान लीला वर्णन, ३१. हिण्डोल लीला वर्णन, ३२. बसंत व होरी लीला वर्णन, ३३. नन्द ब्रज आगमन यशोदा वचन नन्द प्रति वर्णन, ३४. नन्द वचन यशोदा प्रति वर्णन, ३५-३६. समूह ब्रज लोग वचन वर्णन, ३७. ग्वाल वचन वर्णन, ३८. श्याम रंग को तरक वदति वर्णन, ३९. नन्द यशोदा वचन परस्पर वर्णन, ४०. पंथी वाक्य देवकी प्रति वर्णन, ४१. नैन प्रस्थांबु वर्णन, ४२. स्वप्न दर्शन वर्णन, ४३. पावस समय वर्णन—ये वर्णन जो भागवत में नहीं मिलते, सूरसागर में बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादित हैं। हाँ, ४, ५, ६ और ९ वें प्रकरण की सामग्री भागवत दशम स्कन्ध के ८, ११ और १२ वें अध्याय में उत्क्षिप्त मिलती है। वर्णन लघुकाय तो है ही, साथ ही उसमें वह माधुर्य और सरसता नहीं है जो सूरसागर के प्रकरणों में है। सूरसागर में भावों का जो मधुर उन्मेष हुआ है उससे अपूर्व सरसता का समावेश हो गया है।

उपर्युक्त गणनागत प्रकरणों का श्रेय, केवल एक दो को छोड़कर, सूर की अपूर्व प्रतिभा को जाता है। सच पूछिये तो कवित्व की चमत्कारी छटा इन्हीं प्रकरणों में मिलती है। अन्य प्रकरणों में कवि की प्रतिभा के सामने विषय-क्षेत्र सीमित रहा है, अतएव उसे वह स्वातंत्र्य नहीं मिल सका है जिसकी काव्योन्मेष और भाव-प्रसार के लिए परम आवश्यकता है तथा जिसके बिना कवि-कल्पना ऊँची नहीं उड़ सकती। इन सभी प्रकरणों में सूर के मौलिक विचार हैं। अन्न-प्राशन, कनछेदन आदिक वर्णनों से उन संस्कारों की पूर्ति हुई है जिनका भागवत में अभाव है तथा जिनका आर्य-संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'चकई भौंरा' खेल का भागवत में कोई उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः सूरकाल में इस खेल का अधिक प्रचलन रहा होगा, इसीलिए सूरकाव्य पर इसकी छाप लग गयी है। काव्य का समय से बहुत गहरा सम्बन्ध, है यह मानी हुई बात है। सूर की मौलिक कल्पनाएँ जीवन और स्वाभाविकता के निकट आगयी हैं।

भागवत में श्री कृष्ण और राधा के विवाह का उल्लेख तो अलग रहा, राधा का नाम तक नहीं आया, केवल एक सखी का उल्लेख है जो कृष्ण को अधिक प्रिय थी, जिसके विषय में भागवत में इतना भर लिखा मिलता है :—

"अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ।। भाग. १०-३०-२८

भागवत में न सही, अनेक संस्कृत ग्रन्थों में 'राधा' का वर्णन आया है, जिनमें प्रमुख नारद पंचरात्रम्, गर्गसंहिता, गीतगोविन्द और ब्रह्मवैवर्तपुराण हैं। नारद पंचरात्रम् और गर्गसंहिता में राधा के माहात्म्य का विस्तृत वर्णन है। वह कृष्ण की परम शक्ति है, जिसका सम्बन्ध कृष्ण से वही है जो जल का तरंग से है। उसी शक्ति द्वारा श्री कृष्ण भगवान् उद्भव, पालन और संहार करते हैं। गीतगोविन्द में राधा-कृष्ण को दंपति नाम से भूषित किया गया है। वहाँ उनके विरह, राधा के मान, दूती-सन्देश, तथा राधा-कृष्ण-रति-केलि एवं सुरतांत का विशद चित्रण मिलता है, किन्तु उनके विवाह का कोई इंगित नहीं मिलता।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्री कृष्ण जन्म खंड में राधाकृष्ण के विवाह का एक लम्बा चौड़ा विवरण दिया हुआ है। इस सम्बन्ध का ज्ञान श्री कृष्ण या राधा के सगे सम्बन्धी अथवा अन्य किसी व्यक्ति को नहीं। केवल ब्रह्मा और नारद ही इसके साक्षी हैं, जिनके हाथों से विवाह-संस्कार हुआ है। विवाह-स्थल भाण्डीर वन का लता-निकुंज है। अधिक सम्भवतः सूरदास को राधा-कृष्ण के विवाह की प्रेरणा इसी ग्रन्थ से मिली है क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ इसका दायित्व अपने ऊपर नहीं लेता। किन्तु सूरसागर और ब्रह्मवैवर्त के विवरणों में भारी अन्तर है। यहाँ (सूरसागर में) राधा-कृष्ण का विवाह यमुना-पुलिन पर होता है जिसके लिए राधा एक वर्ष तक तप करती है। फलस्वरूप देवी का वर प्राप्त होता है। एक दिन सखीजन राधा को चोरी से बुला लाती हैं और रासकेलि में ही एक पुष्प-मंडप की रचना करदी जाती है और वंशी की ध्वनि द्वारा लगभग सभी गोपियाँ आमन्त्रित करदी जाती हैं। पाणिग्रहण होता है और भाँवरें पड़ती हैं तथा गोपियाँ मांगलिक गीतों के साथ-साथ गालियाँ गाती हैं। इस उत्सव-दर्शन के लिए सुरनारियाँ तक आकाश में आजाती हैं और सुमन-वर्षा करती हैं। सनकादि, नारद; शिव और ब्रह्मा को भी सूचना मिलती है। देव लोग दुंदुभि, मृदंग आदि हर्ष के बाजे बजाते हैं। इस विवाह का समाचार यहीं तक रहता है, अन्यत्र नहीं जाता। रास ही इसकी परिधि है।

यह बात भी स्वयंसिद्ध है कि इस सम्बन्ध की आवश्यकता समझकर ही सूर की कल्पना ने इस ओर संचार किया। सूरसागर में बाल-कृष्ण और गोपाल-कृष्ण को ही विशेष गौरव मिला है। वात्सल्य-रस की निष्पत्ति के लिए कृष्ण-यशोदा बस हैं; किन्तु माधुर्य भावना के प्रस्फुरण के लिए कृष्ण का एकत्व पर्याप्त नहीं। यद्यपि गोपियों का सम्पर्क माधुर्य को जन्म देता है, तो भी सह-चरी विशेष के बिना उसका रूप स्थिर नहीं हो पाता। सम्भवतः सूर को भागवत

का यह अभाव अखरा हो, इसीलिए गोपी विशेष (राधा) को, जिसका अन्य ग्रन्थों ने भी समर्थन किया है, स्वीकार किया हो। आध्यात्मिक पक्ष में राधा और कृष्ण से आत्मा और परमात्मा का अर्थ ग्रहण करने पर कोई विशेष बाधा सामने नहीं आती, किन्तु व्यवहार में राधा-कृष्ण की सम्बन्ध-स्थापना के बिना उनकी मधुर क्रीड़ाएँ राधा-कृष्ण के जीवन पर कलंक लगाती प्रतीत होती हैं, जिससे हिन्दू-आदर्शों और आर्य-जीवन पर धब्बा लगता है। सब जगत् के सामने आदर्श उपस्थित करने वाले, गीता का उपदेश देने वाले, जगद्गुरु श्रीकृष्ण भगवान् के चरित्र के विषय में लांछनों को अवकाश मिल जाये, तो अन्य मनुष्यों का तो कहना ही क्या! अतएव आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं, अपितु व्यावहारिक दृष्टि से भी कृष्ण-जीवन को पूर्ण बनाने के विचार से सूर ने इस विवाह का आयोजन किया है, यह विचार भी कुछ दूर का नहीं। रुक्मिणी आदि कृष्ण-पत्नियाँ गोपाल कृष्ण से सम्बन्धित नहीं हो सकती थीं। अतएव राधा ही उपयुक्त ठहरीं, क्योंकि गोपाल कृष्ण के साथ जिसकी आयु अभी ६-७ वर्ष की ही है किसी गोप बालिका का ही सम्पर्क व्यावहारिक स्वाभाविकता को स्थित करता है, रुक्मिणी जैसी राजकन्या का नहीं।

सूरसागर के कुछ प्रसंगों का आधार जयदेव कृत गीतगोविंद में भी है। सूर के 'खंडिता समय वर्णन', 'रतिक्रीड़ा वर्णन' तथा 'मान वर्णन' इसी के संतुल्य हैं, किन्तु विभिन्नताएँ सूर की मौलिक हैं। गीतगोविंद में राधा नायिका और कृष्ण नायक हैं, किन्तु सूरसागर में प्रमदा, सुषमा, वृन्दा, चन्द्रावलि आदि सभी गोपियों को खंडिता रूप में प्रदर्शित किया गया है। लगभग सभी का एक सा उलाहना है। सुरतांत के लक्षणों को देखकर प्रत्येक नायिका समान रूप से कृष्ण को उलाहना देती है और 'जिसके पास रात बिताई उसी के पास जाओ', इसी भाव को प्रकट करती है। सूरसागर में सुरतांत के इन लक्षणों का उल्लेख है—शरीर शिथिल हो जाना, प्रस्वेद-बिन्दु का झलकना, वस्त्रों का व्यस्त हो जाना, आँखें नींद से लाल हो जाना, जँभाई आना, माथे का चंदन छूट जाना, अधरों पर काजल लगना, वक्ष पर चंदन या केशर लग जाना, वक्ष का नख चिह्नित हो जाना, अधरों पर दन्तक्षत हो जाना और शिर पर जावक लग जाना। खंडिता का वर्णन अनेक रीति-ग्रन्थों में भी मिलता है, किन्तु जयदेव की कोमलकान्त पदावली ने भक्ति-क्षेत्र में माधुर्य भाव की जो धारा बहाई उसके प्रभाव से कोई भक्त-हृदय अछूता न बचा होगा, और कम से कम कृष्ण-भक्तों ने तो अवश्य ही रस-सुधा का पान किया होगा। संदेह के लिए तो इसमें कोई अवकाश नहीं कि जयदेव के गीतों के भावों को जो संस्कृत के पंडितों को ही आस्वाद्य थे, सूर ने जनसाधारण की भाषा में अंकुरित कर दिया था।

सूर के मान वर्णन में भी गीतगोविन्द का ही आदर्श है जिसका विकसित

एवं परिमार्जित रूप 'राधा का बड़ा मान वर्णन' में मिलता है। गीतगोविन्द के समान राधा को मनाने के लिए दूती का उपयोग किया जाता है और उसी तरह कृष्ण स्वयंदूतिका होकर जाते हैं। गीतगोविन्द में स्वयंदूतिका रूप में कृष्ण वेश बदलकर नहीं जाते, किन्तु सूरसागर में वह दूती वेश में जाते हैं और एक बार राधा उनको पहिचान भी लेती हैं और भेद खुल जाता है। गीत-गोविन्द में दूतियों की संख्या नहीं दी गयी। सूरदास ने कृष्ण-दूतियों की संख्या तीन लिखी है। राधा की कोई दूती नहीं दिखायी पड़ती। गीतगोविन्द की दूती राधा और कृष्ण दोनों का विरह वर्णन करती है, जिसे सुनकर एक दूसरे के हृदय पर भारी प्रभाव पड़ता है, किन्तु सूरसागर में इस प्रसंग में राधा का विरह भुला-सा दिया गया है। कृष्ण का राधा के आगमन की सूचना पाकर छटपटा जाना तथा वासकसज्जा रूप में राधा-वर्णन गीतगोविन्द के संतुल्य है। सुरति और सुरतांत का प्रतिपादन गीतगोविन्द के अनुरूप है, किन्तु सूरसागर में इनका रूप वैसा नहीं निखर सका जैसा गीतगोविन्द में।*

'कृष्ण बलराम का अक्रूर के साथ जाना' तथा 'नन्द का मथुरा से लौटकर आना', इन वर्णनों के पढ़ने से मस्तिष्क के सामने रामायण के 'रामवनगमनम्' और 'सुमन्तागमनम्' का चित्र आ नाचता है।

एकादश स्कन्ध

सूरसागर के इस स्कंध में केवल ६ पद हैं, जिनमें से प्रथम पाँच में उद्धव जी का वदरिकाश्रम गमन वर्णन है, जो भागवत के २९वें अध्याय का विषय है और छठे पद में हंस रूप से सनकादि को दिये हुए उपदेश का वर्णन है, जो भागवत के तेरहवें अध्याय का विषय है। सूरसागर में दोनों प्रकरणों के क्रम में भी उलट फेर कर दिया गया है। स्कंध के शेष अध्यायों की सामग्री का सूर-सागर में नाम भी नहीं है।

---

* सूरसागर के 'सुख-विलास' और 'गृहगवन' के लिखने की प्रेरणा सूर को क्रमशः गीतगोविन्द के प्रथम सर्ग के प्रथम गीत और सप्तम सर्ग के प्रबन्ध १९ के १० वें गीत से मिली हैं।

१—मेघैर्मेदुरयम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै—
नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृह प्रापय।
इत्थं नंदनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधमाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः।

२—प्रातर्नीलनिचोलमच्युतमुरः संवीतपीताम्बरम्।
राधायाश्चकितं विलोक्य हसति स्वैरं सखीमण्डले।
व्रीडाचञ्चलमञ्चलं नयनयोराधाय राधानने।
स्वादुस्मेरमुखोऽयमस्तु जगदानन्दाय नन्दात्मजः॥

द्वादश स्कन्ध

सूरसागर में यह स्कंध भी बहुत संक्षिप्त कर दिया गया है। इसमें केवल बौद्धावतार वर्णन, भविष्य कल्कि अवतार वर्णन, राजा परीक्षित हरिपद प्राप्ति वर्णन, और जनमेजय कथा वर्णन है। बौद्धावतार का वर्णन भागवत के १२वें स्कंध में नहीं है। इसका उल्लेख ११वें स्कंध के चौथे अध्याय के अन्त में मिलता है, जिसका स्वरूप सूर ने कुछ परिवर्तित कर दिया है। सूरसागर का 'भविष्य कल्कि अवतार वर्णन' भागवत के दूसरे अध्याय का विषय है। 'राजा परीक्षित हरिपद प्राप्ति' और 'जनमेजय कथा वर्णन' भागवत के छठे अध्याय के विषय हैं। भागवत के शेष अध्यायों का सूरसागर में लोप है।

सामान्य विवेचना

शायद ही कोई राग हो जिसका समावेश सूरसागर में न हो। इससे सूर के संगीत-कौशल का प्रौढ़ प्रमाण मिलता है। सूरसागर के जीवन और साहित्य के अध्ययन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूर ने भागवत की कथा को संगीत कला के घाट उतारने का प्रयास किया है, जिसकी प्रेरणा सम्भवतः उन्हें तीन ओर से मिली—पहली प्रेरणा सूर की संगीत रुचि की ओर से, दूसरी भागवत की कथा को रोचक, हृदयग्राही और सुगम बनाने के विचार से, तीसरी भागवत की कथा को नित्य कीर्तनोपयुक्त बनाने के विचार से। इस प्रेरणा का बहुत कुछ पोषण जयदेव के गीतगोविन्द विद्यापति की पदावली तथा सन्त पदावली से हुआ जिन्होंने हृदयगाही होकर इस दिशा में पथ-प्रदर्शक का काम और भक्त-मण्डली के हृदय पर जादू का असर किया। इन प्रेरणाओं से सूर की पदरचनाओं ने जन्म ग्रहण किया। संगीत की आधार-शिला पर सूर के पदों का निर्माण हुआ किन्तु इसके साथ कथा-प्रवृत्ति भी निरन्तर काम करती रही। ऐसा कह देना कि सूर ने अनेक अवसरों पर अनेक अक्रम पद रचे, बहुत भ्रामक होगा। इससे सूर के हृदय की गवेषणा में बाधा पड़ती है। उनका हृदय भक्त-हृदय था, उनका हृदय कवि-हृदय था। दोनों में अनूठा सामंजस्य था। भक्ति और कवित्व घुल-मिलकर एकरस हो रहे थे। इसलिए यह कह देने से कि सूर ने विभिन्न अवसरों पर विभिन्न पदों की अक्रम रचना की, सूर के कवि-हृदय के प्रति अन्याय ही होगा। सूर की कवित्व शक्ति ने उनकी भक्ति-भावना को तल्लीनता और तन्मयता प्रदान की। वे पद बनाते और तन्मय होकर गाते और इतर श्रोताओं को आनन्दविभोर करते थे। बहुत सम्भव है कि विनय के पदों को लिखते समय सूर के मस्तिष्क में सूरसागर न हो, किन्तु सूरसागर की रचना के समय भागवत की उपस्थिति उनके मस्तिष्क में अवश्य थी, जिसकी पुष्टि सूर के लम्बे-लम्बे वर्णनों से होती है।

अन्यत्र विचार किया जा चुका है कि 'दशम स्कंध' सूरसागर का प्राण है। सूर की प्रतिभा का चरम विकास इसी में हुआ है। यहाँ कृष्ण-जीवन के दो विभाग हैं—वत्स कृष्ण और वल्लभ कृष्ण। वत्स कृष्ण से वात्सल्य और वल्लभ कृष्ण से श्रृंगार रस की निष्पति करायी गयी है। वल्लभ कृष्ण के तीन रूप हैं—ब्रजनाथ, मथुरानाथ और द्वारकानाथ। ब्रजनाथ राधादि गोपियों के वल्लभ हैं। वे गोपियों के साथ विविध रसकेलियाँ करते हैं, जिनसे सम्भोग श्रृंगार की प्रतिपत्ति होती है। मथुरानाथ और द्वारकानाथ कृष्ण को प्रवासी कृष्ण भी कह सकते हैं। इस रूप में वे राधादि से विप्रयुक्त हैं। कृष्ण के इस जीवन में सूर की रागात्मिका वृत्ति की गहरी पहुँच हुई है। उनकी भावनाओं में राग के साथ प्रभूत गांभीर्य भी है। सूर ने द्वारकानाथ के जीवन की अवहेलना तो नहीं की, परन्तु उसमें सूर की वृत्ति का न तो गांभीर्य है, न प्रसार ही।

सूरसागर में दो प्रकार के स्थल मिलते हैं, एक तो वर्णनात्मक स्थल जिनमें लम्बे-लम्बे पद, वर्णनात्मक शैली और बुद्धि-तत्व का प्राधान्य है, दूसरे रागात्मक स्थल जिनमें छोटे-छोटे पद, मुक्तक शैली और हृदय-तत्त्व का प्राचुर्य है। इन दोनों स्थलों में सूर की दो विभिन्न शक्तियों ने काम किया है। वर्णनों में सूर की मस्तिष्क शक्ति भागवत की तत्समता पर अधिक सन्नद्ध है। वहाँ सूर को हम फोटोग्राफर के रूप में देखते हैं। रागात्मक पदों में सूर के गम्भीर भावों और उच्च भावनाओं ने काम किया है। यद्यपि इनमें दैनिक जीवन के रोज सामने आने वाले चित्र हैं, परन्तु रंगीनी ग़ज़ब की है। तूलिका, कहीं हलकी कहीं भारी, इस सफाई से चली है कि इनसे जी में ऊब का नाम तक नहीं आता, जब देखिये तभी नया आकर्षण। इन स्थलों में हैं सूर पेंटर। सूर की चित्रकारी के सुन्दर नमूने दशम स्कन्ध में भरे पड़े है।

वर्णनों में सूर को अपने अस्तित्व की चेतना है। वहाँ सूर भावों में तन्मय नहीं हैं, उनसे कुछ अन्तर पर हैं, किन्तु रागात्मक पदों में सूर भावों में तल्लीन हैं। यहाँ सूर अपने काव्य में घुले-मिले दीख पड़ते हैं। यहाँ सूर के व्यक्तित्व का पृथक् दर्शन नहीं होता। यही सूर का सर्वश्रेष्ठ काव्य है। इसमें परले दर्जे की व्यंजकता और रसात्मकता (suggestion and sensuousness) है। इसमें उस मौलिक स्वाभाविकता की अभिव्यंजना है जिसमें न केवल यशोदा कृष्ण की बाल क्रीड़ाओं का रस लेती है, अपितु पाठक किसी भी बालक की बालकेलि का दर्शन कर सकता है। 'वात्सल्य' के चित्रण में सूर को विस्मय-जनक सिद्धि प्राप्त हुई है। इस दिशा में जैसा वह सूरसागर में गाते हैं, पाठक या श्रोता जगत् में वैसा ही निरखते हैं और वे सूर के भावों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। इसीलिए सूर अधिक सरस हैं।

८

मीराँ की माधुर्य-भावना

माधुर्य भावना की प्रतिमा मीराँ बाई हिन्दी साहित्य के भक्ति-युग में प्रेम-योगिनी के रूप में अवतीर्ण होती है। उन्हें पीछे का ध्यान नहीं है, आगे क्या होगा उसकी भी उन्हें चिन्ता नहीं है। हाँ, वर्तमान को वे हाथ से नहीं खोना चाहतीं। उसकी सफलता वे कृष्ण के साथ अपने योग से मानती हैं। यों तो प्रत्येक भक्त-हृदय की प्रेमधारा परमात्मा के चरणों की ओर प्रवाहित होती है, किन्तु मिलन किस रूप में होता है अथवा किस प्रकार उसके लिए अभिलाषा प्रकट की जाती है, इससे भक्ति का रूप व्यक्त हो जाता है। कहना न होगा कि उत्कट लौकिक प्रेम जब परमात्मा के सम्बन्ध से हृदय में उद्वेलित होता है तभी भक्ति का उद्भव होता है, किन्तु लौकिक सम्बन्धों को भगवान् में देखने के दो रूप हैं—एक तो सहज भावना और दूसरा आरोप। माधुर्य भावना की सहज प्रतिष्ठा आरोप में दु:साध्य है। मीरा ने कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध की प्रतीति 'लौ' की गम्भीरता में की है, जिसमें रूपमाधुर्य और आत्म-निवेदन का बड़ा अनूठा पुटपाक बन गया है।

वैष्णव भक्ति की कृष्णाश्रयी शाखा में भी 'माधुर्य-भाव' की प्रतिष्ठा दीख पड़ती है जिसका जन्म संभवत: भागवत से हुआ है। कृष्णोपासना में भगवान् के स्वरूप में प्राय: लोकरंजन की खोज की गयी है जिसका आधार प्रेम है और प्रेम का प्रतिफलन भी प्रमुखत: दो ही रूपों में हो रहा है—वात्सल्य प्रेम के रूप में और दाम्पत्य प्रेम के रूप में। पहले का आलंबन बालकृष्ण और दूसरे का गोपीवल्लभ, प्रेममूर्ति कृष्ण हैं। भगवान् कृष्ण के प्रति गोपियों का प्रेम दाम्पत्य भाव के रूप में है और इष्ट सान्निध्य पति-पत्नी समागम के रूप में। भगवान् के प्रति भक्ति की प्रियतम-भावना को 'माधुर्य-भाव' कहते हैं जिससे साहित्य में 'मधुररस' की निष्पत्ति होती है।

कृष्णाश्रयी दाम्पत्य भावना में भी दो पक्ष मिलते हैं, लीला-पक्ष और ध्यान-पक्ष। लीला-पक्ष में गोपियाँ कामिनी के रूप में श्रीकृष्ण को प्रेम करती हैं और उसी रूप में वे अपने प्रेम की तृप्ति करना चाहती है। इस क्षेत्र में भक्त लोग राधा और कृष्ण के परस्पर प्रेम की भावना द्वारा 'मधुर रस' में लीन होते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी काव्य में नायक नायिका के प्रेम-व्यापार को पढ़-सुन कर पाठक या श्रोताजन शृंगार-रस में मग्न होते हैं।* ध्यान-पक्ष में भक्त अपने में गोपियों की भावना उसी प्रकार करता है जिस प्रकार नाटकादि में नट अपने अनुकार्य की भावना करता है। आश्रय के स्त्री होने की दशा में ध्यान-पक्ष में किसी आरोप की आवश्यकता का न होना सम्भव है, पर पुरुष उपासक के ध्यान में तो वह शृंगार आलंकारिक आरोपमात्र रहता है। ध्यान-पक्ष की सफलता भाव-तीव्रता पर निर्भर है। आरोप से सम्बन्ध-भावना जितनी गहन होती है, रसानुभूति उतनी ही मार्मिक और गम्भीर होती है।

इस विवेचन के उपरान्त यह कह देना कि मीराँ की दाम्पत्य-भावना में आरोप का पुट प्रतीत नहीं होता, अनुचित न होगा क्योंकि मीराँ स्वयं यह कहती हैं—

मेरे तो गिरधर गुपाल दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई॥

हमें मीराँ और गोपाल के सम्बन्ध से विस्मय नहीं होता, किन्तु जब कबीर यह कहने लगते हैं—

राम मेरे दूल्हा, मैं राम की बहुरिया

तो उन्हें (कबीर को) बहुरिया के रूप में बना हुआ देख कर उनके आरोप का सहसा ज्ञान हो जाता है। कृष्ण के साथ मीराँ का सम्बन्ध लोकदृष्टि से भी वास्तविक और गहन प्रतीत होता है। इसी से उसमें किसी अटपटेपन या आरोप का आभास नहीं मिलता। इसीलिए मीराँ के पाठकों को उनके गीतों में भावनात्मक गम्भीरता की अनुभूति होती है।

यहाँ यह देखना आवश्यक हो जाता है कि क्या मीराँ अपनी भावना का निरन्तर निर्वाह भी कर सकी है या नहीं? मीराँ की प्रेम-साधना में संयोग और वियोग, दोनों पक्ष मिलते हैं। दोनों में वे तल्लीन दिखायी पड़ती हैं। संयोग दशा में अलौकिक आनन्द की अनुभूति से वे सर्वस्व भूल जाती हैं और वियोग-दशा में विरह व्याकुलता से उन्हें आत्म-विस्मरण तक हो जाता है। संयोग दशा का

* देखिये रा० चं० शुक्ल—सूरदास।

प्रारम्भ भी विरहानुभूति से ही होता है। निस्सन्देह संयोग-सुख की अनुभूति के लिए विरह वेदना आवश्यक है। लौकिक विरह की चार अवस्थाओं में पूर्वानुराग सबसे पहली अवस्था है। यहाँ आकर्षण के साथ-साथ विरह की पीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। रूप-दर्शन ही नहीं, गुण-श्रवण भी इस पीड़ा को जन्म दे सकता है। मीराँ की मधुर वाणी में दोनों ही कारण बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत मिलते है। रूप-दर्शन से आकर्षण और पूर्वानुराग की दशा को देखिये—

नैणा लोभी रे बहुरि सके नहिं आइ।
रूँमरूँम नख-सिख सब निरखत,
ललकि रहे ललचाइ।
मैं ठाढ़ी गृह आपणेरी, मोहन निकसे आइ।
वदनचन्द परचासत हेली, मन्द-मन्द मुसकाइ।

ऐसे रूप को देखकर कोमल हृदय में आकर्षण का होना अनिवार्य है। यह बात नहीं कि नारी हृदय ही कोमल होता है, वरन् कोमलता भक्त-हृदय की पीठिका है। जब हृदय इस प्रकार रूप की ओर बहने लगता है तो वर्जन, तर्जन, बतकही आदि भावों का भी सहजोदय हो जाता है।

लोक कुटुम्बी बरजि बरजहीं, बतियाँ कहत बनाइ।
चंचल निपट अटक नहीं मानत, पर हथ गये बिकाइ॥

उक्त संचारियों में अन्तिम पंक्ति द्वारा मीराँ अपने मन की 'पोल' और निर्णय का भी उद्घाटन कर देती हैं। बस अपनी बुद्धि के राज्य को मन के हवाले कर मीराँ पूर्वानुराग की पीड़ा से कातर हो उठती हैं। वे अपने रहस्य को छिपा नहीं सकतीं। सखी-सहेलियों पर इसका प्रकट हो जाना मुग्धा नायिका के स्वभाव की सहज स्थिति है। मीराँ को नंदनंदन का रूप-लावण्य मुग्ध कर लेता है और ऐसा जादू हो जाता है कि उनको और कुछ सुहाता ही नहीं है। उनकी विकलता इस प्रकार फूट पड़ती है :—

जब से मोहिं नन्दनन्दन, दृष्टि पड्यो माई।
तबसे परलोक लोक, कछू न सोहाई।
मोरन की चन्द्रकला, सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल, कपोलन पर भाई।
मनों मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई॥

× × ×

उद्दीपन के लिए वेष-सज्जा के इन उपकरणों में से कोई भी पर्याप्त है, किन्तु 'चितवन' में बाण की भाँति घायल करने की शक्ति होती है। 'जादू-टोने' में तो उससे भी अधिक शक्ति होती है। बाण घायल को गिराकर छोड़ता है

और 'टोना' उसे मुग्ध करके, उसकी वृत्तियों को स्वायत्त कर लेता है। इसलिए मीराँ की मार्मिक गिरा से निकल पड़ता है—

कुटिल भृकुटी तिलक भाल, चितवन में टोना।

रूप-माधुरी के साथ-साथ कृष्ण की गुण-गरिमा भी मीराँ को आकर्षण प्रदान करती है। मीराँ ही नहीं, बड़े-बड़े मनस्वी तक कृष्ण पर मुग्ध हो चुके हैं; अतः उनका गुण-गौरव सिद्ध है—

सुर नर मुनि मोहे हो, ठाकुर जदुनाथ।
इन्द्रकोप घन बरख्यो, मूसलधार।
बूड़त ब्रज को राखेउ, मोरे प्रान अधार॥

धीरे-धीरे यह आकर्षण विकसित होता चला जाता है। दर्शन की चाट पड़ जाती है और गुण हृदय में आसन लगाकर स्थिर होते चले जाते हैं। तब कृष्ण ही नहीं, उनसे सम्बन्धित वस्तु और स्थान भी मीराँ की स्मृति पर अपनी छाया डाल देते है। गौओं का साथ, कालिन्दी का तीर, शीतल कदम्ब की छाया और मुरली की मधुर ध्वनि, सभी में मोहन मन्त्र की प्रतीति होने लगती है :—

मोर मुकुट पीताम्बर हो, गल बैजन्ती माल।
गउवन के संग डोलत हो, जसुमति को लाल॥
कालिन्दी के तीर हो, कान्हा गउवाँ चराय।
शीतल कदम की छाहियाँ, हो मुरली बजाय॥

जब आकर्षण अचल और परिचय सघन हो जाता है तो मुग्धावस्था प्रौढ़ावस्था में बदल जाती है, लज्जा किनारा कर जाती है और लोक की चिन्ता नहीं रहती। प्रियतम के सम्बन्ध में लोक-दृष्टि भी प्रियतमा को अमान्य हो जाती है। वह अपना निश्चय बना लेती है। ऐसा ही निश्चय, ऐसी ही प्रौढ़ता मीराँ में दिखायी देती है। वे कहती हैं—

माई री मैं तो लियो गोबिन्दो मोल।
कोई कहै छाने कोई कहै चौड़े, लियो री बजन्ता ढोल।
कोई कहै मुँहघो, कोई कहै सुँहघो, लियो री तराजू तोल॥
कोई कहै कारो कोई कहै गोरो, लियो री अमोलिक मोल॥

कुतर्कियों को उत्तर देकर, प्रियतम के सम्बन्ध में अपनी परख सुनाकर मीराँ अपना निश्चय घोषित कर देती है—

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ।
× × ×
जो पहिरावै सोई पहरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उनकी प्रीति पुराणी, उण बिन पल न रहाऊँ॥

यह है मीरा के पूर्वानुराग की दशा का संक्षिप्त दर्शन । इसकी व्याकुलता संयोग की दशा में नहीं रहती, किन्तु तब एक भिन्न प्रकार की मधुर टीस का अनुभव होता है । यह है मान की दशा । संयोग की दशा में प्रियतमा की यही इच्छा बनी रहती है कि प्रियतम उसकी ओर देखता रहे । वह प्रियतम के मान को नहीं सह सकती । ऐसी दशा का अनुभव करके मीराँ मनुहार करती हैं—

तनक हरि चितवौजी मोरी ओर ।
हम चितवत तुम चितवत नाहीं, दिल के बड़े कठोर ।।
मेरे आसा चितवनि तुमरी, और न दूजी दोर ।
तुमसे हमकूँ कबर मिलोगे, हमसी लाख करोर ।।
ऊभी ठाढ़ी अरज करत हूँ, अरज करत भयो भोर ।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, देस्यूँ प्राण अँकोर ।।

अपनी इच्छा, अपनी आशा और अपनी दुर्बलता व्यक्त करके मीराँ प्रियतम की कठोरता भी व्यक्त कर देती हैं । जब अनुनय-विनय से बात बनती नहीं दीखती और प्रिय-हृदय अप्रभावित रहता है तो उन्हें 'देस्यूँ प्राण अँकोर' ही कहना पड़ता है । यहाँ मीराँ को नारी मनोविज्ञान का सुन्दर सहयोग प्राप्त हुआ है ।

संयोग की दशा में दाम्पत्य भाव में बड़े-छोटे का भाव नहीं रहता हैं । प्रियतम के मोहने के लिए प्रियतमा का आत्म-निवेदन स्वतः ही व्यक्त हो जाता है । उसके अन्तर्गत आत्म-दैन्य-प्रकाशन और आलम्बन के उत्कर्ष का वर्णन सहज ही में आविर्भूत हो जाता है :—

हरि मोरे जीवन प्रान अधार ।
और आसिरो नाहीं तुम बिन, तीनूँ लोक मँझार ।।
आप बिना मोहि कछु न सुहावे, निरख्यो सब संसार ।।
मीराँ कहे मैं दासी रावरी, दीज्यो मती बिसार ।।

कहीं मुझे तुच्छ समझ कर भूल न जायें इससे वे अपनी अभिलाषा प्रकट करती हैं—

बसो मोरे नैनन में नन्दलाल ।

संयोग की दशा में ही मीराँ को वियोग का भय सताने लगता है—

होजी म्हाँराज छोड़ मत जाज्यो
मैं अबला बल नाहिं गुसाई, तुमही मेरे सिरताज ।

जिस वियोग का भय था वही एक दिन सामने आ जाता है । पिछली बातें, अपना व्यवहार मीराँ को मानों याद आता चला जाता है । ऐसी ही अवस्था

गोपियों की हो जाती है। वे अपनी भूलों के सम्बन्ध में बड़ी सतर्क हैं, किन्तु वियोग दशा में। मीराँ अपनी भूल इस प्रकार व्यक्त करती है—

मैं जाण्यों नाईं प्रभु को, मिलन कैसे होइरी।
आये मेरे सजना फिरि गये अँगना, मैं अभागण रही सोइरी॥

यह अनुभव की बड़ी सुन्दर परिस्थिति है। अपनी भूल पर पश्चात्ताप होना स्वाभाविक है।

इसके आगे मीराँ की वियोग की अनुभूति बड़ी तीव्र और विशाल हो गयी है। दूसरों को प्रकट करके कदाचित् विरह वह्नि को कम किया जाता है। पुरुष उसे छिपा लेता है, किन्तु नारी हृदय उसके गोपन में असमर्थ होता है। इसलिए मीराँ कह उठती हैं:—

'हेरी मैं तो दरद दिवाणी होइ।'

इसके उपरान्त उपालंभ प्रारम्भ हो जाते हैं:—

देखो सइयाँ हरि मन काठो कियो।
आवन कह गयो अजहुँ न आयो, करि करि बचन गयो॥

इस उपालंभ की दशा में प्रीति पर भी आक्षेप किया जाता है :—

'प्रीति कियाँ सुख ना मोरी सजनी।'

यह सब कुछ होते हुए भी मिलने की इच्छा क्षीण नहीं होती—

'मीराँ कह, प्रभु तुमरे दरस बिनु, लगत हिवड़ा में सूल।'

उपेक्षा भाव भी लाने की इच्छा की जाती है, पर वह बन नहीं पड़ता—

जाबादे जाबादे जोगी किसका मीत।
+ + +
जावो निरमोहिया जाणी तेरी प्रीति॥

एक बार संदेश लेने-देने की इच्छा होती है। देने के लिए वे पत्र लिखना चाहती हैं किन्तु विरहिणी मीराँ से लिखते नहीं बनता :—

पतियाँ कैसे लिखूँ, लिखही न जाय।
कलम धरत मेरो कर कंपत, हिरदो रहो थर्राइ॥

+ + +

मेघों का आगमन और पपीहा की पुकार मीराँ के हृदय में बुरी तरह खटकती है :—

बादल देख डरी हो श्याम मैं बादल देख डरी।

तथा—

पपइयारे पिय की बाणी न बोल।

वे किसी प्रकार अपनी दशा का प्रियतम को ज्ञान कराना चाहती है। इसके लिए वे वस्तु जगत् की शत्रुता और मन की दुर्विनीतता का विशद वर्णन करती हैं। वे किस प्रकार प्रतीक्षा में समय बिताती हैं, शरीर की क्या दशा हो गयी है, आदि बातों का बड़ा मार्मिक चित्र मीराँ की वाणी में उभरा है।

इस प्रकार मीराँ की भक्ति-साधना में माधुर्य-भावना का बड़ा सुन्दर पुट-पाक मिलता है। संयोग-वियोग, मान-पूर्वानुराग, विरह-निवेदन, उपालंभ, आदि दशाएँ नारी-मनोविज्ञान का सुन्दर परिचय प्रस्तुत करती हैं।

१

भक्तिगीतों की दृष्टि से विनयपत्रिका

"साधारणतः गीत व्यक्तिगत तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"* गीतकाव्य की चार विशेषताएँ होती हैं—(१) आत्माभिव्यक्ति, (२) भावों की एकरूपता, (३) संगीत, (४) संक्षिप्तता। विनयपत्रिका में इन चारों बातों का पूर्णरूप से निर्वाह हुआ है। तुलसी के आत्मनिवेदन में भक्ति की अनेक भूमिकाएँ निहित हैं। उनकी भक्ति का प्रमुख रूप दास्य भाव है जिसकी चरम परिणति आत्मसमर्पण में होती है। विनयपत्रिका की ये विशेषताएँ उसकी गीतात्मकता के अनुकूल पड़ी हैं।

यों तो रामचन्द्र शुक्ल ने विनयपत्रिका में तुलसी की प्रवृत्ति प्रगीत काव्य की अपेक्षा अनुकृत काव्य (imitative poetry) की ओर अधिक बतायी है। तथापि इसमें लोकपक्ष की अपेक्षा निजीपक्ष, स्वपक्ष या वैयक्तिकता अधिक है, जो गीतकाव्य का प्राण है। सभी पद भावानुकूल रागों में बँधे हैं। विनयपत्रिका संगीत की लहरदार लोल लहरियों का लहराता हुआ एक रम्य सरोवर है। इसमें संगीतज्ञ कवि की भावोर्मियाँ जिस तीव्र गहनता से लहराकर पाठक या श्रोता के हृदय को प्रभावित करती हैं, उसी में विनयपत्रिका की विशेषता है।

गीतगोविन्द की कोमल-कान्त-पदावली में हरि-स्मरण के रसायन की अपेक्षा विलास-कला-कौतूहल का मधुमय अवलेह अधिक है; विद्यापति में संगीत और मधुरता तो है, पर आत्मनिवेदन की सुन्दर शब्दावली का अभाव है। उनकी पदावली में 'वासना और विलास' तथा 'कामकेलि तथा रतिकेलि' के शत शत चटकीले चित्र हैं। उद्दाम वासना और यौवन की उन्मुक्त धारा बहती प्रतीत होती है। कबीर के पदों में अरूप को रूप देने का मद है। उस मनोरम झाँकी

---

* महादेवी वर्मा

को अटपटी वाणी में प्रतीकों द्वारा उतारने का प्रयत्न तो कबीर में अवश्य है, पर स्वीयता (निजीपन) कम है। कबीर की वाणी में सरसता के स्थान पर फक्कड़पन और अक्खड़पन अधिक हैं। हठयोग की विचित्र शब्दावली ने भी अनेक स्थलों पर संगीतात्मकता को पर्याप्त हानि पहुँचाई है। सूर में सरसता और दैन्य का स्वर अवश्य है, पर प्रगल्भता और हँसोड़पन की स्वाभाविक आदत भी है; इसलिए वे न तो तुलसी की सी गम्भीरता प्राप्त कर सके हैं और न द्रवणशील आर्तता। तुलसी मे व्यक्ति और समष्टि दोनों के शील को ऊँचा उठाने का प्रयास है। और यही कारण है कि महादेवी ने उनके गीत पदों को 'स्वर्ग की मन्दाकिनी' कहा है।

विनयपत्रिका में तुलसी की भक्ति-भावना

तुलसी का स्वर विनयपत्रिका में पूर्ण दैन्यमय शब्दों में मुखरित हुआ है। उसमें शरणागति का भाव है। तुलसी ने अपने आपको स्वामी के चरणों में डाल दिया है। इसलिए उनके समग्र अवगुणों की जिम्मेदारी स्वामी पर है :—'बिगरे सेवक श्वान ज्यों साहब सिखाई गारी।' तुलसी की भक्ति भक्ति के लिए है, स्वर्ग और अपवर्ग प्राप्त करने के लिए नहीं :—

चाहों न सुगति, सुमति, सम्पति
कछु रिद्धि सिद्धि विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम-पद
बढ़े अनुदिन अधिकाई।

आत्म-दोष-दर्शन और आत्म-दोष-स्वीकृति भी तुलसी में सूर की अपेक्षा अधिक है—

राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो?
राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो?

तुलसी की विनयपत्रिका उनके हृदय-उद्‌गारों की माला और भक्तों के अवगाहन के लिए अमृत का सरोवर है। विनयपत्रिका में तुलसी के हृदय,से जो शब्द-स्रोत उमड़ कर बहा है, वह अत्यन्त पवित्र और हृदय को पवित्रता देने वाला है। उनकी राम-भक्ति वह वस्तु है जो हृदय की रागात्मक वृत्ति का परिष्कार करती है और उसमें सरसता, प्रफुल्लता, शक्ति और पवित्रता, सभी कुछ भर देती है। वह सर्वांगपूर्ण है। उसमें ज्ञान और कर्म का सुखद समन्वय है। वे कोरे उपदेशवादी नहीं हैं, बल्कि भाव और प्रतिभा द्वारा लोकादर्श स्थापित करने वाले महाकवि हैं। उन्होंने उपदेशवाद को 'वाक्यज्ञान' कह कर हीन बतलाया है—

वाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुण भव-पार न पावे कोई।
निशि गृह-मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई॥

उन्होंने राम में ही सब आदर्शों का समावेश कर दिया है। उनकी भक्ति में आत्म-निवेदन, आशा, उन्माद, ग्लानि और आत्मसमर्पण है। 'यह एक ऐसी उच्च भूमि है, जहाँ भक्त झुक-झुक कर अपने दोषों को देखना ही नहीं बल्कि उठ-उठ कर दिखाता है। हाँ, लोक-प्रवृत्ति अवश्य इसके प्रतिकूल होती है।' भक्त के लिए दैन्य ही सब कुछ है। भक्ति में लेन-देन नहीं होता। भक्त तो केवल शील, सौन्दर्य और शक्ति के उस अनन्त सागर के किनारे खड़ा होकर देखने में ही आनन्द मानता है। तुलसी ने स्थान-स्थान पर राम-भक्ति-विमुख मन को प्रताड़ित किया है :—

कैसी मूढ़ता या मन की।
छाँड़ि राम भगति सुर-सरिता, आस करत ओस-कन की।

शास्त्रीय दृष्टि से विनयपत्रिका में तुलसी की भक्ति

तुलसी की भक्ति साधनावस्था की भक्ति अर्थात् गौणी भक्ति है। सिद्धा-वस्था की भक्ति अर्थात् परा भक्ति नहीं है। वे अपने को सदैव साधक के रूप में उपस्थित करते हैं, एक ऐसा व्यक्ति दिखाते हैं जो बार-बार अन्धकार में घूम रहा हो।

गौणी भक्ति के दो रूप होते हैं—एक में भक्ति धूप, दीप, नैवेद्य आदि से की जाती है और दूसरे में प्रेम-परिपूर्ण वर्णन द्वारा, जिसे रागानुगा भक्ति कहते हैं। तुलसी की भक्ति रागानुगा गौणी भक्ति है।

भागवत के अनुसार भक्ति चार प्रकार की होती है—१. तामसी, २. राजसी, ३. सात्विकी, और ४. निर्गुण (अहैतुकी)। तुलसी की भक्ति चौथे प्रकार की है, क्योंकि वे अपने इष्टदेव से कुछ चाहते नहीं हैं। उनकी यदि कोई अभिलाषा है तो केवल यह—'हेतु रहित अनुराग राम-पद वंदौ अनुदिन अधिकाई।'

गीता के अनुसार भी चार प्रकार के भक्त होते हैं : (१) अर्थार्थी, (२) आर्त, (३) जिज्ञासु, और (४) ज्ञानी। तुलसी ज्ञानी भक्त हैं क्योंकि वे अर्थ और आर्तता की श्रेणी से ऊपर उठ चुके हैं। हाँ, कभी कभी उनकी जिज्ञासा अवश्य दिखाई पड़ जाती है।

तुलसी की विनय-भावना

विनय की सात भूमिकाएँ होती हैं। विनयपत्रिका में हम सातों का समावेश पाते हैं। विनय की पहली भूमिका दैन्य है। 'केहि विधि देऊँ नाथहि खोरि' में अहंकार से बहुत ऊपर दैन्य-प्रकाशन है। विनय की दूसरी भूमिका मान-मर्षता है और उसमें भक्त पुकार उठता है—'काहे हरि मोहि बिसरायो।' तीसरी भूमिका पर वह भय प्रकट करता है। यह है भय-दर्शना। इस पर

तुलसी कहते हैं—'राम कहतु चल, राम कहतु चल'। चौथी भूमिका 'भर्त्सना' है। इस पर, तुलसी अपने मन को फटकारते हुए कहते हैं—'ऐसी मूढ़ता या मन की।' पाँचवीं भूमिका पर 'आश्वासन' होता है और भक्त कह उठता है—'राम ऐसे दीन हितकारी'। छठी भूमिका पर 'मनोराज्य' है, जहाँ पर तुलसी ने अपने आचरण को मन में सँभाल कर कहा है—'कबहुँक हौं यहि रहनि रहोंगो।' सातवीं भूमिका 'विचारणा' है, जहाँ वे सोच समझ कर कह उठते है—'केशव कहि न जाय का कहिए।'

भाषा और शैली

तुलसी की विनयपत्रिका में उनका दैन्यमय स्वर मुखरित हुआ है और अपने इष्टदेव की आराधना के लिए ऐसा आवश्यक भी है क्योंकि भक्ति का सम्बन्ध हृदय से है, मस्तिष्क से नहीं; अतः तुलसी की (विनयपत्रिका में) भाषा में सरसता, गेयता और कोमलता है। साथ ही उसमें कलात्मकता भी पायी जाती है। कवि के लिए चार बातें आवश्यक होती हैं—(१) भावों की गूढ़ता, (२) कल्पना का विस्तार, (२) सहृदयता, और (४) अभिव्यंजना-कौशल। हम विनयपत्रिका के कवि में चारों बातों का समावेश पाते हैं। अतः कलात्मकता और शैली की दृष्टि से भी यह एक अच्छी रचना है।

इसकी भाषा सबल और सुष्ठु है। रीतिकालीन कवियों की तरह इसमें अलंकारों की 'भरती' नहीं की गयी है। उसमें तत्सम शब्दों की कमी नहीं है। रस की दृष्टि से तो यह रचना बड़ी ही अनूठी है। रस भारतीय काव्य का प्राण माना जाता है। विनयपत्रिका में तुलसी ने अनेक रसों और भावों की सुन्दर व्यवस्था की है। करुण, शान्त और अद्भुत के वर्णनों से यह रचना ओत-प्रोत है। शान्त रस जगत के प्रभाव से नहीं, बल्कि इसकी अनित्यता के कारण उत्पन्न हुआ है :—'अबहुँ तैं क्यों न तजै तू पामर, अन्तहिं तोहि तजैंगे।' अद्भुत के परिवेश में तुलसी कह उठते हैं—

'केशव कहि न जाय का कहिये।'

यह है तुलसी की विनयपत्रिका के संगीत और भावों की अखंड भूमि, अपनी मौलिकता, सुन्दरता, और सरसता लिये हुए। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से यह निस्सन्देह 'मानस' के बाद तुलसी की सर्वोत्कृष्ट रचना है। किन्तु भक्ति की दृष्टि से इसका स्थान मानस से भी ऊँचा है। पूर्वार्द्ध में कवित्व-शैली निखरी है और उत्तरार्द्ध में भक्ति की सहजरूपता। वास्तव में गीत-तत्त्व का सफल विलास उत्तरार्द्ध ही में हुआ है।

१०

घनानन्द

कवि-परिचय

घनानन्द के सम्बन्ध में अब तक कुछ भ्रान्त धारणाएँ बनी हुई हैं। कुछ लोग घनानन्द और आनन्दघन को एक ही व्यक्ति समझते हैं और 'घनानन्द' और 'आनन्द' नामों का प्रयोग भी एक ही व्यक्ति के लिए मानते है। 'राग-कल्पद्रुम' तथा 'दी माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान' में 'आनन्द' और 'आनन्दघन' में अभेद माना गया है, किन्तु नागरी प्रचारिणी सभा के खोज-विवरणों से यह सिद्ध हो चुका है कि 'आनन्द' और 'घनानन्द' दो व्यक्ति थे। 'आनन्द' हिसार के रहने वाले थे। उन्होंने काम-विज्ञान पर 'कोकमंजरी' नामक ग्रन्थ लिखा है, परन्तु 'घनानन्द' मुगल बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले के मीर मुंशी थे। प्रसिद्ध है कि वे रंगीले के दरबार की 'सुजान' नामक वेश्या पर आसक्त थे। इधर वे बादशाह के भी परम स्नेह-भाजन थे। इससे दरबारी लोग उनसे जलते थे। वे किसी ऐसे षड्यन्त्र की ताक में थे जिससे घनानन्द दिल्ली से निर्वासित हो जायें। एक दिन प्रसंग चलने पर उन्होंने बादशाह से कहा कि मुंशीजी गाना बहुत अच्छा गाते हैं। फिर क्या था, रंगीले पर उनके गाने के प्रति हठ सवार हो गई। घनानन्द विनीत भाव से अपनी असमर्थता निवेदन करते रहे। अन्त में उन कुटिल दरबारियों ने बादशाह के कान में कह दिया कि मुंशीजी यों न गायेंगे। ये तो 'सुजान' के भक्त हैं। उससे कहलाइये और जी भरकर इनका गाना सुनिये। परीक्षा के लिए सुजान बुलायी गयी और उसके कहने से मुंशीजी ने ऐसा गाया कि समस्त दरबार मंत्र-मुग्ध हो गया। गाने के उपरान्त बादशाह ने जो होश सँभाला तो वह उनकी धृष्टता पर बहुत अप्रसन्न हुआ कि उन्होंने वेश्या का मान बादशाह से अधिक किया। परिणाम यह हुआ कि उसने उन्हें निर्वासन का दण्ड दिया। कहा जाता है कि वे, दिल्ली

छोड़ते समय, सुजान के समीप गये और उसको अपने साथ चलने के लिए कहा, परन्तु उसने उनका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। अन्त में वे वृन्दावन चले गये और वहाँ वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये, पर उन्होंने 'सुजान' शब्द का अपने हृदय और जिह्वा से कभी परित्याग न किया। भगवद्भक्ति में इस शब्द का व्यवहार वे श्रीकृष्ण और राधिका के लिए करते रहे।

उनका कविता-काल अठारहवीं शताब्दी का चतुर्थ चरण ठहराया जाता है। उनकी मृत्यु भारत पर नादिरशाह के आक्रमण के समय हुई बतलाते हैं। कहा जाता है कि आक्रमणकारी लुटेरों ने उनसे 'ज़र' (धन) माँगा, उन्होंने उन्हें 'रज' भेंट कर दिया। इस पर कुपित होकर उन्होंने उनको मार डाला।

घनानन्द ने अपनी कविता में कहीं-कहीं 'आनन्दघन' नाम भी डाल दिया है। इससे कुछ लोग 'घनानन्द' और 'आनन्दघन' दोनों नामों को एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त मानते हैं। खोज से पता चला है कि 'आनन्दघन' 'घनानन्द' से भिन्न व्यक्ति थे। 'आनन्दघन' नाम के भी दो व्यक्ति थे। एक आनन्दघन भक्त-कवि थे और दूसरे जैन कवि। जिस व्यक्ति से हमारा यहाँ तात्पर्य है और जिसकी कविता की रीति-साहित्य में धूम है, वह घनानन्द हैं। वह प्रेमी कवि हैं। उन्होंने अपनी कविता में प्रायः 'घनानन्द' या 'घन आनन्द' नाम का ही प्रयोग किया है, पर कभी-कभी छन्द की आवश्यकता के अनुसार 'आनन्दघन' शब्द भी घनानन्द के पर्यायी नाम के रूप में प्रयोग में आया है। इसे अपवाद-मात्र ही समझना चाहिये।

जिस प्रकार उनके प्रत्येक पद्य पर 'घनानन्द', 'घन आनन्द' अथवा 'आनन्द-घन' की छाप लगी हुई है उसी प्रकार 'सुजान', 'जान' अथवा 'जानि' की मुहर भी लगी हुई है, परन्तु इन शब्दों से सदैव 'सुजान' नर्तकी का अर्थ ही अवगत नहीं किया जाता। उनसे कभी-कभी 'चतुर', 'सुप्राण', अथवा 'प्राण' अर्थ भी ग्रहण किया जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'घन आनन्द' या 'आनन्दघन' से सदैव कवि के नाम का संकेत ही न मिलकर कभी-कभी 'आनन्द-मेघ' अथवा 'प्रचुर आनन्द' का इंगित भी मिलता है।

घनानन्द का कवित्व

घनानन्द भावुक कवि हैं, अतः उनकी कविता भाव-प्रधान है। कोरे विभावपक्ष का चित्रण उनमें कम मिलता है। जहाँ रूप छटा का वर्णन उन्होंने किया भी है वहाँ उसके प्रभाव का वर्णन ही मुख्य है। उनकी वाणी की प्रवृत्ति विशेषतः अन्तर्वृत्ति-निरूपण की ओर ही रहने के कारण बाह्यार्थ निरूपक रचना कम मिलती है। दृश्यों और परिस्थितियों के चित्रण में भी वे भावगांभीर्य को ही प्रस्तुत करते दीख पड़ते हैं। होली के उत्सव, नायक-नायिका की भेंट और

संयोग के बाह्य वर्णनों में भी प्रधानता हृदय के उल्लास और लीनता की है। वे देश, काल और परिस्थितियों का चित्रण अपने भावों के सम्बन्ध से करते हैं। उनके भावों को अनुभव का आश्रय मिला है। वे उन्हें कोरी कल्पना के घाट उतारते कहीं नहीं दीख पड़ते।

प्रेम-दशा की व्यंजना ही उनका अपना क्षेत्र रहा है। प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशा का उद्‌घाटन जैसा उनकी कविता में है वैसा हिन्दी के अन्य श्रृंगारी कवियों की कविता में नहीं है। उन्होंने साधारण सी चेष्टा में भी हृदय की वृत्ति को खोजने का प्रयास किया है। यही कारण है कि दशा या परिस्थिति के चित्रण में मानव-प्रकृति का बड़ा सुन्दर निरूपण बन पड़ा है। यों तो संयोग और वियोग दोनों पक्षों में ही उनका प्रवेश दीख पड़ता है, पर उनकी दृष्टि प्रायः वियोग की अन्तर्दशाओं की ओर ही रही है। उनका विरह-ताप एक भुक्तभोगी की पीड़ा है। उनकी अनुभूति में अन्तर्वेदना की प्रखरता के कारण वियोग-वर्णन बड़ा मार्मिक बन गया है। प्रेम की सघन ऊर्मिलता के कारण वे विरह-ताप को बाहरी माप से नहीं माप सके है। जो कुछ उनकी कविता में हम देखते हैं वह वाग्व्यायाम नहीं है, हृदय की हलचल है।

घनानन्द भूत और भविष्यत् को वर्तमान की तुला में तोलते हैं, कल्पनाओं को हृदय की कसौटी पर रखते है। उनके अनुभव बड़े गम्भीर होते हुए भी सामान्य हैं, अतः वे मानव-हृदय की अक्षयनिधि हैं। सहानुभूति, उपालम्भ, क्षोभ, अनुताप, ईर्ष्या, दैन्य, कर्कशता, व्याकुलता, अनुनय को भला किस विरही हृदय की सहानुभूति प्राप्त न होगी ?

रीतिकाल में घनानन्द एक नई परम्परा के प्रवर्तक दीख पड़ते हैं और वह है लाक्षणिकता। उसी के आश्रय से उनकी कविता ने प्रयोग-वैचित्र्य भी सिद्ध कर लिया है। इसके अतिरिक्त उनकी कविता ने रीतियुगीन वासना के उद्दाम प्रवाह पर भी नियंत्रण किया है। रीति-काल के प्रायः सभी कवि नायिका-भेद-निरूपण, अलंकार-विवेचन और पिंगल-रचना में लगे रहे थे। उनके लिए कविता का ध्येय पाण्डित्य-प्रदर्शनमात्र था। उनका ध्यान बाह्यार्थ-निरूपण पर ही लगा रहता था। संयोग-वर्णन शारीरिक वर्णनों तक ही सीमित था। जिन कवियों ने विप्रलंभ के क्षेत्र में प्रवेश किया, वे विरहिणी की कृशता आदि (शारीरिक दशा) के वर्णनों में ही उलझे रहे, गूढ़ भावों का जगत् मानों कोई होता ही नहीं। कारण यह था कि उनका उद्देश्य आश्रयदाताओं के हृदय में वासना का संचार करना ही था। वे उनके मनोभावों की ओर ध्यान नहीं देते थे, जो मनुष्य को संवेदनशील बनाते और स्वार्थ तथा पशुता (भोजन तथा वासना की तृप्ति) की भूमि से उठाकर दिव्य लोक में ले जाते हैं। घनानन्द ने तिरस्कृत मनोभावों का सत्कार किया। ऐसी बात नहीं कि शारीरिक वर्णन

एवं बाह्यार्थ-निरूपण उन्होंने किया ही नहीं; अवश्य किया, किन्तु नाममात्र को। जिन विरोधाभासों का उपयोग रीतिकालीन कवि बाह्यार्थ-निरूपण अथवा बाहरी उछल-कूद दिखाने के लिए करते थे उन्हीं का प्रयोग घनानन्द ने हृदय की अनिर्वचनीय वृत्तियों की अभिव्यक्ति के लिए किया है।

भाषा

घनानन्द व्रजभाषा के कवि हैं। भाषा पर उनका अचूक अधिकार दीख पड़ता है, मानों वह उनके हृदय के वश में थी। जिस ओर उनका हृदय बहा है उधर ही भाषा बही दीख पड़ती है, अथवा अपने भावों के साथ उन्होंने भाषा को जिस रूप में चाहा है झुका लिया है। बहुत कुछ झुक-मुड़कर भी भाषा की शक्ति उनके हाथों में बढ़ती ही गयी है। 'उनकी कविता में भाषा को एक नूतन गति-विधि का अभ्यास हुआ है।' बँधी प्रणाली में भाव व्यक्त करते-करते वे नयी प्रणाली के योग से सहसा पाठक का मन मोह लेते हैं। बिहारी, देव और भूषण की चलती भाषा में तोड़-मरोड़, व्यंजकता, सब कुछ है, पर वह प्रांजलता नहीं जो घनानन्द की भाषा में है। अन्य कवियों ने अपनी ओर से भाषा को शक्ति नहीं दी, उन्होंने तो भाषा की अर्जित शक्ति से ही काम चलाया है, पर घनानन्द ने उसकी व्यंजकता बढ़ाकर उसे नूतन शक्ति प्रदान की है। बिहारी, देव और भूषण की भाषा में ऐसे स्थलों का अभाव नहीं है जहाँ भाषा भावों का साथ नहीं दे पाती और जहाँ उन्हें बड़ा मानसिक व्यायाम करना पड़ा है, पर घनानन्द की भाषा में असमर्थता कदाचित् ही कहीं दीख पड़ती हो। उन्होंने शब्दों का अचूक प्रयोग किया है। ऐसा वही कवि कर सकता है जिसको शब्द शक्ति और उसकी सीमा का सम्यक् ज्ञान हो। सच तो यह है कि अपनी भाषा के बल पर इतना विश्वास रखने वाला कवि व्रजभाषा में दूसरा नहीं हुआ। अपनी सरस, प्राञ्जल और सशक्त भाषा के लिए घनानन्द हिन्दी साहित्य में सदैव अमर रहेंगे।

प्रेम-निरूपण

घनानन्द सच्चे प्रेमी कवि हैं। यों तो रीति-काल के अन्य कवियों ने भी प्रेम का वर्णन किया है, किन्तु उन्हें हम प्रेमी नहीं कह सकते। एक तो इसलिए कि उनमें से शायद ही किसी को प्रेम के गूढ़ मर्म से इतना गहन परिचय हो; दूसरे इसलिए कि उनमें से किसी के हाथ में प्रेम अपनी मौलिक विशुद्धता प्राप्त नहीं कर सका है। रीति-परिपाटी में स्वीकार की हुई वासना के आवरण से दबकर प्रेम अपने वस्तु-रूप में व्यक्त हो ही नहीं पाया है। घनानन्द में उक्त अभावों का परिमार्जन होगया है। उन्होंने प्रेम को विभिन्न पक्षों में देखा है। संयोग के क्षणिक सुख और वियोग की अनन्त पीड़ा से उनका सघन परिचय प्रतीत होता है। संयोग की निशा कितनी त्वरित बीत जाती है।

सुनिरी सजनी ! रजनी की कथा इन नैन-चकोरन ज्यौं बितई ।
मुख-चन्द सुजान सजीवन को लखि पाएँ भई कछु रीति नई ।।
अभिलाषनि आतुरताई-घटा तब ही घन आनन्द आनि छई ।
सु बिहात न जानि परी भ्रम सी कब ह्वै बिसवासिनि बीति गई ।।

संयोग-काल स्वप्न के समान तो अवश्य बीत जाता है, किन्तु अपना जादू छोड़ जाता है जिससे वियोग-दशा में बड़ी पीड़ा होती है :—

लगियै रहै लालसा देखन की किहि भाँति भटू निसि-द्यौस कटै ।
करि भीर भरी यह पीर महा बिरहा तनकौ हिय तैं न हटै ।।
घन आनन्द जान सँजोग समै, बिसमै बुधि एकहि बेर बटै ।
सपनो सो टरै, फिरि सौगुनौ चेटक बाढ़त डाढ़त घोटि घटै ।।

इसी प्रकार के परिचय को अनुभूति कहते है, जो कविता की आधार-शिला है । प्रेम की ऐसी अप्रतिहत अनुभूति रीतिकाल के अन्य किसी कवि में नहीं मिलती । वासना की प्रेरणा से अन्य कवियों का ध्यान नायिका के नख-शिख वर्णन या चेष्टाओं के निरूपण में ही लगा रहा है । वे प्रायः ऐसे वर्णनों में भी प्रवेश कर गये हैं, जिन्हें शिष्ट समाज कुरुचिपूर्ण एवं अवांच्छनीय कहता है और जिनके लिए रीतिकाल बदनाम होगया है । घनानन्द की रुचि ऐसे अशिष्ट एवं असामाजिक वर्णनों से मुक्त रही है । उन्होंने प्रेम की गम्भीरतम अनुभूतियों का स्वाभाविक उद्‌घाटन किया है । इसी कारण उनका शृंगार-वर्णन गंभीर, मार्मिक तथा सुरुचिपूर्ण है । यदि अन्य रीतिकालीन कवियों पर दृकपात किया जाये तो उनके विरह-वर्णन ऊहा से भरे मिलेंगे । उनकी चेष्टा मार्मिकता के अभाव की पूर्ति ऊहा द्वारा करने की रही है । घनानन्द ने ऊहा के भार से अपनी अनुभूति की सहज तीव्रता को मंद नहीं होने दिया । उनके प्रेम के किसी पक्ष को देखिये, वह सन्तुलन और स्वाभाविकता के घाट उतरता मिलता है, उसे मनोविज्ञान का पूर्ण आश्रय मिला है ।

प्रायः देखा गया है कि प्रेम के क्षेत्र में कोई तुलसीदास जैसा विरला ही कवि वासना से अप्रभावित रहता है । वासना के सहयोग से विलास-वर्णन स्वतः ही आ जाते हैं । उनके कारण प्रेम की सरलता और उज्जवलता बाधित हो जाती है और रस की मौलिक निष्पत्ति नहीं हो पाती । घनानन्द की कविता में यह दोष भी नहीं आने पाया । उनकी वाणी में सरसता और सरलता दोनों गुण हैं । वे अपनी प्रतिभा से हृदय की गम्भीरतम शोध प्रस्तुत करते हैं । उनका निष्कर्ष स्वानुभूतिपरक है । दो हृदयों की एकता में पार्थिक्य भाव की कल्पना और उसमें विभिन्न परिस्थितियों की योजना घनानन्द ने बड़े मौलिक ढंग से की है । उनका हृदय आरोपित वियोग की पीड़ा का खेल नहीं खेल रहा है । विभिन्न पक्षों में विरहानुभूति की कटुता की बहुरूपता काव्यगत अनुभावों और

संचारियों को सफलतापूर्वक प्रस्तुत करने में बड़ी सक्षम सिद्ध हुई है। उसमें कहीं अप्रकृतता का आभास नहीं मिलता।

ऐसा प्रतीत होता है मानों कवि की दृष्टि के सामने प्रेम-तत्त्व के सिवा और कोई तत्त्व ही नहीं है। उसने सब स्थलों, वस्तुओं और व्यापारों से अपनी वृत्ति खींचकर एक प्रेम पर ही केन्द्रित कर दी है। प्रकृति के दृश्यों और मानव-व्यापारों में कवि ने प्रेम ही की शोध की है। जड़ प्रकृति की अनेक मुद्राओं को भी उसने प्रेम के लोचनों से ही देखा है। अनेक परिस्थितियों से उत्पन्न हुई व्याकुलता का निरूपण करके उसने प्रेम और उसके निकेतन (हृदय) की कोमलता का बड़ा सुन्दर परिचय दिया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि घनानन्द भुक्तभोगी ही नहीं, चतुर कलाकार भी है। उनकी कविता से पाठक उद्दीप्त नहीं होता, लीन होता है; विस्मित नहीं होता, मुग्ध होता है।

प्रेम पारस्परिक दर्शन मात्र ही नहीं है, उसका मार्ग अति कठिन है। जो लोग उसे खेल समझते हैं वे भूल करते हैं। उसके दोनों पक्षों में वियोग-पक्ष ही प्रधान होता है, क्योंकि इस जगत में प्रेमी को उसी से पाला पड़ता है। इसके अतिरिक्त वह अपनी तीव्रता के कारण मानववृत्ति को शीघ्र ही आत्मसात् कर लेता है। वियोग की भयंकर ज्वाला के सामने बड़े धीर हृदय तक साहस छोड़ देते हैं। घनानन्द की वियोगिनी नायिका अपने मन को उसी ज्वाला का परिचय इस प्रकार देती है :—

× × ×

जान्यो हुतौ मन ! तैं सनेह कछु खेल सो।
अब ताकी ज्वाल मैं पजरिबो रे भली भाँति,
नीके आहि, असह-उदेग-दुख सेल सो।
गए उड़ि तुरत पखेरू लौं सकल सुख,
परचौ आय औचक वियोग बैरी डेल सो॥

× × ×

प्रेम में जीवन-पद्धति कुछ विलक्षण ही होती है। उसमें प्राण-बिना जीना पड़ता है और मृत्यु-बिना मरना पड़ता है :—

जीवन मरन, जीव मीच बिना बन्यौ आय,
हाय कौन विधि रची नेही की रहनि है।

× × ×

प्रेम-क्षेत्र में कोई प्रणवीर ही ठहरता है। प्रीति-भार से यदि वह दुबला और कुबड़ा हो जाता है तो आश्चर्य भी क्या ?

सूरे पन-पूरे हेत-खेत तें हटैं न कहूँ,
प्रीत-बोझ वापुरे भए हैं दबि कूबरे।

संकट समूह मैं विचारे घिरे घुटैं मदा,
जानी न परत जान ! कैसें प्रान ऊबरे।
नेही दुखियानि की यहै गति अनंदघन,
चिन्ता-मुरझानि सहैं न्याय रहैं दूबरे ॥

प्रेम की दशा उन्माद अथवा प्रेत-पीडन की दशा के समान होती है। प्रेम में तर्क-वितर्क नही चलता, स्मृति सो जाती है और प्रेमी कभी रोने और कभी हँसने लगता है। वह कभी मौन होकर विस्मित सा हो जाता है और कभी पास आकर बातें करने लगता है :—

खोइ दई बुधि, सोइ गई सुधि, रोइ हँसै उनमाद जग्यौ है।
मौन गहै, चकि चाकि रहै, चलिबात कहै, तै न दाह दग्यौ है॥
जानि परै नहिं जान ! तुम्हें लखि ताहि कहा कछु आहि खग्यौ है।
सोचनि ही पचियै घन आनँद, हेतु पग्यौ किधौं प्रेत लग्यौ है॥

प्रेम का मार्ग जहाँ इतना कठिन है वहाँ अति सीधा भी है—सीधा उनके लिए है जिनमें वक्र चातुर्य नहीं है। निष्कपट एवं निःस्वार्थ के लिए इस पथ पर चलना बहुत सरल है, किन्तु कपटी सदैव शंकित और भीत रहता है। यहाँ लेन-देन का व्यवहार समान रूप से निभाना पड़ता है।

अति सूधौ सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।
घनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक ते दूसरौ आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

प्रेम के राज्य में हृदय का आधिपत्य हो जाता है और बुद्धि अधीन हो जाती है :—

"रीझ सुजान सची पटरानी, बची बुद्धि बापुरी ह्वै करि दासी।"

प्रेमियों की मनोवृत्ति ऐसी बन जाती है कि वे प्रिय की किसी साधारण चेष्टा को भी देखकर उसका अपनी ओर झुकाव मान लिया करते हैं और फूले फिरते हैं। इसका कैसा सुन्दर आभास कवि ने नायिका की मन के प्रति उक्ति में दिया है—

"रुचि के वे राजा जान प्यारे हैं अनंदघन,
होत कहा हेरे, रंक ! मानि लीनो मेल सो।"

प्रेम की चरमावस्था में प्रेमी और प्रिय उसी प्रकार एक हो जाते हैं जैसे ज्ञाता और ज्ञेय ज्ञान की चरम स्थिति में।* प्रेम का पद ज्ञान से ऊँचा है।

---

* तुल० की०—प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप।
एकहि ह्वै द्वै मैं लसैं, ज्यों सूरज अरु धूप॥ ॥ रहीम ॥

प्रेम में ऐसा आनन्द होता है कि प्रेमी उसमें लीन होकर अपने सांसारिक रूप को भूल जाता है। उसके सारे भोग तिरोहित हो जाते है। सतर्क होकर चलने वाले जिन्हें अपनी सुधि बनी रहती है, इस मार्ग में नही चल सकते। प्रेम में इतना ताप होता है कि उसके नाम को छूने से जीभ में छाले पड़ जाते हैं। जो इतना ताप सहने का साहस रखता हो वही इस मार्ग में पैर रखने का अधिकारी है :—

> चंदहि चकोर करै, सोऊ ससि-देह धरै,
> मनसा हू ररै, एक देखिबे कों रहै द्वै।
> ज्ञान हूँ तें आगे जाकी पदवी परम ऊँची,
> रस उपजावै तामैं भोगी भोगलात ग्वै ।।
> जान घनआनंद अनोखो यह प्रेम-पंथ,
> भूले ते चलत, रहैं सुधि के थकित ह्वै।
> बुरौ जिन मानौ जौ न जानौ कहूँ सीखि लेहु,
> रसना कें छाले परैं प्यारे नेह-नाँव छ्वै ।।

प्रकृति-वर्णन

घनानन्द की कविता में प्रकृति-वर्णन को देखकर पाठक के समक्ष कवि की कला का रूप मूर्त हो उठता है। मानव-प्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनों पक्षों में घनानन्द का प्रकृति-वर्णन अनूठा बन पड़ा है। पक्ष विशेष में कला का उदय आवश्यकतानुसार ही दीख पड़ता है, किन्तु कोमल और कर्कशता के देखने की चेष्टा कवि ने दोनों पक्षों में की है। जिस प्रकार मानव-प्रकृति में कोमलता और कर्कशता का विनिपात हुआ है, उसी प्रकार बाह्य प्रकृति में भी मृदुलता और कठोरता दोनों का आरोप मिलता है।

घनानन्द ने अपनी कविता में प्रकृति के अनेक अंग-प्रत्यंग काव्य-वैभव बढ़ाने के लिए संकलित कर लिये हैं, किन्तु विरह-दशा उन सबको अपने सामने नहीं आने देती। वे उसके पीछे दबे रहते हैं। प्रधानता विरह-वेदना को मिली है। प्रस्तुत विरह के भाव और परिस्थितियाँ हैं और ऋतु-उपकरणों को अप्रस्तुत के रूप में स्वीकार किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति के स्वतन्त्र रूप से कवि को आकर्षण नहीं मिल पाया है अथवा उसने विरह को प्रधान रखने के लिए प्रकृति को परतन्त्र बनाकर रक्खा है। उसने भावना की तुला में ही उसे तोलने का प्रयास किया है। मानव की परिवर्तित भावना में प्रकृति का रूप भी परिवर्तित-सा दीख पड़ता है। भाव-कोण बदलते ही प्रकृति का रूप भी बदला हुआ दीखता है। विरहिणी को समझाती हुई सखी विरही के विरह-निरूपण में प्रकृति की सहानुभूति को व्यक्त करती हुई कहती है—

विकल विषाद-भरे ताही की तरफ तकि,
दामिनि हूँ लहकि बहकि यौं जरचो करै ।
जीवन-अधार-पन-पूरित पुकारनि सों,
आरत पपीहा नित कूकनि करचौ करै ॥
अथिर उदेग-गति देखि कै अनन्दघन,
पौन बिडर्‌यौ सो बन-बीथिन ररचौ करै ।
बूँदै न परतिं मेरें जान प्यारी ! तेरे
बिरही कों हेरि मेघ आँसुनि झर्‌यौ करै ॥

जब आश्रय प्रकृति को सहानुभूति की दृष्टि से देखता है तो उसे प्रकृति में एक वेदना, एक मर्मपूर्ण आह दीख पड़ती है, परन्तु, जब वह कठोर आलोचक की दृष्टि से देखने लगता है तो प्रकृति उसे कठोरता का उपहार भेंट करने लगती है, जिससे उसे क्षोभ होता है। आश्रय के लिए प्रकृति का यह रूप विरोधी का है। देखिये :—

सुधा तें स्रवत विष, फूल में जमत सूल,
तम उगिलत चंद, भई नई रीति है ।
जल जारै अंग, अरु राग करै सुरभंग,
संपति बिपति पारै, बड़ी बिपरीति है ।
महागुन गहै दोषै, औषद हू रोग पोषैं,
ऐसें जान ! रसमाहि बिरस अनीति है ॥
दिनन को फेर मोहिं, तुम मन फेरि डार्‌यौ
अहो घन आनँद ! न जानौं कैसी बीति है ।

कवि प्रकृति का एक और रूप सामने रखता है, जिसमें आश्रय प्रकृति से सहायता के लिए निवेदन करता है। नीचे के कवित्त में विरहिणी नायिका पवन को बीर (भाई) मानकर उससे विनय करती है—

एरे बीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन, बीरी
तो सो और कौन, मनैं ढरिकौंही बानि दै ।
जगत के प्रान, ओछे बड़े सों समान घन-
आनन्द-निधान, सुखदान दुखियानि दै ।
जान उजियारे गुन-भारे अन्त मोही प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे, पीठि पहचानि दै ।
बिरह-बिथाहि मूरि, आँखिन मैं राखौं पूरि,
धूरि तिन पायन की हा हा ! नेकु आनि दै ॥

और पर्जन्य को परोपकारी समझकर विरहिणी नायिका निवेदन करती है :—

परकाजहि देह कों धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ सब ही विधि सज्जनता सरसौ।
घन आनन्द जीवन दायक हौ कछू मेरियौ पीर हियें परसौ।
कब हूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानहि लै बरसौ।

प्रकृति का एक चौथा रूप घनानन्द की कविता में वहाँ दीख पड़ता है जहाँ आश्रय प्रकृति-दशा से अपनी दशा की तुलना करते पाया जाता है। यह माना गया है कि जलविहीन मीन और चन्द्रविहीन चकोर की बड़ी शोच्य दशा हो जाती है, किन्तु घनानन्द की विरहिणी नायिका अपनी तुलना में इन्हें खड़ा नहीं रहने देती—-

नीर-न्यारे मीन औ चकोर चन्द्रहीन हूँ तें
अति ही अधीन दीन गति मति पेखियै।

विरहिणी नायिका के हृदय में एक विलक्षण अग्नि जल रही है। उसको पता नहीं चलता कि वह हृदय के किस कोने में है और उसे कौन जला रहा है। धुँए का उसमें नाम तक नहीं है, फिर भी उसके कारण लोचनों से जल बह रहा है और शरीर ठंडा पड़ता जा रहा है। इसमें आह भरना तक संभव नहीं होता :—

जेतो घट सोधौं पै न पाऊँ कहाँ आहि सो धौं
को धौं जीव जारै अटपटी गति दाह की।
धूम कों न धरै, गात सीरो परै ज्यौं ज्यौं जरै
ढरै नैन-नीर बीर ! हरै मति आह की॥

सच तो यह है कि अपना सुन्दर रूप लेकर प्रकृति कवि के सामने बहुत ही कम आयी है। जहाँ कहीं निसर्ग सौन्दर्य पर कवि की दृष्टि गयी है, वहीं आश्रय की कठोर उक्तियों ने उसकी धज्जियाँ उड़ा डाली हैं। आन्तरिक सुख और प्राकृतिक सौन्दर्य का अस्तित्व केवल आश्रय की स्मृति में दीख पड़ता है। उनकी भूत सत्ता का आभासमात्र मिलता है। आश्रय की वर्तमान अनुभूति में इनका नाम तक नहीं है। वर्तमान तो इनसे विरहित होकर रंक और दीन बन गया प्रतीत होता है। कवि ने भूत और वर्तमान दोनों कालों में प्रकृति को उद्दीपन का काम दिया है। भूत-काल संयोगमय था, अतएव प्रकृति का संसर्ग उस समय सुखद प्रतीत होता था, किन्तु वर्तमान वियोगमय है, अत: प्रकृति-संसर्ग दु:खद प्रतीत होता है। यही तो वह दशा है जब विरहिणी को पूर्णिमा भी अमावस्या सी प्रतीत होती है। सारा चित्र ही बदल जाता है :—

पलकौ कलपैं कलपौ पलकै सम होत सँयोग वियोग दुहूँ।
बिपरीति-भरी हित-रीति खरी समझी न परै समझैं कछु हूँ।

घन आनन्द जान सजीवन सों, कहियै तो समै लहियै न सुहूँ ।
तिन हेरे अँधेरे ई दीसै सबै, विन सूझतें पून्यो अबूझ कुहूँ ।।

इतना ही नहीं है कि पूर्णिमा ने अपना रूप बदल दिया है, अपितु ज्योत्स्ना अग्नि-ज्वाला बन गयी है। यहाँ तक तो कोई विलक्षणता नहीं दीख पड़ती, बरवै रामायण में भी चन्द्रिका-चर्चित विभावरी सन्तापमय दिवस सी प्रतीत होती है। 'डहकुन है उजियरिया, निशि नहि घाम।' यहाँ कवि ने चन्द्रिका को अनल बतलाकर उसमें भी विलक्षणता यह दिखलायी है कि उसकी लपटें आकाश से धरा पर आरही हैं। जो संयोग-काल में इतनी शीतल और सुखद थी आज वियोग-काल में उसी चन्द्र-विभा का रूप कैसा बन गया है—

नेह निधान सुजान समीप तौ सींचति ही हियरा सियराई ।
सोई किधों अब और भई, दई हेरत ही मति जाति हिराई ।
है विपरीत महा घन आनँद अम्बर तें धर कों झर आई ।
जारति अंग अनंग की आँचनि जोन्ह नहीं सु नई अगि लाई ।।

घनानन्द ने ऋतुओं का वर्णन केवल उद्दीपन के लिए ही किया है। ऋतुओं में प्रमुख वर्षा और वसन्त हैं। विरहिणी के लिए ऋतुराज सिंह बन गया है :—

नाहर आय बसन्त भयौ नख-केसू रतौहै कियौ हिय कौंपनि ।
क्यौं घनआनंद यौं बचियै जिय जात बिध्यौ अनियारियैं कौंपनि।

'वसन्त' में किंशुक फूलते है और काम प्रबल हो जाता है। 'पतझड़' में वृक्षों के पत्ते झड़ने लगते हैं और शाखों पर शूल प्रकट हो जाते हैं। ऋतुएँ साथ-साथ नहीं आतीं, किन्तु विरहिणी दोनों का अनुभव साथ-साथ कर रही है :—

किंसुक पुंज से फूलि रहे सुलगी उर दौ जु बियोग तिहारे ।
मातौ फिरै, न घिरै अबलानि पैं, जान मनोज यौं डारत मारे ।
ह्वै अभिलाषनि-पात-निपात कढ़े हिय-सूल उसासनि डारे ।
है पतझार बसंत दुहूँ घनआनंद एक ही बार हमारे ।।

वर्षा में मेघ, चपला, पवन, मंद चन्द्र और तम—सब हैं, परन्तु विरहिणी को ऋतु की अनुभूति किसी और ही रूप में हो रही है। ऋतु के अत्याचार का कैसा भीषण चित्र प्रस्तुत किया गया है :—

मो अबला तकि जान ! तुम्हैं बिन, यौं बलकै-बलकै जु बलाहक ।
त्यौं दुख देखि हँसै चपला, अरु पौन हूँ दूनो बिदेह तें दाहक ।
चंदमुखी सुनि मंद महातम राहु भयौ यह आनि अनाहक ।
प्रान हरौहर है घनआनँद लेहु न तौ अब लेहिंगे गाहक ।।

और देखिये वर्षा का उद्दीपन कार्य। श्रावण मास में वर्षा की बूँदों से विरहिणी के शरीर में आग लग रही है। अब तक उसने केवल यह सुन रखा था कि पवन से अग्नि जाग्रत होती है (और पानी से बुझ जाती है), किन्तु आज उसको दूसरा ही अनुभव हो रहा है। पानी अग्नि को प्रज्वलित कर रहा है :—

सावन आगम हेरि सखी··· × ×
× × × ×
बूँदैं लगै सब अंग दगै उलटी गति आपने पापनि पेखी।
पौन सों जागति आगि सुनी ही पै पानी तें लागति आँखिन देखी।।

कवि ने प्रकृति से उपमान भी लिये हैं, परन्तु वे उसके हाथों में श्लाघा प्राप्त नहीं कर पाये। पीले फूलों वाली तुरई की लता नायिका की कृशता एवं पीतता का परिचय देने के लिए ही प्रयुक्त की गयी है। उसके विकास मे विरहिणी की दुर्दशा का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है :--

अँसुवानि तिहारे वियोग ही सों बरषा-रितु वेलि सी बाल भई।
हिय-खोपनि चोपनि-कोंपनि झालरि लाज के ऊपर छाय गई।
घनआनँद जान सदा हित भूमनि-घूमनि देखियै नित्त नई।
बलि नेकु मया करि हेरौ हहा अबला किधौं फूलि रही तुरई।।

ऐसे उदाहरण और भी बहुत से मिल सकते हैं जिनमें प्राकृतिक उपमानों के सौन्दर्यापकर्ष की ओर संकेत किया गया है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक उपमानों की हेयता स्पष्ट शब्दों में भी व्यक्त की गई है। उपमानों का ऐसा प्रयोग कवि-परम्परा से चला आ रहा था। सीता के मुख से तुलना करते हुए चन्द्र को तुलसीदास ने भी हेय ही बतलाया है। देखिये :—

जनम सिन्धु पुनि बंधु विष, दिन मलीन सकलंक।
सिय-मुख-समता पाव किमि, चन्द बापुरो रंक।।
घटइ बढ़इ बिरहिन-दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई।।
कोक-सोक-प्रद पंकज-द्रोही। अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही।।
(रा० च० मानस, बालकाण्ड)

केशवदास कुछ और आगे बढ़ गये हैं और उन्होंने सीतामुख के सामने चन्द्र और कमल दोनों को तुच्छ कहा है—

एकैं कहैं अमल कमल मुख सीताजू को,
एकैं कहैं चन्द्र सम आनन्द को कन्द री।
होय जो कमल तो रयनि में न सकुचै री,
चंद जो तो वासर न होत दुति मंद री।

बासर ही कमल रजनि ही में चन्द,
मुख बासर हू रजनि बिराजै जगवंद री।
देखे मुख भावै अन देखेई कमल चंद,
ताते मुख मुखै सखी कमलै न चंद री॥
(रा० चं०, ९.४२)

इसी प्रकार घनानन्द ने बड़े कौशल से नायिका के मुख का उत्कर्ष और चन्द्रमा का अपकर्ष दिखलाते हुए लिखा है :—

नित ही अपूरब सुधाधर बदन आछो,
मित्र-अंक आएँ जोति-जालनि जगत है।
अमित कलानि ऐन, रैन द्यौस एक रस,
केस-तम-संग रग-राँचनि पगत है।
सुनि जान प्यारी! घनआनँद तें दूनौ दिपै,
लोचनि-चकोरनि सों चोपनि खगत है।
नीठि दीठि परै खरकत सो किरकिरी लौ,
तेरे आगें चन्द्रमा कलंकी सो लगत है॥

उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि घनानन्द ने प्रकृति का आलम्बन-रूप में कभी वर्णन नही किया। उसको उन्होंने मानव को व्यक्त करने का साधन बनाया है। यहाँ मानव से तात्पर्य प्रमुखत आश्रय से है। उससे आश्रय के रूप, भाव, दशा और व्यापार का परिचय कराया जाता है। उसका (प्रकृति का) मार्मिक रूप उद्दीपनों में ही मिलता है।

घनानन्द के काव्य में रस

प्रेम बड़ा व्यापक भाव है। बड़ा, छोटा, कोई भी इसका आलम्बन हो सकता है। आलम्बन-भेद से प्रेम के नामों में भी श्रद्धा, भक्ति, स्नेह, अनुग्रह आदि अनेक भेद हो जाते हैं। नायक-नायिका में होने वाले प्रेम-भाव को काव्य-शास्त्र में रति नाम से अभिहित किया जाता है, जो विभावादि के संयोग से जाग्रत, उद्दीप्त और परिपुष्ट होकर रसरूप में आस्वादित होता है। उस अवस्था में उसका नाम शृंगार होता है।

रीतिकालीन कविता में शृंगार की बहुलता है। घनानन्द भी प्रधानतः शृंगारी कवि हैं। उनके शृंगार में संयोग और वियोग दोनों पक्ष मिलते हैं, किन्तु विप्रलम्भ शृंगार का प्राधान्य है। इस क्षेत्र में कवि तल्लीन सा होगया है। यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि घनानन्द ने विरह-वर्णन केवल विरह-वर्णन के लिए कवि परम्परा के अनुसार नहीं किया। वे भुक्तभोगी थे, अतः उनके विरह में हृदय की मूक वेदना मुखरित है। फिर भी कविता के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि अनेक बार आश्रय और आलम्बन परिवर्तित मिलते हैं।

थी। किसी साहित्यिक व्यक्ति का परिचय किंवदंतियों के आधार पर नही दिया जा सकता, वह तो उसकी वाणी से ही अधिक सुलभ होता है। घनानन्द की गिरा का 'सुजान' शब्द से मुक्त न होना उनके लौकिक प्रेम को सिद्ध करता है। उनकी कविता में थोड़े से ही पद्य ऐसे मिलेंगे जिनमें 'सुजान' की पुकार नहीं है, अन्यथा सभी में 'सुजान' घनानन्द की गिरा पर विलमित है। यदि यह मान लिया जाये कि 'सुजान' शब्द 'राधा' या 'कृष्ण' के लिए ही प्रयुक्त हुआ है तो 'सुजान' नर्तकी से उनके तात्कालिक सम्बन्ध की वार्ता को समाप्त करना होगा और यदि 'सुजान' का प्रयोग 'कृष्ण', 'राधा' एवं 'नर्तकी'—सबके लिए मानलें तो कवि के लौकिक और अलौकिक प्रेम में कोई अन्तररेखा नहीं खींची जा सकती। रीतिकालीन कवियों के हाथों में 'सुजान' शब्द आलम्बन के लिए रूढ़ बन गया था। संभवतः कवि ने 'सुजान' का रूढ़ प्रयोग ही स्वीकार कर लिया हो। जो हो, यह कहना असंगत न होगा कि घनानन्द प्रेमी कवि थे। 'सुजान' उनकी प्रेयसी थी। उसके प्रति उनका अगाध मोह था। असफल प्रेमी होने की दशा में निराश होकर वे भक्ति की शरण में गये, किन्तु 'सुजान' की मार्मिक अविरत स्मृति ने उन्हे कविता के क्षेत्र में भी सफल भक्त-कवि सिद्ध न होने दिया।

घनानन्द की कविता में आश्रय की व्याकुलता प्रथित है। आलम्बन अन्य मनस्क दीख पड़ता है। उसमें गुण और अवगुण दोनो दिखाये गये हैं, किन्तु उनका व्यक्तीकरण आश्रय-मुख से ही हुआ है। आश्रय के मुख से अपने रूप की प्रशंसा कभी नहीं सुनी गयी। हाँ, अपने हृदय की वेदना व्यक्त करते समय आश्रय अपने अन्तर के गुणों को (अपने हृदय के सौन्दर्य को) व्यक्त करने में संकोचशील भी नही दीख पड़ा है। आलम्बन के सौन्दर्य से हुए अपने आकर्षण को वह बड़ी सरलता से व्यक्त कर देता है। अपनी विरह-कातरता के साथ-साथ आश्रय आलम्बन की कठोरता और अकृतज्ञता को भी भूलता नहीं है।

आश्रय का अतीत और वर्तमान—संयोग और वियोग—संघर्ष-काल रहा है। यद्यपि संयोग-काल में भी वियोग पीछा नहीं छोड़ता, लज्जा, निन्दा आदि व्याघात प्रस्तुत होते हैं, फिर भी वह वर्तमान से कहीं अधिक सुखद है। वर्तमान इतना दुःखद है कि मरण उससे कहीं अधिक सुखद समझा जाता है। साधारणतया मृत्यु भयंकर मानी जाती है, इसलिए कि वह हमारी आकांक्षाओं का अन्त कर देती है, किन्तु घनानन्द की विरहिणी मृत्यु को इसलिए कोसती है कि वह आती नहीं, वह उसकी पुकार को सुनी-अनसुनी कर रही है। मृत्यु का आह्वान विरहिणी केवल उसी दशा में करती है जबकि उसकी निराशा और वेदना अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, किन्तु उसके जीवन के कुछ क्षणों में अभिलाषा भी लहराती दीखती है। उन्ही क्षणों में वह एक स्वर्णिम भविष्य

की कल्पना कर लेती है। यों तो वह भविष्य में अपने मरण की कल्पना भी कर ही लेती है, किन्तु मरणोपरान्त के लिए भी वह एक अभिलाषा अवश्य छोड़ती है :—

+ + +

इत की भसम-दसा लै दिखाय सकत जू,
लालन-सुबास सों मिलाय हू सकत पौन ॥

इस अभिलाषा का मूल कारण है प्रियतम की कठोरता :—

मुख-नेह-रुखाई दिखाई, मरौं, इतकी तौ चिन्हारि रही न उनैं।
रचि कौन से धात लियौ है हियौ, बिन हेरैं न जीव बिचारि गुनैं ॥

इस विवेचन के आधार पर यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि घनानन्द मूलतः शृंगारी कवि हैं। हमें यह कहने में हिचक नहीं है कि शृंगार की इन सब परिस्थितियों का सम्बन्ध ईश्वरविषयक रति से भी जोड़ा जा सकता है, बिलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार फारसी कविता में इश्के मजाज़ी की परिस्थितियों को इश्के हक़ीक़ी से भी सम्बन्धित किया जा सकता है। इस दशा में भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि घनानन्द सुजान को नहीं भुला सके थे और उन पर फारसी कविता की अभिव्यंजना-शैली का पर्याप्त प्रभाव था।

विप्रलंभ शृंगार

योग और वियोग की रीति में 'कोविद' व्यक्ति को ही घनानन्द ने अपनी कविता का अधिकारी माना है। प्रेम के ये दोनों ही पक्ष मनोदशाओं का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते है। उनके द्वारा किया हुआ अन्तर्दशाओं का व्यक्तीकरण बड़ा मार्मिक और हृदयग्राही है। विप्रलंभ के अन्तर्गत उन्होंने विरह-वर्णन से विरह-निवेदन ही अपेक्षाकृत अधिक किया है। विरह की सभी दशाएँ प्रायः विरह-निवेदन में आगयी हैं। उनकी कविता उनकी व्यक्तिगत भावनाओं का दर्पण है जिसमें पुरुष-हृदय का भी पूरा प्रसार दिखाई देता है और यह स्वाभाविक भी था। यही कारण है कि रीतिकाल की परम्परा के प्रतिकूल भी उन्होंने अपनी कविता में नायिका के विलाप के साथ-साथ नायक का विलाप भी दिखलाया है। इतना ही नहीं, कहीं कहीं तो वह विलाप पुरुष की ओर से किसी पुरुष की ही ओर दिखाई देता है। इसका कारण फारसी काव्य-शैली का अनुकरण भी हो सकता है।

घनानन्द का विरही प्रिय के परदेश चले जाने से ही व्याकुल नहीं हो उठता, वरन् इसलिए कि प्रिय ने अपनी प्रेम-चेष्टाओं और बातों से उसे लुभा लिया था—

चोप चाइ चावनि चकोर भयो चाहत ही,
सुषमा-प्रकास मुख-सुधाधर पूरे को।

कहा कहौं कौन कौन विधि की बँधनि बँध्यौ,
मुकस्यौ न उकस्यौ बनाव लखि जूरे कौ।
जाही जाही अंग पर्‌यौ ताही गरि गरि सर्‌यौ,
हर्‌यौ बल वापुरे अनंग-दल-चूरे कौ।

जब प्रेमी का मन भलीभाँति वश में होगया तब प्रिय अपनी कपट रीति से उसे धोखा देकर चम्पत बना :—

तब ह्वै महाय हाय कैसें धौं सुहाई ऐसी
सब सुख संग लै बिछोह-दु:ख दै चले।
सींचे रस-रंग अंग-अगनि अनंग सौंपि
अन्तर में बिषम विषाद वेलि बै चले।

प्रिय चला गया, वियोग होगया; यह स्थिति भी बड़ी पीड़ा की है, किन्तु दशा और भी विषम बन गयी है, क्योंकि वह औरों से भी प्रेम करने लगा है। यदि प्रेमी को यह विश्वास बना रहे कि प्रिय दूर होकर भी उससे प्रेम करता है तो उसकी प्रेम-पीड़ा इतनी भयंकर नहीं होती, किन्तु जब प्रिय ने निष्ठुर होकर उसको विस्मृत ही कर दिया तो चित्त की शान्ति के लिए अवशेष ही क्या रह गया ? पहले प्रेमी को प्रिय के व्यवहार के कारण शंका होती है—

'मीत सुजान अनीत की पाटी, इते पै न जानिए कौनै पढ़ाई।'

फिर धीरे-धीरे विश्वास हो जाने से ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है जो अपने ढंग से प्रेमी को दु:ख देती है :—

सुखनि समाज साज सजे तित सेवैं सदा,
जित नित नए हित-फन्दनि गसत हौ।
दुख-तम-पुंजनि पठाय दै चकोरनि पै,
सुधाधर जान प्यारे! भलें ही लसत हौ।
जीव सोच सूखै गति सुमिरें अनन्दघन,
कितहू उघरि कहूँ घुरि कै रसत हौ।
उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखौ,
सुबस सुदेस जहाँ भावते बसत हौ॥

घनानन्द ने विरही हृदय की अनेक दशाओं का वर्णन किया है। कभी प्रिय-दर्शन की लालसा है :—

एहो घनआनन्द सुजान रावरे जू सुनौ,
रावरी सौं और हियें मनसा न दूजियै।
निरमोही महा हौ पै मया हू बिचारि वारी,
हा हा नेकु नैननि अतीथि किन हूजियै।

और कभी मिलन की उत्कट अभिलाषा :—

इते पै सुजान घन आनन्द मिलौ न हाय,
कौन सी अमिलता की लागी जिय मैं जई ।

घनानन्द के काव्य में विरह-दशा के व्यक्त करने के अनेक साधन प्रस्तुत किये गये हैं । मन, लोचन, पत्र, सखी, आलम्बन की कठोरता, फाग, दिवाली, पतंग, पिचकारी, पत्रवाहक, सन्देशवाहक, भाग्य, मृत्यु, आशीर्वाद आदि के वर्णन द्वारा आश्रय की मनोदशा व्यक्त की गयी है । मन को उपालम्भ देती हुई नायिका कहती है :—

बिरच्यौ किहि दोष न जानि सकौ,
जु गयौ मन मो तजि रोषन तैं ।

× × × ×

अध बीच पर्‌यौ दुख-ज्वाल जरै,
सठ ! को सुख कौं हठि द्वार दतैं ।

विरह में आँखों की कैसी दुर्दशा होगयी है, इसको नायिका-मुख मे कवि इस प्रकार व्यक्त कराता है :—

सोएँ न सोयबो, जागें न जाग,
अनोखियै लाग सु आँखिन लागी ।

इतना ही नहीं, आँखों का लंघन करना भी देखिये :—

घर घबरानी उबरानी ही रहति घन,
आनँद आरति-राती साधनि मरति हैं ।

× × ×

देखियै दसा असाध अँखिया निपेटनि की ।
भसमी बिथा पै नित लंघनि करति हैं ।।

लोचनों पर भी तो अधिकार नहीं रहा :—

कहिबे को मेरे, पै अनेरे ये रे जाहिं नाहिं ।
अति ही अमोही मोहि नैको न हितौत हैं ।।

न जानें ये दुःखी आँखें किसी कुघड़ी में बनी थीं कि उत्कंठा और व्याकुलता के कारण निरंतर बरसती ही रहती हैं :—

पाप के पुंज सकेलि सु कौन धौं आन घरी मैं बिरंचि बनाई ।
रूप की लोभनि रीझि भिजाय कै हाय इते पै सुजान मिलाई ।।
क्यों घन आनँद धीर धरैं बिन पाँख निगोड़ी मरैं अकुलाई ।
प्यास-भरी बरसै तरसै मुख देखन कौं अँखियाँ दुखदाई ।।

विरहिणी से तो पत्र भी लिखते नहीं बनता । भला अभिलाषा लिखने में कैसे आ सकती है जबकि वह कहने में नहीं आती :—

जगि सोवनि मैं जगियै रहै चाह वहै बरराय उठै रतिया।
भरि अंक निसंक ह्वै भेटन कौं अभिलाप-अनेक-भरी छतिया ।।
मन तें मुख लौं नित फेर बड़ो कित ब्योरि सकौं हित की बतिया।
घन आनँद जीवन-प्रान लखौ सुलिखी किहि भाँति परै पतिया ।।

भला छाती (हृदय) के घाव पत्र में लिखे भी कैसे जा सकते हैं ?

पाती-मधि छाती-छत लिखि न लिखाए जाहिं,
काती लै बिरह-घाती कीने जैसे हाल है ।।

विरह से हृदय जलता है और आँखों मे आँसू बरसते रहते हैं। जब दीखना ही नहीं है तो पत्र कैसे लिखा जाये :—

हिय सागर तें दृग-मेघ भरे उघरे बरसैं दिन औ रतियाँ।
घन आनँद जान अनोखी दसा, न लखौं दई कैसे लिखों पतियाँ ।।

नायिका प्रिय और अपने प्राणों की कठोरता का वर्णन करती हुई कहती है कि मारकर बधिक भी वध्य की सुध ले लेता है, किन्तु प्रियतम ने विरहाघात करके भी सुध नहीं ली और ये पापी प्राण निरन्तर वियोग-बाण सहकर भी, इस समर में काम नहीं आये :—

बधिकौ सुधि लेत, सुन्यौ, हति कै गति रावरी क्यों हूँ न बूझि परै।
दिन-रैन सुजान-वियोग के बान सहै जिय पापी न जूझि परै ।।

प्रिय की कठोरता के साथ-साथ विरहिणी के प्रेम की अनन्यता भी प्रकट हो जाती है :—

सुनि निरमोही एक तोही सों लगाव मोही,
सोही कहि कैसें ऐसी निठुराई अति रे ।।
बिष सी कथानि मानि सुधा पान करौं जान।
जीवन-निधान ह्वै बिसासी मारि मति रे ।।

क्या प्रिय को उसके कठोर कर्म के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त होगी ?

जाहि जो भजै सो ताहि तजै घन आनन्द क्यौं,
हति कै हितूनि, कहौ काहू पाई पति रे ?

रह-रह कर विरहिणी को संयोग का समय भी याद आ जाता है और वह पिछले सुखों को विरह-व्यथा के सामने रख कर देखती है :—

जोई रात प्यारे-संग बातन न जात जानी,
सोई अब कहाँ तें बढ़नि लियें आई है।
जोई दिन कंत-साथ जीवन को फल लाग्यो,
सोई बिन अन्त देत अन्तक दुहाई है ।।

विरह की गम्भीरता में विरही को उन्माद की दशा आ घेरती है। वह

प्रिय को कभी अंक में भरता है, कभी चौंक पड़ता है, कभी उससे लड़ने लगता है और कभी मनाने लगता है:—

अंक भरौं, चकि चौंकि परौं, कबहूँक लरौं, छिन ही मैं मनाऊँ।

कभी-कभी विरही अपने भाव को गुप्त रखना चाहता है, किन्तु वह साथियों पर प्रकट हो ही जाता है :—

गई सुधि अंग, भई मति पंग, नई कछु बात जतावति हौन।
दुराव कियें कहा होत सखी ! रँग और भयौ ढँग उत्तर कौन ॥

यदि विरहिणी को प्रिय का पत्र मिल जाता है तो न जाने कितने नये भाव उसके उर में जाग्रत हो जाते हैं। संदेशवाहक का बड़ा सत्कार और मनुहार होता है :—

जहाँ तें पधारे मेरे नैननि ही पाँव धारे
वारे ये विचारे प्रान पैंड पैंड पै मनौ।
आतुरन न होहु हा हा नेकु फैंट छोरि बैंठो
× × ×
कौन विधि दीनी पाती दीन जानि कैं भनौ ॥

विरहिणी की दशा का दायित्व प्रिय पर है। वह उसे निरुत्तर और लज्जित करने के लिए अपने संदेश में पूछती है कि यदि कोई पूछे तो मैं अपनी दशा का क्या कारण बतलाऊँ ?

यह देखि अकारन मेरी दसा कोऊ बूझै तौ ऊतर कौन कहौं।
जिय नेकु विचारि कै देहु बताय हहा पिय ! दूरि तें पाय गहौं ॥

विरहिणी अपनी दुर्दशा के दायित्व से भाग्य को भी मुक्त नहीं कर देती। भाग्य के सो जाने से ही मानों उसकी ऐसी दशा हुई है, अतः उसे जगाती हुई, किन्तु आशंकित होती हुई वह कहती है :—

सोए बहुलेरो, मेरों सोच हू निबेरौ हेरौ,
हौं न जानौं कब धौं उनीदे भाग ! जगौगे।

भाग्य ही नहीं, विधाता तक उक्त दायित्व से मुक्त नहीं हुआ, क्योंकि उसी निर्दय ने तो विरही जैसे क्षीण दीनों के लिए मोहन नाम वाले अमोही प्रिय को बनाया है :—

छीन अति दीनन कौं मोहन अमोही रच्यौ,
महा निरदई हमैं मिल्यौ करतार है ॥

विरही को सम्पूर्ण जगत् शून्य दीख रहा है। कोई आश्रय दिखायी नहीं पड़ता। मन में व्यथा का धुआँ घुट रहा है। क्या अच्छा होता कि मृत्यु ही इन दुःखों से मुक्त कर देती ! वह भी नहीं आ रही, कदाचित् मर गयी :—

कौन सी सरन जैयै आपु त्यौं न काहू पैयै,
सूनौ सौ चितैयै जग, दैया कित कूकियै ।
× × ×
बनी है कठिन महा, मोंहि घन आनन्द यौं,
मीचौ मरि गई आसरो न जित ढूकियै ।।

दुःखोद्बोधक होने के कारण विरहिणी उद्दीपनों को अपना शत्रु समझकर कोसती है । निशा को 'साँपिन', 'डाहिन' और न जाने क्या-क्या नाम मिलने लगते हैं :—

पापिन डरारी भारी साँपिन निसा बिसारी,
बैरिनि अनोखी मोहि डाहनि डसति है ।

कोकिल, मयूर, चातक और घन को भी विरहिणी कुछ कम शत्रु नहीं समझती :—

कारी कूर कोकिला ! कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अब ही करेजो किन कोरि लै ।
पैंड़े परे पापी ये कलापी निस द्यौस ज्यौं ही,
चातक घातक त्यौं ही तू हू कान फोरि लै ।
आनँद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरौ दल जोरि लै ।
जौ लौं करैं आवन बिनोद बरसावन वे,
तौ लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै ।।

अनेक उत्सव आते हैं । लोग उन्हें सामान्य ढंग से मनाते हैं, किन्तु विरहिणी इन सब में विरहोत्सव ही मनाती है । विरहिणी के फाग का वर्णन करते हुए दूती नायक से कहती है :—

पीरी परी देह, छीनी राजति सनेह भीनी,
कीनी है अनंग अंग-अंग रंग-बोरी सी ।
नैन पिचकारी ज्यौं चल्यौई करैं दिन-रैन,
बगराए बारनि फिरति झकझोरी सी ।
कहाँ लौं बखानौं घनआनँद दुहेली दसा,
फागमई भई जान प्यारे वह भोरी सी ।
तिहारे निहारे बिन प्राननि करति होरा,
बिरह अँगार निमगारि हिय होरी सी ।।

ऐसे वर्णनों द्वारा कवि ने उद्दीपनों और अनुभावों का एक ही साथ निरूपण बड़े सुन्दर ढंग से किया है । प्रमुखता अनुभावों की है, किन्तु उनमें ऋतुओं का चित्र बड़े कौशल से प्रस्तुत किया गया है ।

जब कहीं कोई उपाय सफल नहीं होता दीखता तो विरहिणी अपना दैन्य और आलम्बन का उत्कर्ष वर्णन करती है : इस विचार से कि कोई भी व्यक्ति परारोपित दोषों को स्वीकार नहीं करता; वरन् आरोपों से संयोग (मिलन) की सम्भावना कम होती दीख पड़ती है। इसलिए विरहिणी अपने दैन्य पर प्रियोत्कर्ष की नोंक लगाकर उसके अन्तर को घायल करना चाहती है :—

मोसों तुम्हें सुनौ जान कृपानिधि ! नेह निबाहिबो यों छबि पावै।
ज्यौं अपनी रुचि राचि कुबेर सु रंकहि लै निज अंक बसावै ॥

इस प्रकार विरह-संदेश लेकर दूती जाती है और वह अपनी ओर से भी प्रिय से निवेदन करती है :—

नेह-निधि प्यारे गुन-भारे व्है न रूखे हूजै,
ऐसो तुम करौ तो बिचारन कैं कौन है ॥

जब इस प्रकार भी सफलता नहीं मिलती तो कालिदास के यक्ष की तरह विरहकातर होकर विरहिणी पवन से प्रिय के चरणों की धूलि लाने के लिए विनय करने लगती है :—

बिरह-बिथाहि मूरि, आँखिन मैं राखौं पूरि,
धूरि तिन पायन की हाहा ! नेक आनि दै ॥

छिपकर विरह-बाण मारने वाले प्रियतम को विरहिणी आर्शीवाद ही देती है :—

'ओटनि चोट करौ घन आनन्द नीके रहौ निसद्यौस असीसत।'

प्रिय प्रेमिका को चाहे या न चाहे, पर प्रेमिका प्रिय की सदैव मंगल कामना करती है :—

'नित नीके रहौ तुम्हें चाड़ कहा पै असीस हमारियौ लीजियै जू।'

विरह-वर्णन में घनानन्द ने पूर्वानुराग और मान का भी निरूपण किया है। प्रिय को देखकर प्रेमिका मिलने के लिए तड़पती है :—

जब तै निहारे घनआनन्द सुजान प्यारे।
तब तैं अनोखी आगि लागि रही चाह की ॥

प्रिय की छवि और चेष्टाओं ने प्रेमिका पर कुछ जादू सा कर दिया है। जब से प्रिय का दर्शन हुआ है तभी से वह कराहने लगी है :—

निस-द्यौस खरी उर-माँझ अरी, छबि रंग-भरी मुरिचाहनि की।
× × × ×
घनआनन्द जान लखी जब तैं जक लागियै मोहिं कराहनि की ॥

विरह की अनेकों दशाओं के साथ-साथ कवि ने मान के उदाहरण भी दिये है, किन्तु थोड़े। प्रिय के प्रति मान निभना कितना कठिन है, इसी बात को समझा कर सखी मानवती नायिका से मान तोड़ने के लिए कहती है :—

मोहि निहोरि है तू जु घरीक में, मेरौ निहोरिबोई किन मानति ।
जासों नहीं ठहरै ठिक मान को, क्यौ हठ कै सठ रूठनौ ठानति ।।
कैसी अजान भई है सुजान हे, मित्र के प्रेम-चरित्र न जानति ।
सो मुरली घनआनँद की तिनि तान भरी, कित भौंहनि तानति ।।

विप्रलम्भ के उक्त विवेचन मे यह स्पष्ट है कि घनानन्द ने काम की दशों दशाओं (अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण) का ही वर्णन किया है । रस का विच्छेदक होने से कविता में मरण का वर्णन नहीं किया जाता है और न उसका वर्णन कहीं घनानंद ने ही किया है, फिर भी मरण-तुल्य दशा एवं आकांक्षित मरण का वर्णन उनकी कविता में मिल ही जाता है । इनके अतिरिक्त दर्शनजन्य पूर्वराग का भी चित्र है । मान के क्षेत्र में प्रणय और ईर्ष्या दोनों से सम्बन्धित मान के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं ।

नायिका के दो रूप मिलते है , प्रोषितपतिका और खंडिता ।

घनानन्द ने संयोग शृंगार के चित्र भी चित्रित किये हैं जिनमें नखशिख, चेष्टा आदि का वर्णन ही प्रधान है । एक-दो सवैयों में 'सुरति' की झाँकी भी मिल जाती है, पर घनानन्द का विरह-वर्णन ही उनकी अक्षय निधि है ।

२१

क्या साकेत महाकाव्य है ?

साकेत के अध्ययन में यह प्रश्न बड़ी गम्भीरता पूर्वक विचार करने योग्य है, क्योंकि कितने ही समालोचक साकेत को महाकाव्य मानते आये हैं। यदि भारतीय काव्य शास्त्र के आधार पर साकेत को महाकाव्य मानने की चेष्टा की जाये तो यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि किसी ग्रंथ को केवल संकलित उपकरण ही महाकाव्य नहीं बना सकते, वरन् उनका सदुपयोग एवं सद्व्यवस्था कहीं अधिक आवश्यक हैं। जिस प्रकार किसी स्थान पर पड़े हुए वास्तु-उपकरणों को देखकर हम उसे भवन नहीं कह देते, उसी प्रकार संकलित सामग्री को देखकर ही उसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। ऐसी बात नहीं है कि साकेत के कवि ने उसे महाकाव्य बनाने का प्रयत्न नहीं किया। प्रयत्न तो किया है, किन्तु असफल। भारतीय अथवा अभारतीय, किसी सिद्धान्त निकष पर परीक्षण किया जाये, महाकाव्य के लिए तीन तत्त्वों की उपेक्षा नहीं की जा सकती और वे हैं—वस्तु, नेता और रस। महाकाव्य के लिए इन तीनों का संतुलित विकास और जीवन की पूर्णता अनिवार्य है, अन्यथा इनकी उपस्थिति का कोई मूल्य नहीं है।

कथावस्तु का चयन जीवन के परिनिदर्शन, उसकी व्यापक परिस्थितियों के स्वरूप एवं स्वभाव के आकलन के लिए किया जाता है। जहाँ परिस्थितियों की विविधता एवं व्यापकता की अभिव्यञ्जना के लिए अनेक पात्रों की विविध घटनाओं से आबद्ध प्रक्रियाएँ निरूपित करनी होती हैं वहाँ जीवन की पूर्णता की अभिव्यक्ति के लिए घटनावली को पात्र विशेष से परिबद्ध भी करना होता है, ऐसे विशेष पात्र से जिसमें व्यवहृत अथवा अव्यवहृत रूप से गतिमय रह कर भार-निर्वाह करने की क्षमता भी रहती है। वही विशेष पात्र नायक कहलाता है। भारतीय प्रबन्ध काव्य में यों तो नायिका भी अपना एक विशेष स्थान

रखती है, किन्तु उसको वह गौरव नहीं मिल सका है जो नायक को प्राप्त हो सका है। प्राचीन भारतीय साहित्य में पुरुष के सामने नारी को प्रधान होने का सौभाग्य कभी नहीं मिला। इसलिए नायिका 'धीरोदात्तादि' वर्गीकरण से भी वंचित रही है। फिर भी 'अभिज्ञान शाकुन्तल' जैसी रचनाओं का होना नायिका-प्रधान रचनाओं की सत्ता को सिद्ध करता है। आधुनिक प्रबन्धों में इस भेद को हटा दिया गया है और नायिका-प्रधान रचनाओं की वृद्धि हो रही है। झाँसी की रानी, ध्रुवस्वामिनी, यशोधरा ऐसी ही रचनाएँ हैं।

हाँ, तो प्रच्छन्न या प्रकाश, किसी रूप में भी महाकाव्य की घटनावली की कर्णधारता नायक या नायिका को ही सौंपी जाती है। अनेक घटनाओं की रूप-रेखाओं का केन्द्र-बिन्दु नायक या नायिका में ही संनिहित रहता है। उसी के प्रश्रय से सुख-दुख रूप से प्रतीत होने वाला जीवन महाकाव्य की शब्दावलियों में आनन्द रूप से आस्वादित होता है। इसलिए जहाँ घटनावली को जोड़ती हुई कथा अनिवार्य है, उसको गति एवं सज़ीवता देने के लिए नायक की आवश्यकता है, वहाँ उसे आनन्दमय बनाने के लिए रस की भी आवश्यकता है।

यदि वस्तु के निकष पर साकेत से महाकाव्यत्व की परीक्षा करें तो अनेक स्थल ऐसे मिलते हैं जहाँ वस्तु-सूत्र शिथिल या विच्छिन्न-सा दीख पड़ता है। इसलिए नहीं कि कवि उसे महाकाव्य नहीं बनाना चाहता, अपितु महाकाव्य बनाने की धुन में ही उससे ऐसी भूलें हुई हैं। कहीं-कहीं तो लम्बे-लम्बे वर्णनों में फँस कर न केवल प्रवाह ही अवरुद्ध हो जाता है, वरन् रस भी शुष्क-सा दीख पड़ता है। रामचन्द्रिका के आलोचक जिन दोषों का आरोपण केशव पर करते हैं, मैं समझता हूँ कथा-प्रवाह के अन्तर्गत असन्तुलित वर्णन होने के कारण, उन्हीं का आरोपण साकेत के आलोचक मैथिलीशरण गुप्त पर भी कर सकते हैं। वर्णन की दृष्टि से नवम सर्ग का चाहे कितना ही महत्त्व हो, मुक्तक की दृष्टि से चाहे उसमें कितना ही स्वपूर्ण सौन्दर्य हो और विविधता की दृष्टि से भी भावनाओं की चाहे कितनी ही तरल ऊर्मिलता हो, परन्तु महाकाव्य के उपयुक्त अबाध प्रवाहशीलता का उसमें सर्वथा अभाव है। साकेत की घटनावली में प्रायः गतिविधि का अभाव है; हमें तो उसका केवल झरोखा-दर्शन-सा होता है। किसी ऐसी प्रमुख घटना का भी उसमें स्पष्ट निदर्शन नहीं मिलता जिसके लिए प्रमुख पात्र की समग्र गतिविधि संकलित एवं सतत प्रेरित हो। स्पष्ट है कि कवि के मस्तिष्क में साकेत का यह रूप पहले था ही नहीं। बहुत सम्भव है कि प्रारम्भ में कवि की दृष्टि उर्मिला के वियोग पर ही रही हो और साकेत को महाकाव्य बनाने का विचार बाद में आया हो। यह तो स्वयं कवि ने भी स्वीकार किया है कि साकेत का प्रणयन अबाध रूप से नहीं हुआ। यही

कारण है कि सुन्दर कल्पनाओं के होते हुए भी अनेक स्थलों पर निबन्धन का अभाव प्रस्तुत होगया है। सकेतों द्वारा प्रकट होने से भी कुछ घटनाओं की सजीवता क्षीण होगयी है तथा कथाबोध की सुकरता संस्कारों के लिए छोड़ दी गयी प्रतीत होती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं और कवि की स्वीकृति स्वयं इसका प्रमाण है कि कवि की दृष्टि उपेक्षिता उर्मिला पर रही है। तो क्या साकेत नायिका-प्रधान रचना है ? और क्या उर्मिला उसकी नायिका है ? यदि कथा का दायित्व उर्मिला पर है, यदि उसमें शक्ति और गति का संचार उसी प्रकार दीख पड़ता है जिस प्रकार लक्ष्मीबाई, शकुन्तला और ध्रुवस्वामिनी में, तो कहा जा सकता है कि वह साकेत की नायिका है; पर क्या उसमें नायिकोचित सजीवता, सक्रियता और व्यापकता है भी या नहीं ? साकेत को आद्योपान्त देख लीजिये, उर्मिला में सक्रियता तथा व्यापकता का अभाव है। पाठक को उर्मिला का आदिरूप परिहास वेष्टित मिलता है। इसके अनन्तर 'रुदन्ती विरहिणी' के रूप में ही उसका दर्शन होता है। हाँ, अन्त में वह संयोगवती भी दीख पड़ती है। यदि लक्ष्मण के साथ उर्मिला के पुनर्मिलन को फलप्राप्ति मानलें तो उसके लिए उसके प्रयत्नो पर भी विचार करना होगा और साथ ही यह भी देखना होगा कि फल प्राप्ति किस घटना पर निर्भर है। उसी को काव्य की प्रमुख घटना समझना चाहिये और उसी में नायिका के प्रयत्न केन्द्रित रखने चाहिये। यह स्पष्ट है कि लक्ष्मण-उर्मिला के मिलन के लिए रावणवध अति महत्त्वपूर्ण घटना है क्योंकि उसके बिना राम-लक्ष्मण का सीता सहित अवध को लौटना संभव नहीं है, किन्तु इससे नायिका की चेष्टाओं में कोई प्रयत्न विशेष नहीं दीखते हैं। प्रमुख घटना की दृष्टि से उर्मिला अनायिका ही नहीं, अबला भी बन गयी है जिसमें परिहास और विलाप के अतिरिक्त कोई शक्ति नहीं है।

यदि नायिका की दृष्टि से नहीं, तो क्या नायक की दृष्टि से साकेत को सफल कृति मान सकते हैं ? इस विचार के लिए नायक की खोज करनी है। नायक किसे मानें ? राम को, लक्ष्मण को या भरत को ? व्यापार और चेष्टाओं की गौणता के कारण लक्ष्मण और भरत का व्यक्तित्व गौण ही रहता है। प्रमुखता की दृष्टि से राम का व्यक्तित्व ही पाठक या श्रोता के समक्ष आना चाहिये। अनेक घटनाओं के अतिरिक्त रावणवध का श्रेय भी राम ही को मिला है और राज्य रूपी फल की प्राप्ति भी राम ही को होती है। फल की दृष्टि से भी लक्ष्मण और भरत की गौणता सिद्ध है। उर्मिला से मिलने के लिए भी लक्ष्मण अचेष्ट एव अस्वतंत्र हैं।

निवेदन से पूर्व कवि ने जो कुछ लिखा है उससे स्पष्ट है कि उसके समक्ष

उपेक्षिता उर्मिला का चरित जितना प्रमुख रहा है उतना ही प्रमुख रामचरित रहा है। यदि यह कह दिया जाये कि साकेत को चरित प्रधानता की दृष्टि से ही लिखा गया है तो अनुचित न होगा क्योंकि भरत और कैकेयी के चरित के साथ कुछ अन्य चरितों को भी उत्कर्ष प्राप्त हो गया है। भरत के चरित्र का उत्कर्ष वन से लौटे हुए राम के इन शब्दों में मिल जाता है :—

"उठ भाई, तुल सका न तुझसे, राम खड़ा है,
तेरा पलड़ा बड़ा, भूमि पर आज पड़ा है।
गये चतुर्दश वर्ष, थका मैं नही भ्रमण में,
विचरा गिरि-वन-सिन्धु-पार लंका के रण में।
श्रान्त आज एकान्त-रूप सा पाकर तुझको
उठ भाई, उठ, भेंट, अंक में भरले मुझको।
मैं वन जाकर हँसा, किन्तु घर आकर रोया,
खोकर रोये सभी, भरत, मैं पाकर रोया।"

कैकेयी के चरित्र का परिष्कृत रूप भी इसी अवसर पर अवगत किया जा सकता है। चारित्रिक मर्म को कवि ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :—

समझी प्रभु ने कसक भरत-जननी के मन की,
"मूल शक्ति माँ, तुम्हीं सुयश के इस उपवन की।
फल, सिर पर ले धूल, दिये तुमने जो मीठे,
उनके आगे हुए सुधा के घट भी सीठे॥"

प्रतीत ऐसा होता है कि भरत की भक्ति-भावना कवि की भक्ति-भावना से पूरा ताल मेल रखती है और उस भावना के आलंबन राम हैं। इसलिए कवि के सामने एक ओर राम-भक्ति है और दूसरी ओर उर्मिला की दयनीयता और सहिष्णुता। उर्मिला के चरित्र को पाठकों के सामने लाने के प्रयत्न ने राम कथा में एक नवीनता का समावेश अवश्य किया है, किन्तु इससे राम पृष्ठभूमि में नहीं गये हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि गुप्तजी का लक्ष्मण और उर्मिला को नायक-नायिका बनाने का प्रयत्न विफल हो गया है क्योंकि उनके आराध्य राम प्रमुख बन गये हैं। यद्यपि उर्मिला ने साकेत के बहुत से पृष्ठ घेर लिये हैं और ग्रन्थ के आरम्भ, मध्य और अन्त में वह सभी स्थलों पर आ धमकती है किन्तु उसको मुख्य पात्री का पद उसी प्रकार से मिला है जैसे 'प्रसाद' के चन्द्रगुप्त नाटक में नायक का पद चाणक्य को। जो समस्या चन्द्रगुप्त नाटक में चाणक्य और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में आती है, वही साकेत में उर्मिला और राम के सम्बन्ध में आती है।

उर्मिला की दो स्थितियाँ पाठक के सामने आती हैं—एक संयोग की स्थिति जिसको वह प्रारम्भ और अन्त में देखता है, और दूसरी वियोग की स्थिति

जिसको वह मध्य में—नवें और दसवें सर्ग में—देखता है। इन स्थितियों में केवल भावना का उद्वेलन है, कार्य-व्यापार का बहुत बड़ा अभाव खटकता है। कवि का उद्देश्य 'आर्य सभ्यता की प्रतिष्ठा' करना है और उन्होंने इसकी ओर बार-बार स्पष्ट संकेत किया है। राम के शब्दों में, गुरु वसिष्ठ के शब्दों में और स्वयं लक्ष्मण के शब्दों में इस लक्ष्य का परिचय मिल जाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति में मुख्य पात्र का सक्रिय योग आवश्यक है। इसके अभाव में मुख्यपात्रता किसी व्यक्ति विशेष के लिए सुरक्षित नहीं रखी जा सकती।

साकेत का कवि उर्मिला को विरहिणी दिखा सका है, विषण्ण दिखा सका है किन्तु वह उसे कृतिशील नहीं दिखा सका है। उर्मिला के चरित्र में व्यापार का अभाव है। अन्त में रामराज्य से पूर्व ही उसे संयोग में जिस 'काम' फल की प्राप्ति हुई है, उसमें उसके सक्रिय प्रयत्न का कोई योग नहीं है। रामराज्य की स्थापना में ही आर्य सभ्यता की प्रतिष्ठा पूर्ण होती दिखायी देती है और यही राम को धर्म-फल की प्राप्ति है जिसके लिए रावण-वध का होना अत्यावश्यक है। रावण-वध इस काव्य की मूल घटना है जिसमें राम के शौर्य, प्रयत्न और प्रभाव, तीनों का योग है। इस घटना में लक्ष्मण सहयोगी रहे हैं और उनका व्यक्तित्व भी राम के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं हो पाया। सच तो यह है कि राम के चरित्र को सांस्कृतिक भूमिका उर्मिला के प्रमुख पद पाने के मार्ग में आ खड़ी होती है। इसलिए भरत और राम के सामने उर्मिला का चारित्रिक उत्कर्ष—सब दृष्टियों से—सिद्ध नहीं हो पाता। यह ठीक है कि उसके प्रति पाठक की सहानुभूति होती है।

रस की कसौटी पर भी 'साकेत' बहुत सफल नहीं उतरता। इसके आदि और अन्त में संयोग की दो अवस्थाएँ दीख पड़ती हैं। उन्हीं के बीच में विप्रलंभ की गहरी खाई बनी हुई है। यही वियोग-काल अन्य रसों की झाँकी भी देता है और ऐसा लगता है कि वीर और शान्त स्वयं स्वतन्त्र हो गये हैं। प्रबन्ध की रस-सरिता की अनेक धाराओं के कारण मूल रस का निर्वाह बिगड़ गया है। इन अनेक धाराओं में भी रस का समुचित निर्वाह नहीं हो पाया है। लम्बे-लम्बे वर्णनों की भरती से रस की धारा बाधित हो गयी है। कहीं-कहीं अतिनाटकीयता ने भी रस-चर्वण में बाधा डालदी है।

उर्मिला का सुन्दर रूप, कला-कौशल, व्यंग्यपाटव, यौवन का तारल्य और प्रेम का आवेग—ये सब एक ही साथ उर्मिला में शृंगार का सुन्दर आश्रय प्रस्तुत करते हैं। मान, प्रेम और विनोद की सरस प्रतिमा उर्मिला नवें और दसवें सर्ग में वियोग की एक आहत मूर्ति बन जाती है। यदि विरह का विकास और विरह-वर्णन इतना विस्तार न ले लेता तो अवश्य ही साकेत की सरसता

बढ़ जाती। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि साकेत का कवि बहुत भावुक है और भावुकता के फेर में ही वह काव्य के सन्तुलन को भूल बैठा है। सरसता के बीच में बहुत से स्थलों पर आलंकारिकता अथवा चमत्कारप्रियता आ धमकी है जिससे भाव बाधित हो गया है। उसे खाने, पीने, पहनने अथवा पक्षियों के गिनने ने ग्रसित कर लिया है। ऊहा और अतिशयोक्ति रस को प्रेरित करने के स्थान पर उसे रोकती हैं। चित्रकूट, बादल, नदी, किसान, किरण, होली, शतदल आदि के वर्णन स्वतन्त्र कविता के रूप में बहुत अच्छे हैं, किन्तु प्रबन्ध काव्य के उदर में वे पच नही सके है। इस कारण इस धारा के बीच में बहुत से द्वीप आ गये हैं।

संवादों ने भी प्रायः अधिक विस्तार ले लिया है। इसमें सन्देह नहीं है कि संवाद बहुत रोचक हैं, किन्तु वे रसधारा को या तो अन्तःसलिला बना देते हैं या अवरुद्ध कर देते हैं। अनेक स्थलों पर रस-सूत्रों का टूट जाना, तारतम्य का स्खलित हो जाना इस बात का प्रमाण है कि 'साकेत' में रस-निर्वाह सफलता से नहीं हो सका है।

यह विवेचन हमें इस निष्कर्ष पर ले पहुँचता है कि वस्तु-निबन्धन, सम्बन्ध-निर्वाह, वर्णन सन्तुलन, प्रमुखपात्र-प्रतिष्ठा, और रस-निर्वाह की कसौटी पर साकेत पूरा नहीं उतरता है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने भी उसे एक बड़ा प्रबन्ध काव्य ही कहा है, महाकाव्य नहीं कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि मंगलाचरण के उपरान्त अन्त तक कवि ने उन सब उपकरणों का संकलन करने की चेष्टा की है जो भारतीय दृष्टिकोण से किसी भी महाकाव्य के लिए अनिवार्य हैं, किन्तु उनके उपयोग से भावना की प्रधानता रहने से सन्तुलन और निर्वाह बिगड़ गया है। संवादों के अतिरेक ने संदर्भावगति दुरूह करदी है। प्रधान पात्र का पद एक समस्या के गर्भ में पड़ गया है। कुछ विद्वानों ने साकेत को 'एकार्थ काव्य' भी कहा है और मेरी समझ में भी महाकाव्य की अपेक्षा यह नाम अधिक उपयुक्त होता किन्तु प्रबन्ध-सफलता का प्रश्न तो वहाँ भी है।

१२

यशोधरा

प्रेरणा

"उनका श्रेय भी तो 'साकेत' की उर्मिला देवी को ही है जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है"—कवि के इन शब्दों से ग्रंथविषयक प्रेरणा का आभास मिल जाता है। साकेत की तरह यहाँ भी विस्मृता के स्मरण की भावना कवि के हृदय में मचल रही है। पूर्व कवियों की लेखनी ने उर्मिला और यशोधरा की जो उपेक्षा की है उसे गुप्तजी ने बड़ी व्याकुल आँखों से देखा है। वह तितिक्षा और यह उपेक्षा ! कितनी बड़ी विषमता है ! महत्ता की कितनी कठोर अवहेलना है ! गुप्तजी की कोमल भावुकता इसे न सह सकी। कल्पना की जिस दृष्टि से कवि ने राम-कथा में उर्मिला की तितिक्षा देखी वही उसे यशोधरा की महत्ता की ओर भी ले गयी। पूर्वजों की अन्यमनस्कता से कवि का हृदय पीड़ित हो उठा और सहज करुणाकण्ठ से कराह निकली—"हाय ! यहाँ भी वही उदासीनता ! अमिताभ की आभा में ही उनके भक्तों की आँखें चौंधिया गयीं और उन्होंने इधर देखकर भी नहीं देखा। सुगत का गीत तो देश-विदेश के कितने ही कवि-कोविदों ने गाया है, परन्तु गर्विणी गोपा की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देखकर मुझे शुद्धोदन के शब्दों में यही कहना पड़ा है कि—

"गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको।"

कथानक

प्राचीन कवि-परम्परा के अनुकरण में ग्रन्थ का श्रीगणेश मंगलाचरण से होता है जिसमें राम को श्रद्धाञ्जलि समर्पित की जाती है। इसके उपरान्त ही कवि-प्रतिभा सिद्धार्थ की विरक्ति के निरूपण में लीन हो जाती है और 'यशोधरा' का प्रबन्ध चल निकलता है। सबसे पहिले सिद्धार्थ के ध्यान में

आवागमन का चक्र आता है और मानसिक प्रतिक्रियाओं में संस्कार का उदय होने लगता है। वे देखते हैं कि इस संसार-चक्र में जीव निरन्तर पिस रहा है—

पिसो पड़े हो इसमें जब तक,
क्या अन्तर आया है अब तक ?
सहें अन्ततोगत्वा कब तक —
हम इसकी गति वक्र ?
घूम रहा है कैसा चक्र ?

जरा, रोग, मृत्यु आदि का साक्षात्कार मनस्वी कुमार की चिन्तना को प्रौढ़ और मानसिक आन्दोलन को तीव्र कर देता है। वे व्याकुल होकर सोचते हैं—

हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा ?
हाय ! मिलेगा मिट्टी में वह वर्ण-सुवर्ण खरा ?
सूख जायगा मेरा उपवन, जो है आज हरा ?

× × ×

इस शरीर का भी क्या भरोसा जिसे मृत्यु कभी कहीं भी घेर सकती है—

यह भी पता नहीं, कब किसका समय कहाँ आ बीता है ?
विष का ही परिणाम निकलता, कोई रस क्या पीता है ?

विवेक के साथ-साथ कुमार की विरक्ति-भावना दृढ़ होती चली जाती है और वे अन्तराय के विनाश का संकल्प कर लेते हैं—

अमृत-पुत्र उठ, कुछ उपाय कर, चल, चुप हार न बैठ हाय।
खोज रहा है क्या सहाय तू ? मेंट आप ही अन्तराय ।।

मुक्ति के लिए भव-भुक्ति का परित्याग करके वे घर से निकल पड़ते हैं। परिवार से मोह छूट जाता है और जगत् के प्रति उर में घृणा भर जाती है। छन्दक को चुपके से साथ लेकर, कंथक पर चढ़कर, अँधियारी रात में ही महाभिनिष्क्रमण कर देते हैं। निर्वाण हेतु प्रियतम के इस प्रयाण को यशोधरा स्वप्न में देख लेती है और उद्वेग की तीव्रता से स्वप्न भग्न हो जाता है। जगने पर वस्तु-स्थिति अवगत होती है और वह सखी के साथ विलाप-वार्तालाप करने लगती है। परिवार के सब लोग परिताप से पिघलने लगते हैं। छन्दक लौटकर आता है और कन्थक को शून्यपृष्ठ देखकर पुरजनों की आशा टूट जाती है। पूछने पर छन्दक उन्हें सिद्धार्थ का समाचार सुनाता है और वे शोकातुर हो उठते हैं।

उधर गौतम निर्वाण के अनुसंधान में लग जाते हैं और इधर शिशु राहुल बड़ा होता है। माता के स्नेह से परिपालित भी राहुल आयु के साथ-साथ पिता के अभाव से दुःखी रहता है। माँ की अविरल व्यथा उसके लिए करुण-कथा बन जाती है, परन्तु दुःखमग्न विरहिणी का वह एकमात्र सन्तोष है।

समय बीतता चला जाता है किन्तु यशोधरा का विरह-घाव नहीं भर पाता। एक दिन सहसा मगध के व्यवसायियों से स्वामी का वृत्त पाकर गौतमी हर्ष से यशोधरा को सुनाती है—

मिल गया, मिल गया, मिल गया
सहसा उनका सन्धान आज।

× × ×

गौतमी से यशोधरा का पहला प्रश्न यह होता है—
"आलि, उन्हें सिद्धि तो मिली है ?"

और गौतमी से यह सुनकर कि—

सिद्धियाँ तो उनके पदों पर प्रणत हैं,
स्वामी आज आनन्दाग्रगामी शुद्ध-बुद्ध हैं;
तप तथा त्याग तथागत के सफल हैं।

यशोधरा के विरहाश्रुओं में हर्ष की बाढ़ आजाती है—

गोपा गर्विणी है आज, आली, मुझे भेंट ले।
आँसू दे रही हूँ, कह और क्या अदेय है ?

× × ×

यदि यह सत्य है तो मैं भी कृतकृत्य हूँ। आज सुख से भी निज दुःख मुझे प्यारा है।

हर्ष उससे सँभल नहीं सकता क्योंकि हर्ष की अधिकता भी भार बन जाती है।

बुद्ध से मिलने के लिए शुद्धोदन और महाप्रजावती यशोधरा को मगध ले जाना चाहते हैं, परन्तु वह इन्कार कर देती है—

किन्तु तात! उनका निदेश बिना पाये मैं,
यह घर छोड़ कहाँ और कैसे जाऊँगी ?

× × ×

हाय अम्ब! आप मुझे छोड़कर वे गये,
उनका मन होगा तब आप आके अथवा
मुझको बुलाके, चरणों में स्थान देवेंगे।

शुद्धोदन बुद्धदेव को बुलाने के लिए दूत भेजते हैं परन्तु जो-जो उन्हें लेने के लिए जाते हैं वे सब उनके दर्शन और उपदेश से स्वयं संसार-त्यागी होकर उनके संघ में दीक्षित हो जाते हैं। यशोधरा उनकी प्रतीक्षा में व्याकुल बनी रहती है। अन्त में बुद्ध भगवान् कपिलवस्तु पधारते हैं और प्रातःकाल नियमानुसार नगर में भिक्षा के लिए निकलते हैं। इस समाचार से वहाँ हलचल मच

जाती है। यशोधरा को बड़ा परिताप होता है। वे राजप्रसाद में भी पधारते हैं और सब उनका उचित स्वागत करते हैं, परन्तु यशोधरा उस समारोह में सम्मिलित नहीं होती। उससे कहा जाता है तो वह कहती है—

उद्धारक चाहें तो आवें,
रहे यहीं यह चेरी।

अन्त में भगवान् ही उसके निकट जाते हैं। उस समय भी यह मानिनी उन्हें राहुल का समर्पण करके अपने परम त्याग का प्रमाण देती है। जिस मार्ग की खोज के लिए स्वामी उसे छोड़कर चले जाते हैं उसी को ग्रहण करके यशोधरा सच्ची सहधर्मिणी होने का परिचय देती है।

रूप और शैली

इतनी मात्र कथा के आधार पर विस्तीर्ण प्रबन्ध की रचना की गयी है। यशोधरा के त्याग की सिद्धि इस ग्रंथ का उद्देश्य है। सिद्धि के लिए सिद्धार्थ का गृह-त्याग इस प्रबन्ध की एकमात्र घटना है, जो अनेक भाव-विस्तारों की एक भूमि है। अतएव रचना को एकार्थ काव्य का नाम देने में कोई विशेष आपत्ति प्रतीत नहीं होती। इसका ढाँचा और शैली अपूर्व होने से कुछ शंकाएँ स्वाभाविक प्रतीत होती हैं, परन्तु इसकी विचित्रता को स्वयं कवि ने स्वीकार किया है—

"लो कविता, लो गीत, लो नाटक और लो गद्य-पद्य, तुकान्त-अतुकान्त सभी कुछ, परन्तु वास्तव में कुछ नहीं।"

ऐसी स्थिति में यहाँ काव्य के किसी एक रूप को खोजना तो व्यर्थ है क्योंकि यहाँ अनेक शैलियों का मिश्रण है। गद्य-पद्य दोनों का मेल देखकर इसे चम्पू-काव्य कह देना उचित नहीं है क्योंकि इसमें चम्पू की शैली का अनुकरण नहीं है। चम्पू का कथा-सूत्र गद्य में चलता है। बीच-बीच में पद्यों के ग्रन्थन से भावों की अभिव्यक्ति करके प्रभाव प्रेषित किये जाते हैं। इस प्रकार 'चम्पू' के गद्य-पद्य में विशेष सम्बन्ध रहना अनिवार्य है। 'यशोधरा' में इस सम्बन्ध की ओर बिलकुल ध्यान नहीं रखा गया। अतएव उसे चम्पू की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। किसी पूर्व-निश्चित नाम के अभाव में उसे 'मिश्र-काव्य' कहना ही समीचीन होगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि यशोधरा एक एकार्थ काव्य है। त्याग और तितिक्षा इसके मूल आदर्श हैं। कवि का लक्ष्य 'विवश-त्याग' को सहिष्णुता में होकर 'स्ववश-त्याग' तक ले जाना है। इसी कारण वह सिद्धार्थ के 'गृह-त्याग' की घटना को यशोधरा के उस परम त्याग तक ले पहुँचा है, जहाँ वह पति-धर्म के लिए अपना और अपने पुत्र तक का समर्पण कर देती है। घटना के इस

परिणाम में प्रबन्ध-कल्पना का मूल उद्देश्य संनिहित है। अन्तिम दृश्य में 'शम' भाव का दर्शन होता है, जहाँ त्याग नायिका को धर्म की शरण में ले पहुँचता है। कवि की दृष्टि में मानव-जीवन की शान्ति करुण-क्रन्दनपूर्ण मोह में नहीं, त्याग में है।

प्रबन्ध-निर्वाह

गीत-शैली के संनिवेश के कारण कहीं-कहीं प्रबन्ध की असफलता का भ्रम होने लगता है। कुछ हद तक यह भ्रम उचित भी है क्योंकि गीत का मुक्तकत्व प्रबन्धत्व का बाधक है, परन्तु गीतों का प्रयोग रसानुभाव कराने के लिए है। गीतों में भाव-सामग्री इतनी प्रचुर है कि इतिवृत्त अन्तःसलिला की भाँति वहता है। भावों में इतिवृत्त के दब जाने से पूर्वोक्त भ्रम स्वाभाविक है। नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों में सम्बन्ध-शृंखला ढीली पड़कर भी टूट नहीं पाती। हृदयस्पर्शी भावों की गहनता एवं गंभीरता में भी स्वाभाविक क्रम संस्कार बना चलता है। घटना के सहयोग के लिए ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिम्बवत् चित्रण है जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरंगें उठाने में समर्थ है, इसलिए घटना संकोच से उत्पन्न होने वाले अभाव की पूर्ति भाव-गहनता से हो जाती है। परिस्थितियों के अनुरूप भावों ने रचना के प्रबन्धत्व की बड़ी रक्षा की है। कुछ स्थलों पर इतिवृत्तात्मक सूक्ष्मता होते हुए भी उन परिस्थितियों का परिज्ञान हो जाता है जिनके बीच में स्थित पात्रों के हृदय की अवस्था का अनुमान पाठक अपनी सहृदयता के अनुसार कर सकते हैं।

यह तो माना जा सकता है कि कथा-प्रवाह में मन्थरता है और वह मर्म-स्पर्शी स्थलों में पहुँचकर और भी बढ़ जाती है, परन्तु उन स्थलों में इतनी मार्मिक तीव्रता और पकड़ है कि पाठक ऊबने नहीं पाते। हम जानते हैं कि कथा में वह प्रवाह नहीं जो रामचरितमानस में है, किन्तु रामचन्द्रिका की भाँति वह खंडित भी नहीं हुआ। 'यशोधरा' में बड़े-बड़े विराम दीख पड़ते हैं पर विवरण का लोप नहीं हुआ।

सुनकर ऐसी धारणा बन सकती है कि गीत और नाटक के समावेश से यशोधरा के प्रबन्धत्व को भारी क्षति पहुँची है, किन्तु पढ़ने पर इस भ्रम का निवारण हो जाता है। कवि-प्रतिभा ने अनेक शैलियों का मिलन ऐसी चतुरता से कराया है कि वह खटकता नहीं है। श्रोता के मस्तिष्क पर बना हुआ कथा का संस्कार पात्रों की नामावली के साथ भी अक्षत एवं अक्षुण्ण ही रहता है। कथोपकथन के कारण सम्बन्ध निर्वाह में विशेष विक्षेप उत्पन्न नहीं होता। सच पूछिये तो सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्राण कथोपकथन ही है। वही कथा का वाहन है और वही भाव-व्यंजना का भी। कथा-कलेवर की वृद्धि और भावों में उत्कर्ष

का संनिवेश कथोपकथन और गीतों द्वारा ही हुआ है। गीतों की निजी विशेषता के कारण वस्तु-वर्णन भाव-वर्णन में विलीन हो गया है और गीतों की भाव-परकता और कथोपकथनों की प्रलंबता के कारण कथा-भाग कहीं-कहीं शिथिल भी दीख रहा है, परन्तु रस-सामग्री गठीली होने के कारण उससे लक्ष्य बाधित नहीं जान पड़ता।

सामान्य परिचय

सच है कि पाठक की जिज्ञासा-वृत्ति की तुष्टि के लिए यहाँ पर्याप्त सामग्री नहीं है परन्तु हृदय की वृत्तियों के लीन करने के लिए रसात्मक परिस्थितियों का अभाव भी नहीं है। इस छोटे से इतिवृत्त को कवि ने जिस कौशल से प्रस्तुत किया है उससे हृदय के भिन्न-भिन्न भावों का सामान्य अनुभव प्रत्येक पाठक स्वभावतः कर सकता है। निस्सन्देह कुछ भावों का चित्रण ऐसे विवरण लेकर हुआ है कि वे कथा के लिए अनावश्यक प्रतीत होते हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध भी रागात्मिका वृत्ति से होने के कारण भावोत्कर्ष बाधित होता। दृश्यों के साथ भावों का सम्बन्ध स्थापित करके उनसे माधुर्य के व्यक्तीकरण की सहृदयता गुप्तजी का एक विशेष गुण है।

यहाँ गीतों का प्रादुर्भाव गद्य और पद्य दोनों में हुआ है। अन्तर्वृत्ति का चित्रण जितना मधुर और प्रवाहमय पद्य में है, उतना ही गद्य में भी। छोटे-छोटे सरल शब्दों में भाव व्यंजना हुई है। उक्तियों में सतर्कता और पैनापन है। गुणों में प्रसाद की प्रमुखता है। वात्सल्य प्रेम में माधुर्य की बाढ़ आरही है। कवि का ध्यान प्रायः अभिधा शक्ति पर ही रहा है, तो भी क्रियाओं में कुछ स्थलों पर बड़ी सुन्दर व्यंजकता मिल जाती है। उपमान भावों के अनुकूल है। तुक की धुन में 'आय-जाय', 'पाय', 'खाय' आदि कुछ शब्दों का खड़ी बोली के विरुद्ध प्रयोग भी किया गया है। 'आयेंगे', 'धायेंगे', लायेंगे', आदि शब्द भी इसी प्रकार प्रयुक्त हुए हैं। महाभिनिष्क्रमण में कवि ने तुक की ही धुन में जोड़े वाले शब्दों जैसे, घूम-घाम, टीम-टाम, धरणि-धाम, झूम-झाम, क्षीण-क्षाम, धूम-धाम, रोक-टोक, ठौर-ठाम आदि का प्रयोग भी बड़ी उदारता से किया है।

रस-निर्वाह

सिद्धार्थ के निर्वेद से प्रबन्ध का प्रारम्भ होता है। संसार-चक्र का अविरल भ्रमण उन्हें विस्मित कर देता है। वे सोचते हैं :—

वह नवनीत कहाँ जाता है,
रह जाता है तक्र।

अनादिकाल से वह चक्र जीवों को पीसता चला आरहा है, यह देखकर वे अपनी रक्षा के लिए व्याकुल हो उठते हैं :—

कैसे परित्राण हम पावें।

उनकी कुछ और आँखें खुलती हैं और यह दृश्य धोखे की टट्टी प्रतीत होने लगता है :—

रिक्तमात्र है क्या सब भीतर, बाहर भरा-भरा ?

× × ×

भीतर भीषण कंकाल मात्र,
बाहर-बाहर है टीम-टाम।

जब उन्हें जगत् में सर्वत्र दुख, भय, व्यर्थता आदि स्पष्ट दीखने लगते हैं और कर्मकाण्ड में ताण्डवता परिलक्षित होने लगती है तो वे कल्याण का मार्ग खोजने का निश्चय कर लेते हैं—

मै त्रिविध-दु:ख-विनिवृत्ति-हेतु
बाँधू अपना पुरुषार्थ-सेतु ;
सर्वत्र उड़े कल्याण-केतु,
तब है मेरा सिद्धार्थ नाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

इस प्रकार वे अपने शरीर और सभी लौकिक पदार्थों का तिरस्कार करके सर्वभूत दया को साथ लेकर, विरक्ति के आश्रय से निर्वाण के अनुसंधान के हेतु प्रयाण कर देते हैं। यही शान्त रस का उदय है। यहाँ शम स्थायी भाव है, सांसारिक सुख तथा देह की क्षणभंगुरता आदि विभाव हैं, आत्म-गर्हणा और सर्वभूत दया अनुभाव हैं, और चिन्ता, मति, धृति और स्मृति संचारी भाव इसके परिपोषक हैं।

इधर तो शान्त का उदय होता है, उधर यशोधरा का विलाप* शृंगार को जन्म दे देता है। विप्रलम्भ शृंगार के लिए कवि द्वारा प्रचुर सामग्री की आयोजना सराहनीय है। प्रारम्भ में प्रवास-विप्रलम्भ दीखता है; परन्तु शुद्धोदन को यशोधरा का यह उत्तर—

तात, सोचो, क्या गये वे इसी अर्थ हैं ?
खोज हम लावें उन्हें, क्या वे असमर्थ हैं ?

---

*सखि, वे कहाँ गये हैं ?
मेरा बायाँ नयन फड़कता है।
पर मैं कैसे मानूं ?
देख, यहाँ यह हृदय धड़कता है।

मान-विप्रलम्भ की स्थिति उपस्थित कर देता है। यशोधरा के मान का परिचय शुद्धोदन के इन शब्दों में मिल जाता है—

गोपे यह गर्व और मान क्या उचित है ?

महाप्रजावती के इन शब्दों से हमारी धारणा और भी दृढ़ हो जाती है—

गोपे, हम अबलाजनों के लिए इतना
तेज-नहीं, दर्प-नहीं, साहस क्या ठीक है ?

यशोधरा के मूर्च्छित हो जाने पर महाप्रजावती के ये शब्द भी इस सम्बन्ध में बड़े महत्त्व के हैं—

मूर्छित है हाय ! मेरी मानिनी यशोधरा

यशोधरा के मान की उत्पत्ति सिद्धार्थ के उससे छिपकर जाने के कारण हुई है—

सिद्धि-हेतु स्वामी गये यह गौरव की बात;
पर चोरी-चोरी गये यही बड़ा व्याघात ।।

सिद्धार्थ की इच्छा का अनुसरण यशोधरा का प्रिय था, फिर भी उनका उससे बिना कहे चला जाना उसे बहुत खटका है—

मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते ।
सखि, वे मुझ से कहकर जाते ।।

गोपा के मान की स्थिति कुछ और भी स्पष्ट हो जाती है, जबकि हम उससे यह सुनते हैं—

तुच्छ न समझो मुझको नाथ,
अमृत तुम्हारी अंजलि में तो भाजन मेरे हाथ ।

और भी, (जब वह सुनती है कि बुद्धदेव आरहे हैं)

रे मन, आज परीक्षा तेरी ।
विनती करती हूँ मैं तुझ से,
बात न बिगड़े मेरी ।।
× × ×
उद्धारक चाहें तो आवें,
रहे यहीं यह चेरी ।
रे मन आज परीक्षा तेरी ।।

बुद्ध के आने पर राहुल की उक्ति से यशोधरा का गर्व पूर्णरूप से सिद्ध हो जाता है—

"ले अब तो रह गई गर्विणी गोपा की वह लाज ।"

अनेक उक्तियों से मान-विप्रलम्भ की सिद्धि हो जाने पर भी प्रवास की स्थिति संस्कार रूप में बनी रहती है।

वियोग का अन्त संयोग से होता है। वेदना विलीन हो जाती है और गोपा के अधरों पर संयोग-सहचरी मुस्कान आ खेलती है—

इन अधरों के भाग्य जगाऊँ।
उन गुल्फों की मुहर लगाऊँ !
गई वेदना अब क्या गाऊँ ?
मग्न हुई मुस्कान।
पधारो, भव-भव के भगवान् !

परन्तु संयोग में दाम्पत्य-रति का नाम भी नहीं है। संयोग योग की वह शान्ति देने आता है, जहाँ नायिका भोगों को भगा देती है --

कृतकृत्य हुई गोपा,
पाया यह योग, भोग अब जा तू।

धर्म-दीक्षा 'शम' की साधिका है। पूज्य पिता के साथ परम्परा की कड़ी निर्मित करने के लिए गोपा का राहुल को निर्देश तथा राहुल का इन शब्दों से—

बुद्धं शरणं गच्छामि,
धर्म शरणं गच्छामि,
संघं शरणं गच्छामि।

बुद्ध-धर्म में दीक्षित होना 'शम' भाव का पोषक है। प्रबन्ध के अन्त में नायिका स्वयं धर्म-दीक्षा ग्रहण करके 'शम' भाव का परिचय देती है।

शृंगार के बीच-बीच में वात्सलय का पुट बड़ी सुन्दरता से किया गया है। उससे 'विप्रलम्भ' के उत्कर्ष में बड़ी सहायता मिलती है, परन्तु कुछ भावों का प्रस्तुतीकरण इस ढंग से हुआ है कि 'रति' विरति में बदलने लगती है। मिलन की उत्कण्ठा विरहिणी के स्वभाव का मुख्य अंग है; नायिका के मन में इस भाव की स्थिति कभी-कभी बड़ी गहरी हो जाती है। जगत् के प्रति गोपा की अन्यमनस्कता, विरहिणी प्रकृति के प्रति सहृदयता, प्रियतम की सिद्धि के लिए मनौती मनाना आदि भावों से रति-भाव को सहयोग मिलता है। जिस शान्त का उदय विप्रलम्भ में नितान्त दब जाता है, वही विरहान्त में फिर दीख पड़ता है। संयोग की अवस्था रति-भाव की पोषक न होकर शम-भाव के ही अधिक अनुकूल प्रतीत होती है। अतएव रस सामग्री का प्राचुर्य होते हुए भी रस-निर्वाह में औचित्य नहीं दीख पड़ता। शृंगार की व्यापकता स्पष्ट है परन्तु संयोग के कारण विप्रलम्भ का अन्त बिगड़-सा गया है और विप्रलम्भ की परिस्थितियाँ शम-भाव के विरुद्ध होने से शान्त रस की सिद्धि नहीं कर पायीं। अतः हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि रस का निर्वाह सफल नहीं है।

भाव-व्यंजना

फुटकल भावों की व्यंजना में कवि को बड़ी सफलता मिली है। सभी भाव पात्रों द्वारा व्यक्त किये गये हैं। रति, शिशु-प्रेम और शम की ओर ही कवि का ध्यान रहा है। वात्सल्य के बीच में क्षीण हास्य की झलक भी मिलती है। अन्य भावों का प्रदर्शन किसी पात्र द्वारा नहीं किया गया। भाव का उत्कर्ष साधने के लिए सामग्री का भारी आरोप किया गया है। अनुभावों की योजना बहुत कम है। वियोग में अश्रु और उत्कण्ठा का बाहुल्य है। हावों का भी कोई विधान नहीं दीख पड़ता। विभावों के साथ बड़ी सहृदयता से काम लिया गया है। उद्दीपनों* के उपयोग में कवि ने अपनी कला और भावुकता का सुन्दर परिचय दिया है। कवि की दृष्टि गूढ़ मानसिक विकारों तक न पहुँचकर भावोत्कर्ष की ही ओर लगी रही है। विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत भी, जहाँ भाव-सामग्री की गहनता है, मानव-प्रकृति का सूक्ष्म अध्ययन नहीं मिलता। नारी-जीवन† के प्रति कवि संवेदनशील है। उद्दीपन के रूप में प्रकृति‡ का वर्णन पारम्परिक रीति से हुआ है। कदाचित् वात्सल्य की प्रेरणा सूर से मिली है। व्यक्तीकरण नवीन है, परन्तु यहाँ सूक्ष्म मानसिक अवस्थाओं का वैसा विश्लेषण नहीं है। छन्दक सुमन्त्र का प्रतिबिम्ब-सा दीख पड़ता है। तत्त्वों का निरूपण, शकुन में आस्था, प्रदीपदान-प्रथा, भक्ति में निष्कामता आदि बातें कवि के सांस्कृतिक आग्रह की परिचायक हैं। गुप्तजी का देश-प्रेम प्रायः उनके सब ग्रन्थों में छलकता है। यहाँ भी मंगलाचरण में उसका सूक्ष्म रूप मिल जाता है—

इसी देश में हमें जन्म दो,
लो, प्रणाम हे नीरजनाभ।

---

* नायिका को अपने ही केश भयंकर दीख पड़ते हैं, वह उद्दीपन की विशेषता है—

डसें न हाय ! मुझे एड़ी तक, विस्तृत ये विकराल।

† मानों तुलसीदासजी की नारी विषयक भावना-त्रुटि को निकाल कर गुप्तजी ने वर्तमान समाज के विचारों को व्यक्त किया है।

‡ कोकिल, लता, कुंज-कुटीर, सुगन्ध समीर, दाडिम, चातक आदि निकटतम भावों के प्रकाशन में बड़े सहायक हैं।

२३

प्रियप्रवास का कवि

अयोध्यासिंह उपाध्याय उन कवियों में से हैं जिन्होंने प्राचीन कथाओं के आधार पर अपने काव्य की सृष्टि की किन्तु रूढ़ मान्यताओं में क्रान्ति लाने की चेष्टा की। वे आदर्शवादी कवि हैं। काव्य में उनके सामने एक नैतिक और सामाजिक आदर्श रहा है, इसलिए स्थान-स्थान पर भावुकता की प्रतिष्ठा होते हुए भी बुद्धि-विलास ही प्रधान दिखायी पड़ता है। यह कहना कदाचित् असंगत नहीं है कि जहाँ वे नैतिक आदर्शों को लेकर काव्य में उतरे हैं वहाँ काव्य न केवल शिथिल होगया है, अपितु फीका भी पड़ गया है।

हरिऔध के आदर्शों में एक विशेषता यह है कि उन्होंने काव्य के माध्यम से एक मत प्रस्तुत किया है और एक नये मार्ग की ओर संकेत किया है और वह है प्राचीन रूढ़ मूल्यों की नयी व्यवस्था। वे समाज को सामने रख कर व्यक्ति के मूल्य को उसके सम्बन्ध से आँकते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वे समाज के सामने एक विशिष्ट कार्यक्रम या नियत पथ का प्रदर्शन कर रहे हैं। ऐसे स्थलों पर कवि में उपदेशक प्रविष्ट होकर काव्य के मर्म को स्खलित कर देता है।

इसमें सन्देह नहीं कि कवि अपनी कविता में समाज की अभिव्यक्ति करता है और समाज के गुण-दोषों को सामने रखकर किसी विशेष दिशा और मार्ग की ओर इंगित करता है, किन्तु जब तक इंगित उपदेश का स्थान नहीं लेता तभी तक काव्यत्व रक्षित रहता है। इंगित पात्रों में होकर उनके क्रिया-कलापों में से ऊषा की किरणों की भाँति प्रस्फुरित होता है और कवि पाठकों के सामने नहीं आता। इंगितों से केवल ध्वनियाँ निकलती हैं और उनको पाठक या श्रोता अपनी ग्रहण-शक्ति के अनुरूप उपलब्ध करता है, बिलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि बजाने वाले के कौशल के अनुरूप रुपये के सिक्के में से ध्वनि निकल

पड़ती है। इंगित में लक्षणा और व्यंजनाशक्ति की भूमिका होती है और उपदेश केवल अभिधा पर आधारित होता है। इससे उपदेश चाहे कितने ही ऊँचे दर्जे के क्यों न हों वे काव्य की कोटि में नहीं रखे जा सकते। काव्य की भाव-तीव्रता और प्रभविष्णुता को उपदेश कुंठित कर देते हैं।

हरिऔध ने अपने उपदेशों को नये ढग से प्रस्तुत करने की कला प्रदर्शित की है—वे उनको किसी पात्र के मुख में रखकर उपदेशकत्व के लांछन से काव्य को मुक्त करना चाहते हैं, किन्तु उपदेशो की प्रलंबता कवि को उपदेशक के दायित्व से विलग नहीं होने देती। परिणामतः कथानक की गति पंगुता से व्याहत होजाती है। उपदेशों की व्यस्ततता से प्रबन्ध-प्रवाह बाधित और अनुभूतियों की सहजाभिव्यंजना शिथिल होजाती है। अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति और भावों का रँगीला पुट, जिनसे काव्य को आस्वाद्यता प्राप्त होती है, उपदेशों में उलझकर अपना गुण खो बैठते है। हरिऔध की राधा आदर्श के भार से दबकर जब कृष्ण के कर्तव्य की मीमांसा करती है तो वह अपने लंबे व्याख्यानों में पाठक के सामने मानों कवि को घसीट लाती है। अतएव कवि की सतर्कता असफल ही रहती है।

प्रियप्रवास का कवि अनेक स्थानों पर दार्शनिक भी हो जाता है यों तो कविता और दर्शन साथ-साथ रह सकते है, किन्तु दर्शन कविता का सहयोगी होकर ही अपनी स्थिति की उपयोगिता एवं सार्थकता सिद्ध कर सकता है। जहाँ वह प्रधान बन जाता है वहाँ कविता उसकी भार-वाहिनी होकर नीरस और वन्ध्या हो जाती है। प्रियप्रवास का कवि दार्शनिकता की लालसा से पीड़ित दीख पड़ता है। प्रणय और मोह के निरूपण-जैसे अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें इस लालसा ने कवि को काव्य की सीमाओं से बहिष्कृत करके दार्शनिक व्याख्याओं के चक्र में डाल दिया है। भावों में न केवल शुष्कप्रायता ही आगयी है, वरन् वे विच्छृंखल भी होगये है। अपने वास्तविक मूल्य को खोकर भाव दर्शन से पीड़ित दीख पड़ते हैं और ऐसा लगता है कि प्रियप्रवास का कवि दर्शन के मोह का संवरण नहीं कर सका। दर्शन की प्रदर्शनी में कवि भावों से तादात्म्य स्थापित नहीं कर सका है, ऐसे स्थलों पर प्रेम-लावण्य एवं माधुर्य नष्ट होगया है। कवि के साथ-साथ पाठक या श्रोता को मानसिक व्यायाम करने के लिए बाध्य होना पड़ता है—बाध्य इसलिए होना पड़ता है कि उसमें कुछ माधुर्य भी तो है। मधुर स्थलों का लाभ ही पाठक को इन स्थलों में होकर जाने के लिए विवश करता है, अन्यथा रसिकता का कोई आग्रह ऐसे क्षेत्रों के पर्यटन के लिए प्रेरणा नहीं देता। यह समझ में नहीं आता कि ऐसे स्थल कवि ने स्वान्तःसुखाय लिखे हैं अथवा पर-सुखाय, फिर भी यह कहना

अनुचित न होगा कि जिस प्रयास ने केशव के कवित्व को बाधित किया था उसी ने प्रियप्रवास के कवि को अनेक काव्य-कुण्ठाओं के लिए ज़िम्मेदार बनाया है। कथानक के प्रसंगों में व्याख्यात्मक नवीनता लाने की आकांक्षा, कहीं कहीं अति बलवती आकांक्षा, ने कवित्व को गौरव देने की अपेक्षा बौद्धिक आयासों से विनष्ट-सा कर दिया है। इसी से रस-निष्पत्ति सहज रूप में नहीं होपाती।

नवधा भक्ति को हरिऔध ने नयी व्याख्याओं से जो नये मूल्य प्रदान किये हैं उनमें एक बौद्धिक आग्रह है। चाहे वे हृदयग्राही हों या न हों सामाजिकों की बुद्धि चाहे उनका साथ दे या न दे और तर्क के निकष पर चाहे वे चढ़ सकें या न चढ़ सकें, किन्तु नूतनता के पुट का आग्रह तो कवि की भावना का पीछा कर ही रहा है। उसका परिणाम प्रबन्ध-शैथिल्य में व्यक्त हुआ है। कदाचित् कवि के सामने यह भी एक समस्या थी कि उस रचना को, जिसकी पृष्ठिभूमि में एक छोटा-सा कथानक है, जिसको हिन्दी के कवि भ्रमरगीत की परिधि से आगे न लेजा सके और जिसको रत्नाकर भी 'उद्धव शतक' से आगे न बढ़ा सके, वह महाकाव्य बनाने जारहा था। वह घनाक्षरी या पदमात्र से सन्तोष करने वाला नहीं था। खड़ी बोली के अभ्युदय में उसे अपने नाम की मुद्रा लगाने की भी उत्कंठा थी। इसीलिए संस्कृत के छन्द चुनकर खड़ी बोली काव्य में एक नयी शैली के प्रचलन का श्रेय प्राप्त किया, और यही कारण था कि हरिऔध सूक्ष्म, मधुर और .कोमल चित्तवृत्तियों को प्रेम के साथ संयुक्त न करके स्वयं विवेचनाओं में घुस गये।

महाकाव्य की आवश्यकताओं का ध्यान हरिऔध की भावनाओं को निरंतर पीड़ित और कुंठित करता रहा। उनकी यह अवचेतना उनके भावों को दबा कर सदैव व्यक्त होने के लिए उदग्र रही। फलतः प्रियप्रवास में जीवन के मार्मिक तत्त्वों का विनिपात होता गया। काव्याचार्यों के निर्दिष्ट मार्ग का अनुगमन करते हुए हरिऔध ने नियत आवश्यकताओं की पूर्ति की। कथानक, पात्र, सर्ग, छन्द, अलंकार, वर्णन, रस आदि सभी दृष्टियों से प्रियप्रवास के कवि ने उसे महाकाव्य बनाने का उपक्रम किया। उन्होंने मंगलाचरण को काव्य में स्थान न देकर एक नूतन पद-प्रक्षेप प्रदर्शित किया। कथानक के क्षेत्र को उन्होने वर्णनों से विस्तीर्ण करने का प्रयत्न तो किया, किन्तु वर्णनों के योग से वे उसे महाकाव्य बनाने में सफल हुए या असफल, यह अभी देखना है।

प्रियप्रवास का कथानक पुराण-प्रसिद्ध है। अनेक पुराणों में इसके कथानक ने एक ही प्रकार से रूप प्राप्त किया है। इस कथानक को लेकर हिन्दी में अनेक रचनाएँ हुई हैं। इस सम्बन्ध की प्रसिद्ध रचनाएँ भक्तिकाल में हुईं। कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों में सबसे अधिक गौरव अष्टछाप के कवियों को मिला। कुछ रचानाएँ रीतिकाल में भी हुईं, किन्तु उनके रूप की सीमाएँ मुक्तक और

खण्ड काव्यों से ही बनती रहीं। इस कथानक को लेकर महाकवि होने का श्रेय किसी को न मिला। अष्टछाप के कवियों ने या तो इस दृष्टि से इस कथानक को देखा नहीं या वे पदों के मुक्तक-क्षेत्र से बाहर जाने के लिए लालायित नहीं थे।

जो हो, हरिऔध ने इस प्रसंग को महाकाव्य का रूप देने का अपूर्व प्रयत्न किया, वे कितने सफल हुए यह दूसरी बात है। उन्होंने महाकाव्य के लिए प्रसंग चुने, वर्णन प्रस्तुत किये और अपनी ओर से सब प्रकार की सामग्री जुटायी, किन्तु वर्णनों की दीर्घता से प्रबन्ध की अविरलता और नैतिक एवं दार्शनिक मोह से प्रसंगों की मार्मिकता विगलित होगयी। कवि घटनाओं को सहज रूप में जोड़ने में भी सफल न हो सका। जीवन के प्रश्न को उठाकर उसने उत्तर कहीं दूर जाकर ही दिया।

जिस प्रकार हम केशव को अच्छा वर्णन-कवि कह सकते हैं उसी प्रकार हरिऔध को भी। ऋतु, वाटिका, सरोवर, कुंज, सरिता, कूल, पर्वत, सभा आदि के वर्णनों में कवि ने बड़ा कौशल प्रकट किया है, किन्तु कलाकार को जोड़-तोड़ की जो शक्ति चाहिये या उसे संघटन-विघटन की जिन परिस्थितियों का उपयोग करना पड़ता है, हरिऔध के प्रियप्रवास में उनका अभाव है।

प्रबन्ध-प्रसार और वस्तु-विन्यास की दृष्टि से साकेत और प्रियप्रवास में बहुत कुछ साम्य है। दोनों में वर्णन का बल है, किन्तु उनकी दीर्घता ने कथानक को शिथिल और प्रवाह को अति मन्द कर दिया है। एक में गण-पूर्ति का मोह है और दूसरे में तुक-पूर्ति का आग्रह जो कहीं-कहीं तो उपहास्यता की सीमा तक पहुँच गया है। दोनों में प्रयोग की नयी दिशा ग्रहण की गयी है।

प्रियप्रवास की भाषा संस्कृत गर्भित खड़ी बोली है, किन्तु फारसी और तद्भव शब्दों की छटा भी कहीं-कहीं बड़ी मनोहर है। वैसे तो तत्सम शब्दों की सभा अपनी छन्द-माधुरी में बड़ी आकर्षक प्रतीत होती है। प्रियप्रवास में ऐसे स्थल भी मिल ही जाते हैं जहाँ केवल एक संस्कृत क्रिया जोड़ देने से पूर्ण छन्द संस्कृत भाषा का वेश धारण कर लेता है और ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं है जहाँ 'यक' जैसे शब्दों के प्रयोग से तत्सम शब्दों की सभा को अटपटा-सा बना दिया गया है। यह ठीक है कि ऐसे विरल प्रयोग केवल गणाग्रह से हुए हैं, फिर भी वे न केवल अपने अप्रचलन के कारण खटकते हैं, अपितु तत्समों के बीच में प्रकट होकर शब्दकोष के सम्बन्ध में कवि का दिवालियापन भी घोषित करते हैं, और यह कहा जा सकता है कि ऐसे शब्दों की आड़ में ही महाकवि की कुण्ठा का रहस्य निहित है।

यह प्रकट है कि हरिऔध ने प्रियप्रवास में संस्कृत के वर्णिक छन्दों का प्रयोग किया है और उनके गणों को पूरा करने के निमित्त ही उन्होंने भाषा के

सद्गुणों का भी बलिदान कर दिया है। ब्रजभाषा और फारसी के प्रयोग तत्समों के बीच इसी कारण आये है। कदाचित् इस स्थिति को कवि चाहता नहीं था, किन्तु यह उसकी विवशता का परिणाम और दुर्बलता की सिद्धि है। प्रियप्रवास के सभी छन्द वर्णिक है। 'वंशस्थ' का सुरीला स्वर, 'मन्दाक्रान्ता' की मन्दगति, 'शार्दूल विक्रीडित' का वैभव, 'शिखरिणी' का माधुर्य, 'वसन्ततिलका' का सौन्दर्य और 'मालती' का विकास—ये सभी प्रियप्रवास की छन्द-परम्परा को विभूषित करते हैं। इनके अतिरिक्त इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा आदि छन्दों ने भी कवि को मुग्ध किया है। निःसन्देह इन छन्दों में एक अपना आकर्षण है जो हरिऔध की लेखनी से खड़ी बोली के युग को एक नयी देन है।

हरिऔध से पूर्व हिन्दी-छन्द-लोक रीतिकाल के आलोक-पुंज से अभिभूत था। खड़ी बोली ने कुछ नये छन्दों को जन्म दे दिया था। कोई ऐसी आशा नहीं कर सकता था कि एक आधुनिककालीन हिन्दी कवि चिरप्रतिष्ठित छन्द-परम्परा को छोड़कर नवीनता की दृष्टि से संस्कृत की शरण लेगा। इसके लिए क्षमता और साहस, दोनों की आवश्यकता थी।

'प्रियप्रवास' के आधार-ग्रन्थों में भक्ति-गर्भित शृंगार का ही बोलबाला है। वहाँ विप्रलम्भ शृंगार में करुणाकृति भी मुखर हो उठी है, किन्तु प्रिय-प्रवास में शृंगार-गर्भित वीर है। यों तो वात्सल्य की धारा नय, प्रेम और उत्साह से उद्वेलित है, किन्तु इसकी नायिका राधा और नायक कृष्ण हैं। कवि ने एक पृथक् रूप से राधा को जो प्रधानता प्रदान की है उससे भी वह नायिका के पद पर स्वतः ही प्रतिष्ठित हो जाती है। राधा की रति का अव-सान उसके धैर्य और साहस में होने से वीररस प्रधान हो गया है। कर्तव्य-परायणता ने राधा और कृष्ण के बीच जिस उत्साह की प्रतिष्ठा की है, उसी ने वीररस की मधुरोर्मियाँ उल्लसित की हैं।

प्रियप्रवास का वातावरण प्राचीन है। जिस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने प्राचीन में नवीन वर्ण मिलाकर एक नया रंग पैदा किया है उस प्रकार अयोध्यासिंह उपाध्याय ने कोई चेष्टा नहीं की। प्रियप्रवास की नवीनता, वाता-वरण में न होकर, चरित्रों के सामाजिक आदर्शों में है। कृष्ण के सम्पूर्ण काम वही है जिनका वर्णन हरिऔध के पूर्ववर्ती कवियों ने किया है या जो पुराणों में वर्णित हैं। व्रज के गोप-गोपांगनाओं के विलाप में भी कोई अन्तर नहीं है। कंस का आचरण भी वही है और कृष्ण का संदेश तथा वाहक भी वही है। राधा की वेदना भी वैसी ही है। अन्तर है तो केवल इतना कि अन्यत्र राधा नारी-स्वभावानुकूल अपनी विरह-वेदना के वेग को दबा नहीं पाती और यहाँ नैतिक आदर्शों को सामने खड़ा करके उस वेग का दमन प्रदर्शित किया जाता

है। वेदना पाठक के सामने आये बिना नहीं रहती, किन्तु आदर्श से उसे दबाने की चेष्टा तो की ही जाती है। स्वभाव और आदर्श के योग से जिस मनोदशा की सृष्टि यहाँ की गयी है उसमें संघर्ष का रूप अवश्य मिलता है, किन्तु उसमें कृत्रिमता का आभास मिलता है।

चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में हरिऔध ने कौशल दिखलाने का प्रयत्न किया है। कृष्ण को नायक रूप में प्रस्तुत करके एक समाज-नेता के समस्त गुण उसमें भर दिये है। प्रियप्रवास के कृष्ण पुराणों या भक्तों के लीलाधर नही है और न राधा ही कोरी प्रेमिका है। वे दोनों संयोग के सुख को कर्तव्य की वेदी पर बलिदान कर देते हैं। विरह की घोर वेदना को सहकर भी वे कर्तव्य की रक्षा करते दिखायी देते हैं, यह ठीक है कि राधा की सहिष्णुता में कृत्रिमता की कुछ गंध अवश्य आती है। जो राधा और कृष्ण भक्ति काव्य में लीला-लोक के विलासी थे वे रीतिकाल में लोक-प्रेम-विद्या या सामान्य नायक-नायिका के रूप में उतार लिये जाते है। सच तो यह है कि कृष्ण-कवियों ने गोपी-कृष्ण के चरित्र को चाहे भक्ति के कितने ही ऊँचे दृष्टिकोण से चित्रित किया हो, किन्तु उसमें समाज को उठाने के स्थान पर गिराने की प्रवृत्ति ही दिखायी पड़ती है। गोपी-कृष्ण के सम्बन्ध के परिणाम स्वरूप भारतीय समाज में जिन-जिन बुराइयों का आविर्भाव हुआ, इतिहास के विद्यार्थियों से वे छिपी नहीं हैं।

इससे राधा और कृष्ण के नाम पर पक्का धब्बा लगा और हिन्दू-संस्कृति लांछित हुई है। विदेशियों ने ही नही, यहाँ के बहुत से लोगों ने भी भक्ति के मूल्य को भुलाकर उनके चरित्र को ही सामने रखकर देखा है। आधुनिक बुद्धिवादी युग भक्ति-काव्य में वर्णित लीलाओं को अलौकिक मानने के लिए तैयार नहीं था और उसके परिणामस्वरूप समाज में जिस पतन की प्रवृत्ति ने अपना घर बनाया उस पर भी आधुनिकों की दृष्टि गयी। रीतिकालीन कवि राधा और कृष्ण को सामान्य प्रिया-प्रेमी के पद पर तो ले आये, किन्तु उनकी जिन चेष्टाओं का चित्रण अपने मुक्तकों में उन्होंने किया, वह अवतार के नाम को सुशोभित करने वाला कदापि नहीं था। राधा-कृष्ण की विलास-चेष्टाओं में कोई पाठक बुद्धिवादी अलौकिकता नहीं देख सकता। इसी दृष्टिकोण को लेकर हरिऔध ने प्राचीन कथानक को अपने रंग से रँगा। उनकी आदर्शमयी प्रवृत्ति प्रबल हुई और कवित्व का सहयोग पाकर कृष्ण और राधा को लोक-नायक और लोक-नेत्री के गुणों से विभूषित कर दिया। वे प्रेम और आदर्श को इतना निकट ले आये कि प्रेम अभिभूत हो गया और उसने आदर्श के लिए अपना बलिदान कर दिया। इस प्रकार कृष्ण-काव्य में आदर्शवाद प्रथित हुआ।

प्रियप्रवास के कुछ चरित्र, जिनमें राधा और कृष्ण प्रमुख हैं, नैतिक मूल्यों की ओर संकेत ही नहीं, उनकी शिक्षा देते हैं। आधुनिक परिस्थितियों में देश

को जैसे राधा और कृष्ण की आवश्यकता थी, हरिऔध ने उनको वैसा ही रूप प्रदान किया। नायक को जिस प्रकार के सहयोग की आवश्यकता है और जिस प्रकार का आचरण उसे करना चाहिये उसका एक आदर्श प्रियप्रवास में प्रस्तुत किया गया है। नायक की योग्यता और लोक-सहयोग स्वतन्त्रता की चेतना के क्षेत्र में प्रश्न थे, देश-हितके लिए जिनके उत्तर अपेक्षित थे। हरिऔध ने आदर्श के आलोक में इन प्रश्नों का उत्तर प्रियप्रवास के कलाकलित रूप में प्रस्तुत किया। यह कहना अनुचित न होगा कि उन्होंने साहित्यिकों को एक नयी दिशा की ओर निर्दिष्ट पथ दिया।

यदि हरिऔध प्रियप्रवास को महाकाव्य बनाने का प्रयत्न न करते और उसके लिए वे अनेक उपकरण जुटाकर उन्हें शिथिल बनाने का अवसर न देते तो एक खण्डकाव्य के रूप में प्रियप्रवास खड़ी बोली की एक अनूठी रचना होती, किन्तु महाकाव्य का मोह कवि को उस पथ पर ले गया जिस पर चलने के लिए पर्याप्त संबल नहीं था। यह ठीक है कि कवि एक महाकाव्य के लिए आवश्यक चरित्रों का विकास न कर सका और यह भी ठीक है कि उसने छंद और अलंकारों के बन्धन को न तोड़ा, किन्तु संस्कृत छन्दों में अतुकान्त कविता के विस्मृत पथ को दिखाकर उसने हिन्दी कवियों के लिए 'अतुकान्तवाद' का द्वार खोल दिया।

१४

जयशंकर प्रसाद

द्विवेदी-युग की हिन्दी कविता को नया मार्ग दिखाने वाले प्रथम कवि श्री जयशंकर प्रसाद थे। उनकी कविता अन्तरंग और बहिरंग की मौलिक सृष्टि के साथ आधुनिक युग को एक नयी देन है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो उसका और भी अधिक मूल्य है। उन्होंने सबसे पहले कविता के विषय को संकीर्णता से मुक्त करके विस्तीर्ण और उदार क्षेत्र प्रदान किया। कल्पना और सौन्दर्य के मौलिक स्पर्शों से आधुनिक हिन्दी कविता मानों सिहर उठी। द्विवेदी युग ने शृंगार को अस्पृश्य-सा घोषित कर दिया था और माधुर्य भाव कवि-हृदयों में घुट-घुटकर सिसक रहा था। कविता ने आकर्षण से मोक्ष लेने की घोषणा कर रखी थी। संकोच वृत्ति ने काव्य के गुणों का अपहरण कर लिया था। नारी-सौन्दर्य का निरूपण उपदेश-भावना से बोझिल था। दृष्टि-संकोच से सौन्दर्य ने परिमिति का पाणिग्रहण कर लिया था। रीति-काल के हाथों में विष बना हुआ प्रेम—शृंगार, शंका, और घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। किसी शोधक की आवश्यकता थी जो उसे अपने प्रयोगों से गुणकारी बना देता। युग के कवि मानों शोध-विधि से अपरिचित थे। उदात्तता, और स्वतन्त्रता के अभाव से द्विवेदीकालीन कविता की नारी कृत्रिम भावना से प्रच्छन्न थी। कविता जीवन के व्यापक तल से उतरकर प्रशंसा के संकीर्ण क्षेत्र में प्रविष्ट होने लगी थी। सच तो यह है कि हिन्दी काव्य-देश में कृत्रिम अपूर्णता का साम्राज्य था। संस्कृत और अंग्रेजी के सरस अनुवादों से भी कविता-कामिनी का उद्धार संभव नहीं था।

व्रजभाषा ने अभी शृंगार का मोह नहीं छोड़ा था। साथ ही कवि सम्मेलनों और मुशायरों में 'दाद' पाने वाली समस्यापूर्ति को ही व्रजभाषा अपना सब कुछ मान बैठी थी। वहाँ कविता को हाव-भावों, बाहरी मुद्राओं और स्थूल

इंगितों के हवाले कर दिया गया था। इस दृष्टि से आधुनिक काल के उर में रीतिकालीन ममता की कल्लोलिनी अब भी प्रवाहित थी। विषय, वर्णन और रस की दृष्टि से खड़ी बोली और ब्रजभाषा की कविता में जो खाई बन गयी थी वह जीवनग्राही स्वस्थ काव्य के लिए घातक थी। शृंगार के प्रति न तो खड़ी बोली की कठोरता ही चलने वाली थी, और न ब्रजभाषा की खोखली ममता। काव्य की दो धाराओं में पक्ष-संघर्ष चल रहा था। खड़ी बोली के नवीनता वादी कवि रसराज को पदभ्रष्ट करने पर तुले हुए थे। उन्होंने शृंगार को अस्पृश्य मान रखा था या उसको केवल उपदेश देने का साधन बना लिया था और ब्रजभाषा के प्राचीनतावादी कवियों ने शृंगार को कायिक वर्णनों से कसकर बाँध रखा था। इस द्वन्द्व से काव्य की निर्माण-शक्ति क्षीण हो रही थी। खड़ी बोली की कविता अपनी नवीनता के बल से सम्मानित होगयी। नयी कविता में नया उत्साह था, किन्तु जीवन की गहराई नहीं थी; उसका अमूर्त पक्ष उपेक्षित-सा था।

इसके अतिरिक्त द्विवेदी युग की एक और विशेषता थी, वह यह कि वह अभ्युदय-युग था। उस समय प्रचार और तर्क को बलिष्ठ बनाने के लिए गद्य को सम्मान दिया गया। आचार्य द्विवेदी और उनके समकालीन साहित्यिकों ने पद्य की ओर इतना ध्यान न देकर गद्य को ही आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया और उनका प्रयत्न सफल भी हुआ। गद्य-शैली प्रौढ़ और शक्तिमय बन गयी।

ऐसे वातावरण में हिन्दी कविता को एक नया पथ दिखाकर श्री जयशंकर प्रसाद ने उसकी दिशा को बदलने में सबसे पहला क़दम उठाया। श्रीधर पाठक और रत्नाकर जी काव्य-क्षेत्र में पहले से प्रवेश अवश्य कर चुके थे, परन्तु एक ने उस समय तक केवल अनुवादों में ही शक्ति व्यय की थी, और दूसरे ने पौराणिक कथानकों से अलंकारमयी रचनाएँ की थीं, जो भाषा-शैली की दृष्टि से रीतियुग के अधिक निकट थीं। उक्ति और रूपकों की नवीनता काव्य को नया प्रकाश तथा नयी दिशा प्रदान न कर सकी। प्रकृति का स्वतन्त्र और वास्तविक चित्रण तथा उसकी निजी सत्ता के प्रति आकर्षण, यह हिन्दी कविता को प्रसाद की अद्भुत देन है।

जीवन और साहित्य के सजग प्रहरी जयशंकर प्रसाद काव्य जगत् में एक नया आलोक, नयी चेतना और नयी अभिव्यंजना लेकर अवतीर्ण हुए। दृष्टिकोण और प्रयोग, इन दोनों के सम्बन्ध से हिन्दी कविता में उन्होंने एक नये युग को जन्म दिया। उनके काव्य की नवीनता में सजीवता का स्पन्दन और आराधना में भावना की सिद्धि है। मानवता को खंडित करने वाली अतिवादिता के दलदल में फँसी हुई आधुनिक हिन्दी-कविता को अपने सक्षम प्रयत्नों से मुक्ति देकर प्रसाद ने हमको नये युग की चेतना का सन्देश दिया है। अपनी संतुलित

गति से उन्होंने प्रगति को नयी दिशा, नया मार्ग और नया आश्वासन प्रदान किया है। 'चित्राधार' से 'कामायनी' तक फैली हुई उनकी कविता में जीवन-ज्योति और स्फूर्ति का अनूठा क्रम-विकास है। इस निर्माण में यथार्थ जीवन कणों का कुशल प्रयोग है। प्रसाद की दृष्टि प्रेम और सौन्दर्य की व्यापक सूक्ष्मता तक पहुँची है। उन्होंने छायावाद और रहस्यवाद की नूतन प्रवृत्तियों को मानवता का सहारा देकर उनमें आनन्दवाद का काव्यगत पथ निर्मित किया है और जीवन संघर्ष को बढ़ाने वाले भौतिक प्रगतिवाद को अन्तर्दर्शन की परिणति प्रदान की है।

निस्सन्देह प्रसाद का युग जागृति और चेतना का युग था। समाज नये प्रकाश को ग्रहण कर नये मार्ग का अनुसरण करने लग गया था, किन्तु प्राचीनता का अभी उन्मूलन नहीं हो पाया था। काव्य में भाषा और भाव दोनों की स्थिति डाँवाडोल थी। खड़ी बोली को ब्रजभाषा की चुनौती थी और भाव को द्विवेदी युग के सुधारवाद की।

प्रसाद ने प्रेम का परिष्कार करके उसे स्वस्थ, सबल और गौरवोज्ज्वल बनाया और उसे मानव जीवन का एक शाश्वत तत्त्व मानकर उसके कल्याण-मय रूप को दिखाने का अमोघ प्रयत्न किया। उन्होंने प्रेम और करुणा के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को प्रकट करके प्रेम की उदारता, व्यापकता और सूक्ष्मता की प्रतिष्ठा की और पुरुष से कहीं अधिक नारी के कोमल हृदय को प्रेम उपयुक्त वास-स्थली सिद्ध किया। उनकी रचनाओं में प्रेम का लोककरुणामय रूप ही विशेषतया विकसित हुआ है। प्रेम के द्वारा सिंचित उनकी लोकभावना अपना विस्तार प्राप्त करके स्थान-स्थान पर सामाजिकता और राष्ट्रीयता के उद्देश्यों को भी भली भाँति प्रदर्शित करती है।

नारी के सम्मान को पुनः प्रतिष्ठित करने में भी प्रसाद ने युगप्रवर्तक का काम किया। उन्होंने भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग से नारी के सम्मान की गवेषणा करके उसका अपने काव्य में प्रतिरूपण किया। युग की क्रान्तिमयी वाणी में प्रसाद ने नारी का स्वर सुना और हिन्दी कविता में शायद वह पहली बार प्रसाद की लेखनी में प्रतिध्वनित हुआ, और भूला हुआ मानव पश्चात्ताप से जलकर कहने लगा :—

> तुम भूल गए पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
> समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की॥

प्रसाद ने भौतिक अर्थवाद के उपचक्षुओं से देखने वाले आधुनिक पुरुष की दृष्टि को नया आलोक देकर उसे देहमात्र के सौन्दर्य से हटाकर चेतन-सौन्दर्य की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न किया और आधुनिक पुरुष की भूल को प्रकट करते हुए उन्होंने कहा :—

पर तुमने तो पाई सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र ।
सौन्दर्य जलधि से भर लाए केवल तुम अपना गरल पात्र ।।
तुम अति अबोध अपनी अपूर्णता को न स्वयं तुम समझ सके ।
परिणय जिसको पूरा करता उससे तुम अपने आप रुके ।।
कुछ मेरा हो यह राग भाव संकुचित पूर्णता है अजान ।
मानस जल निधि का क्षुद्र यान ।।

प्रसाद का करुणावृत प्रेम विश्व में फैला हुआ है । उनकी कविता में पतितों के प्रति करुणा का जो भाव क्रीड़ा करता है वही पशुओं के प्रति भी । हम श्रद्धा के कंठ में इसी का समर्थन स्वरित पाते हैं :—

वे द्रोह न करने के स्थल हैं
जो पाले जा सकते सहेतु ।
पशु मे यदि हम कुछ ऊँचे हैं
तो भव जल निधि में बनें सेतु ।।

किन्तु प्रसाद ने अहिंसा की व्यवस्था भी समरसता के समतल पर ही की है । वे आत्मरक्षा के लिए हिंसक पर प्रहार करना अनुचित नहीं मानते :—

अपनी रक्षा करने में जो
चल जाय तुम्हारा कहीं अस्त्र ।
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं
हिंसक से रक्षा करे शस्त्र ।।

इस प्रकार प्रेम, सौन्दर्य और करुणा की त्रिवेणी को आधुनिक हिन्दी-कविता में सबसे पहले बहाकर उसका पथ प्रशस्त करने का श्रेय भी प्रसाद को ही प्राप्त है ।

आधुनिक हिन्दी-कविता में छायावाद और रहस्यवाद की धारा बहाने वाले सबसे पहले कवि प्रसाद ही हैं । भाव में लक्ष्य और लक्ष्य में भाव ढूँढ़ना कवि रुचि की विशेषता है । विचार और भाव को जोड़ने का साधन प्रकृति बनाती है । प्रकृति का मनोहर रूप इंगित बनकर जीवन को किसी निश्चित दिशा में ले जाने अथवा जीवन के अभिप्राय को चित्र द्वारा दिखाने की सूचना देता है । यही तो प्रसाद के काव्य की प्रवृत्ति है । छायावाद और रहस्यवाद दोनों प्रवृत्तियों से प्रसाद ने प्रेम और सौन्दर्य की व्यापक सूक्ष्मता की अभिव्यक्ति की है । प्रसाद की रहस्य-भावना का प्रयोग मानव को जीवन से पराङ्मुख करने का साधन न होकर जीवन के कर्मक्षेत्र में संलग्न करने का साधन है ।

वस्तु संकलन की दृष्टि से भी प्रसाद ने कविता को एक नयी दिशा दिखायी । उनका वस्तु संचय पौराणिक अलौकिकता से मुक्त है । 'प्रेम पथिक' की लघु

आख्यायिका तो लोक मानव का चित्र है ही, किन्तु मनु और श्रद्धा की कथा भी ऐतिहासिक प्रतिष्ठा पाकर लौकिक पात्रों का जीवन-चित्र प्रस्तुत कर रही है। उनके नाटकों को देखकर भी यही कहा जा सकता है कि प्रसाद वस्तु-स्थिति के चित्रकार थे। सच तो यह है कि उन्होंने अपने से पूर्वयुग की कृत्रिम काल्पनिकता को छोड़कर वास्तविक आनन्दात्मक प्रतीकों को चुना और उन्हें आध्यात्मिक काव्य-धारा में मिलाने के लिए ऊँची रहस्यभूमि तक ले गये।

छायावाद और रहस्यवाद के साथ ही प्रसाद ने काव्य में प्रतीक-शैली का प्रवर्तन किया। उन्होंने व्यंजना के नवीन ढंग, उपमानों की निराली योजना, वर्णन में ध्वनित व्यंग्यार्थ अथवा लाक्षणिकता के प्रयोग का प्रचलन करके अभि-व्यक्ति के नूतन पथ की सृष्टि की। यों तो बंगला के रवीन्द्र बाबू आदि अनेक कवि कविता को यह दिशा दिखा चुके थे, किन्तु इतिवृत्तात्मक वर्णन के भार से दबी हुई कविता को सबसे पहले कवि प्रसाद ने ही लाक्षणिक वक्रता और नवीन व्यंजना की ओर प्रेरित किया। यह शैली बड़ी मनोहर है। इसमें जितनी अभिव्यंजना-शक्ति है उतनी ही सुखदता भी।

'चित्राधार' से 'कामायनी' तक प्रसाद के काव्य की जो विभूति विकीर्ण है उसमें क्रम-विकास की प्रवृत्ति और प्रगति द्रष्टव्य है। चित्राधार प्रसाद का गीति-काव्य है। यहाँ छोटी-छोटी भावनाएँ एकस्थ और घनीभूत होकर गेय हो उठी हैं। किसी न किसी दृश्य अथवा जीवन-समस्या को लेकर प्रभावशाली मनोभाव एकत्र हुए हैं, और माधुर्य की अनुपम नींव पड़ी है। मनोवृत्तियों की सुषमा भी अनूठी है, किन्तु विशेष दार्शनिक अभिरुचि के कारण प्रकृति-प्रेम 'चित्राधार' में अपनी विशेषता लेकर अवतीर्ण हुआ है। उसमें न तो कवि का प्रकृति से तादात्म्य ही दीखता है और न प्रेम। प्रसाद की मनोगति में रमणी-यता का रमण है, प्रकृति का नहीं। रमणीयता के प्रति उनकी सम्बन्ध-भावना में रति और जिज्ञासा है—भाव और बुद्धि के साहचर्य का विलास है—कहीं आकर्षण और कहीं प्रश्न है। प्रकृति का सौंदर्य कहीं उन्हें मुग्ध करता है और कहीं उनके कुतूहल को सजग और सतर्क करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस रचना में 'प्रसाद' के 'हृदय' पर उनका मस्तिष्क हावी (सवार) है। उनका कुतूहल रमणीयता में किसी चेतन ज्योति की ओर संकेत करता है, किन्तु हम हृदयगत चमत्कार को जीवन की गहराइयों में उतरा हुआ नहीं देखते। कवि की दृष्टि प्रकृति और नारी की सुषमा से तो खेलती रही है, पर वह किसी सामान्य तल पर उतरकर किसी व्यापक तत्त्व का संकलन नहीं कर सकी। यद्यपि अनेक बार प्रकृति को उद्दीपन-भार से मुक्त तो (चित्राधार में) प्रसाद भी नहीं कर सके हैं, किन्तु उनकी भावना व्रजभाषा के शृंगारी कवियों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, परिष्कृत और जिज्ञासामय रही है। सच तो यह है

उद्‌घाटन किया है। संयोग की स्मृति और वियोग-पीड़ा में आत्माभिव्यक्ति से परे कवि की कोई अन्य चेष्टा नहीं दीख पड़ती। हाँ, उसमें स्वीकृति के प्रति अदम्य साहस और कहने की अपूर्व शैली है जिससे कवि की संवेदना ने काव्य को आध्यात्मिक महत्त्व सा दे दिया है। मानवीय भावों की छाया नहीं है, वे तो प्रत्यक्ष हैं। हाँ, एक आध्यात्मिक ध्वनि-परम्परा निरन्तर सुनायी पड़ रही है, जिससे 'आँसू' की रहस्यात्मकता प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि 'आँसू' में प्रेम और सौंदर्य स्थूल नहीं हैं, वे आत्मा के अंग बन गये हैं। यहाँ प्रेम और विरह एक नवीन रहस्यात्मक आलोक से आलोकित हैं जिनमें काव्य का लक्ष्य दृश्यमान मानव जीवन है, प्रेम और सौन्दर्य-रूप आत्मा नहीं, जैसा कि सूफियों की रहस्याभिव्यक्तियों में मिलता है। मानव जीवन में अलौकिक की झाँकी देखने वाले 'आँसू' के कवि ने परिस्थितियों और व्यापारों को मनोविज्ञान का यथोचित बल देकर यथार्थोन्मुख कर दिया है।

'आँसू' के उपरान्त कवि की मनोवृत्ति 'झरना' में फूट पड़ती है। इसमें कवि को एक विचित्र अवसाद ने घेर लिया है जो सामाजिक चिन्ता से प्रेरित है। नवीन बौद्धिक अन्वेषणों से कवि-मानस संशयापूर्ण हो जाता है। उसी की प्रतिक्रिया 'झरना' में दिखायी पड़ती है। यहाँ वह सामयिक विचार-प्रवाह के आवर्तों में चकराने लगा है। 'झरना' का कवि क्रान्ति-युग की सृष्टि है जिसमें कटु वास्तविकता, जीवन के गम्भीर अनुभव और प्रबल निराशा की तुमुलता है। कदाचित् 'कामायनी' की प्रेरणा यहीं से प्रारम्भ हो जाती है। युगवर्तिनी विभीषिकाओं से आशंकित होते हुए भी मानवता की शक्ति में प्रसाद की सुदृढ़ आस्था थी। यही कारण था कि 'कामायनी' काव्य दुखान्त नहीं होने पाया, किन्तु अपने समाज की दुर्बलताओं और उनसे उत्पन्न होने वाले अवसाद और क्षोभ की अभिव्यक्ति भी 'कामायनी' में कुछ कम नहीं हुई है।

'कामायनी' प्रसाद की अन्तिम ही नहीं, अन्यतम रचना भी है। इसमें मानव स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके मानव-धर्म-शास्त्र की काव्यात्मक ढंग से अनूठी सृष्टि की गयी है। इस रचना में मनु और कामायनी की कथा के साथ-साथ इच्छा (भाव), क्रिया और ज्ञान (बुद्धि) के सामंजस्य से मानव के सन्तुलित विकास पर बल दिया गया है। आध्यात्मिक और व्यावहारिक तथ्यों के बीच संतुलन स्थापित करने वाली यह अपूर्व रचना है। इतना ही नहीं गम्भीर प्रवेश करने पर मानव-प्रकृति का शाश्वत स्वरूप सामने आ जाता है। मनु और कामायनी आधुनिक पुरुष और नारी होने के अलावा शाश्वत पुरुषत्व और नारीत्व भी हैं। यह रचना सुन्दर मनोविज्ञान का ग्रंथ होने के साथ-साथ सुन्दर काव्य-ग्रन्थ भी है। काव्य और मनोविज्ञान का इतना सुन्दर एवं प्रौढ़ मिलन अन्यत्र दुर्लभ है। निस्संदेह 'कामायनी' कवि-मानस-रचना है।

इसमें वृत्तियों के उदात्तस्वरूप के सहारे विशृंखलता का निवारण करके समरसता की प्रतिष्ठा की गयी है। समरसता की समतल भूमि पर हृदय और मस्तिष्क, भाव और बुद्धि, की सन्तुलित व्यवस्था में सौन्दर्य को सजाया गया है।

'कामायनी' में 'प्रसाद' ने एकांगी भौतिक प्रगति और संघर्ष का विरोध अवश्य किया है, किन्तु वे संघर्षात्मक जीवन-दर्शन के अनुयायी नहीं हैं। वे समन्वयवादी हैं। प्रसाद की गति वैज्ञानिक संघर्षात्मक प्रगति-दर्शन के साथ बहुत दूर तक नही रहती, किन्तु वे अप्रगतिशील या कोरे आदर्शवादी नहीं हैं। साहित्य में व्यक्त उनकी भावनाएँ जागृति और प्रगति की प्रेरक हैं। उन्होंने अपनी कल्पना का प्रयोग नयी शक्ति और नये सौंदर्य की सर्जना के लिए किया है। उनकी जीवन-चिन्ता किसी दार्शनिक मतवाद में भले ही न बँधी हो और साहित्य के लिए यह भी आवश्यक नहीं कि वह किसी विशेष मतवाद से बँधकर ही प्रगतिशील कहलाये, वे प्रगतिशील कवि अवश्य थे, किन्तु वे आधुनिक संघर्ष से उत्पन्न भौतिक विकासवादी दर्शन के पूर्ण समर्थक नहीं थे।

अपने सुविकसित और प्रौढ़तर मनोवैज्ञानिक आधार एवं व्यापक अन्तर्दर्शन के निरूपण के कारण 'कामायनी' अपने पूर्व युग की रचनाओं से भिन्न एवं विशिष्ट है। यह रचना कवि की समन्वयशील प्रतिभा, आनन्दवादी आध्यात्मिक व्यंजना, और जीवन-प्रयोग-वृत्ति का समन्वित परिणाम है जिसने पूर्व युग की नीतिवादी अन्योक्तियों, 'प्रवृत्ति और निवृत्ति' की रूढ़ शृंखलाओं और आदर्शवादी लीक के मार्ग को एक नयी दिशा में मोड़ दिया। कवि का यह मोड़ युग की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों का प्रतीक है। प्रसाद ने 'रहस्यवाद' और 'प्रेमाख्यान' काव्य के भीतर एक नवीन सांस्कृतिक शिल्प और नूतन सांस्कृतिक निर्माण का कार्य प्रचुर रूप में किया है, और यह मानना भी अनुचित न होगा कि केवल काव्योत्कर्ष की दृष्टि से भी 'कामायनी' का स्थान आधुनिक हिन्दी कविता में बहुत ऊँचा है।

कल्पना प्रधान होने से प्रसाद की कविता में ह्रास नहीं, प्रगति ही अभिप्रेत है। रोमांस की सीढ़ियों से वे रहस्यवाद के ऊँचे धरातल पर पहुँचे हैं, जहाँ उनकी प्रौढ़ भावना का विलास स्पष्ट है, किन्तु कवि का रहस्यवाद अथवा उसकी आध्यात्मिक अनुभूति मानव-जीवन व्यापार की नींव पर खड़ी हुई है जिससे उसका व्यावहारिक पक्ष भी स्पष्ट झलक रहा है। दार्शनिक और भावनात्मक दोनों दृष्टियों से कवि 'प्रसाद' मानव-कर्मशीलता की ओर प्रेरित करते हैं। सच तो यह है कि उनकी कविता आधुनिक जीवन-व्यापी संघर्ष से वलयित, आक्रान्त और सुपरिचित है।

प्रसाद ईश्वर और संसार दोनों को मानते हैं। व्यक्त और अव्यक्त रूप में

ईश्वर विश्व के कण-कण में ओतप्रोत है। उनका संसार भी मिथ्या नहीं है, अन्यथा करुणा और साधना की संभावना न होती। श्रद्धा के स्वर में सुनिये—

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
वह रूप बदलता है शत शत।

करुणा के सरस विलास के कारण, प्रसाद की ईश्वरीय धारणा शिव-रूप प्रतीत होती है। उनकी रहस्यमयी भावना व्यक्त में अव्यक्त को खोज निकालती है।

सुमन समूहों में सुहास करता है कौन ?
मुकुलों में कौन मकरंद सा अनूप है ?
मृदु मलयानिल-सा माधुरी उषा में कौन
स्पर्श करता है हिमकाल में ज्यों धूप है ?

प्रसाद का सामाजिक धर्म बौद्ध, जैन, हिन्दू धर्म नही है। वे धर्म को नये आलोक से आलोकित करके देखते हैं, जिसमें मानवता का आग्रह है और जो कठोरता और संकीर्णता के दुराग्रह से मुक्त है। उनके महाकाव्य कामायनी में मानव धर्म अवश्य है, किन्तु संकीर्ण कठोर धर्म कहीं नहीं है। वे विश्व मानव, विश्व समाज और मानवीय भक्ति में विश्वास करते हैं। उनका मानव न तो स्वर्ग का देवता है और न विचित्र दानव ही। वह इसी भूलोक का निवासी, गुणदोषों का आवास, वृत्तियों से आकुल और दुख-सुख के प्रभावों से प्रभावित हैं। कर्मचक्र के चक्कर में वह निरन्तर पड़ा रहता है। उसमें इच्छा है, कर्म करने की शक्ति है और प्रतिभा है, किन्तु इनका संतुलन बिगड़ने से आत्म विकास नहीं कर सकता। इसलिए प्रसाद ने कामायनी में इच्छा, क्रिया और बुद्धि के संतुलित सामंजस्य का समर्थन किया है।

अपने काव्य द्वारा प्रसाद धर्म को आलोकित दृष्टि से देखते है। उनका धर्म किसी वर्ग, जाति या समूह का धर्म नहीं है, व्यक्तिगत या वर्गगत आस्था से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म जीवन का रूप है। विश्व जीवन से असहयोग करने वाली भावना या कृति का धर्म में समावेश नहीं हो सकता। इच्छा, क्रिया और ज्ञान की समतल भूमि पर ही मानव धर्म के फल, 'आनन्द' का आस्वादन संभव होता है। प्रसाद का धर्म समरसता में व्यवस्थित है। जीवन की सरलता और मधुरता भी समरसता से ही प्राप्त होती है। श्रद्धा के स्वर में प्रसाद कोरे बुद्धिवादी से कहते हैं :—

जीवन धारा सुन्दर प्रवाह,
सत सतत प्रकाश सुखद अथाह;
ओ तर्कमयी तू गिने लहर,
प्रतिबिंबित तारा पकड़ ठहर ।।

तू रुक-रुक देखे आठ पहर,
वह जड़ता की स्थिति भूल न कर;
सुख-दुख की मधुमय धूप-छाँह,
तूने छोड़ी यह सरल राह ।।

यह समरसता साहित्य को प्रसाद की अपूर्व देन है। जीवन दर्शन में वे सदैव समरसता की प्रतिष्ठा करते है। इसीलिए वे कोरे प्रवृत्तिवाद या निवृत्तिवाद के पक्ष में नहीं हैं। आसक्ति और घृणा दोनों के बीच में मानव जीवन की समरस धारा के प्रवाह की घोषणा करते हुए वे तर्क और श्रद्धा, बुद्धि और भाव के समन्वय से प्रेरित कर्म का समर्थन करते है। श्रद्धा मानव को यही शिक्षा देती हुई कहती है :—

वह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय।

प्रसाद के इस समरसतावाद से काव्य का बड़ा उपकार हुआ, उसे कोरे भावुकतावाद या बुद्धिवाद से मुक्त होने का मार्ग मिल गया। इसी समरसता की भूमि पर प्रबन्ध काव्य ने शायद पहली बार गीतों का हाथ पकड़ा। इसी समरसता की भावना ने प्रसाद को प्रगतिशीलता के पद पर आसीन किया, और इसी ने उन्हें वर्ग-भेद और जाति-भेद से ऊपर उठाकर मानव की एकता का दर्शन कराया। यह एकता उनकी कविता में स्थान-स्थान पर अभिव्यक्त हो रही है। इसी समरसता ने उनके प्रबन्ध काव्यों को परम्परा के बन्धनों से मुक्त किया।

इसी संतुलन के सहारे मानव अपने लक्ष्य आनन्द को प्राप्त कर सकता है। कुछ लोग प्रसाद के इस आनन्दवाद को नियतिवाद से बाँधने का उपक्रम करते हैं। देखने की बात है कि क्या ये दोनों चीजें साथ रह सकती है अथवा इनमें कोई तात्त्विक सम्बन्ध भी है जिसको तोड़ा नहीं जा सकता। किसी बात को कहना और बात है और समर्थन करना और। प्रसाद ऐसे भाग्यवादी नहीं है कि वे कर्म को उठाकर ताक में रखदें और न इतने बुद्धिवादी ही कि वे कर्मफल की अवश्यंभावित को ही पकड़ बैठे रहें। प्रसाद के स्कंदगुप्त को लेकर उन पर नियतिवादी होने का आरोप किया जाता है। उनका नियतिवाद रूढ़ नियतिवाद नहीं है, उसमें भी एक नवीनता है और वह प्रगतिपथगामी है। दूसरी बात यही है कि आनन्दवाद और नियतिवाद दोनों में विरोध नहीं है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान का संतुलन मानव साधना है। इसके बिगड़ने से आनन्द लक्ष्य भ्रष्ट भी हो सकता है। साधना का बिगड़ना नियति की बात है। जीवन में अनेक बार साधनाओं में अन्तर आते देखें जाते है। इससे स्पष्ट है कि जीवन के समस्त तत्त्वों का इन्होंने अपने आनन्दवाद में संकलन किया है। नियतिवाद उनमें से एक है, किन्तु वह अकर्मण्यता से प्रेरित नहीं है।

एक और परम्परागत धारणा प्रसाद के पूर्वकालीन कवियों ने बना रखी थी और वह यह कि संसार त्याज्य है। ऐसे लोगों का एक विरोधी पक्ष भी था जो संसार में आसक्ति का पक्ष लेता था। प्रमाद इन दोनों ही अतिवादियों के विरुद्ध थे। वे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के मध्य मार्ग को स्वीकार करते थे—न तो दुनिया में डूबा ही जा सकता है, और न दुनिया से भागा ही जा सकता है। भागने और डूबने के बीच ही तो जीवन का सौन्दर्य निहित है, यहीं तो आनन्द का मार्ग है। न दुख को देखकर भागना है और न सुख पर आसक्त होना है।

सुख और दुख, भाव और हाव, मिलन और विरह, ये सब जीवन की धूपछाँह हैं। इनके प्रति किसी एकांगी आस्था अथवा अतिवादी विश्वास से काम नहीं चल सकता, इनके बीच का मार्ग ही तो समरसता है। यह प्रसाद का नूतन तत्त्वानुसंधान है। कुछ लोग प्रसाद को समरसता के सिद्धान्त से बाँधकर कोरा आदर्शवादी कहने को तैयार हो जाते हैं। वे प्रसाद को आदर्शवादी कहें, हमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु उनका आदर्श रूढ़िमार्गीय नहीं है। यदि प्रसाद की समरसता में कोई आदर्श है तो भी प्रगति से स्पंदित है। उसमें एक नूतन दृष्टिकोण है, किन्तु उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति का लवलेश भी नहीं है।

एक नयी चीज प्रसाद ने और दी है और वह है, नारी के प्रति पुरुष की भावना। भारतीय नारी की दुर्दशा से प्रसाद की मानवता व्याकुल हो उठी थी, प्रसाद का हृदय करुणा से छलक उठा था। प्रसाद के पश्चात् तो अब अन्य कवियों ने भी नारी की सत्ता और उसके समानाधिकार को स्वीकार किया पर प्रसाद के पूर्व कवियों के अनेक बौद्धिक अत्याचार हुए। 'ढोल······अधिकारी' का उदाहरण देकर तुलसीदास को भी इसी कोटि में रखा जा सकता है। प्रसाद सदियों के पश्चात् विद्रोह की आग जलाते हुए साहित्य लोक में अवतीर्ण हुए। उन्होंने भारत के स्वर्ण-युग से नारी के आदर्शों और अधिकारों का चयन किया और काव्य में उसको नूतन रूप में प्रतिष्ठित किया। सर्व प्रथम आधुनिक कविता में उन्होंने इस भाव की प्रतिष्ठा की कि नारी पुरुष की दासी नहीं, अर्द्धांगिनी है। नारी किसी व्यक्ति के साथ समाज का भी आधा रूप है। श्रद्धा और मनु, दोनों से मानवता की पूर्ति होती है, अन्यथा मनु "मनु मात्र" रह जाते है। यदि नरत्व और नारीत्व चिरन्तनभाव हैं और दोनों मानवता के पूरक हैं तो भला नारी की उपेक्षा किस प्रकार की जा सकती है। मनु (पुरुष) को श्रद्धा (नारी) के बिना आनन्द का मार्ग नहीं मिल सका है, फिर आनन्द का मिलना तो और भी दुर्लभ है। निवृत्तिमार्गियों की नारीविषयक घृणा पर यदि भारतीय साहित्य में करारी चोट दी तो वह सबसे पहले प्रसाद ने क्योंकि उन लोगों ने नारी के महत्व की ही उपेक्षा नहीं की, वरन् उसके अधिकारों की भी उपेक्षा की।

प्रसाद का मानव एक तल पर उतरकर 'समरस' का आस्वादन करने के लिए विकल है। प्रसाद की चेष्टा नारी और पुरुष के बीच स्थित असंतुलन को हटाकर समता और सहकारिता के सूत्र में बाँधने की ओर है। प्रसाद का मानव धर्म की रूढ़ियों से छूटकर आत्मा की अमरता की सीख लेता है, किन्तु वह लोक-स्थिति को खुली आँखों से देखता रहता है। प्रसाद की रहस्य-भावना का प्रयोग मानव को जीवन से पराङ्मुख करने का साधन न होकर उसे जीवन के कर्म-क्षेत्र में संलग्न करने का साधन है। उनका रहस्यवाद 'आँसू' या 'कामायनी' (अंतिम सर्ग) में कहीं देखिये, मानसिक संतुलन का ही प्रतिरूप है।

वे मानवता के घाट उतरकर प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए और आत्मा की एकता को सर्वत्र देखने के लिए आतुर होकर नयी काव्य पद्धति, छायावाद और रहस्यवाद का प्रवर्तन कर बैठते हैं, किन्तु यह ध्यान रहे कि 'आँसू' में छायावाद की खोज करना व्यर्थ होगा। 'आँसू' मानव का वर्णन है, फिर किस स्थान पर, कहाँ पर मानव की छाया दीखनी चाहिये ? वहाँ तो मानव ही लक्ष्य है, मानव ही साधन है। उपमानों के सम्बन्ध से मानव के गहनतम सौन्दर्य को सुकर बनाया गया है, फिर कैसे कह दिया जाये कि वहाँ छायावाद है। छायावाद तो वहाँ होना चाहिये जहाँ वर्णन का लक्ष्य वर्ण्य प्रकृति हो, किन्तु 'आँसू' में तो मानव ही वर्ण्य है। हाँ, एक रहस्य का आभास यहाँ अवश्य होता है, क्योंकि कवि ने मानव का अध्ययन बड़े समीप से किया है और प्रेम और सौन्दर्य इतने सूक्ष्म और व्यापक हो गये हैं कि आत्मा के साथ उनका तादात्म्य-सा दीख पड़ता है। सचमुच यही ऊँचाई तो उनके रहस्य काव्य की है, पर याद रहे कि रहस्यवादी रचनाएँ जैसे, प्रेमाख्यानक काव्य इससे भिन्न हैं। रहस्यवाद की रचनाओं में मानव प्रमुख नहीं है, वहाँ तो सर्वत्र आत्मा के दर्शन किये जाते हैं और मानव दृष्टांतों के सहारे वर्ण्य का प्रतिपादन किया जाता है। इस दृष्टि से प्रसाद ने रहस्य काव्य की जो सृष्टि की है वह सूफी-संतों की रहस्यमयी रचनाओं से सर्वथा भिन्न है।

प्रकृति को प्रसाद यदि कोई मूल्य देते हैं तो परम्परागत ढंग से नहीं, उद्दीपन के लिए नहीं। प्रकृति में सौन्दर्य है, उसमें किसी सत्य का विलास है और सम्पूर्ण प्रकृति में एक व्यापक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को कवि मानव सम्बन्ध की आँख से देखता है और प्रेम और सौन्दर्य की गहराई तक जा पहुँचता है। प्राकृतिक सौन्दर्य उस एकता की ओर संकेत करता है। इस प्रकार प्रसाद ने प्रेम और सौन्दर्य का एक नया सम्बन्ध देखा और दिखाया है। अपनी कविता में प्रसाद के मानव ने एक शक्ति, एक सत्ता का आभास पाया है जिसमें व्यापकता है, सूक्ष्मता है और पूर्णता है। यदि इस सत्ता को प्रसाद ने कहीं देखा है तो नयी आँखों से देखा है। प्रसाद की यह सत्ता विभिन्न ईश्वरवादियों का ईश्वर नहीं

है और न विकासवादियों के तत्त्व की जड़ता ही है। वह सत्ता, प्रेम और सौन्दर्य से स्पंदित प्रकृति और मानव मे समान रूप से दिखायी देती है। वह सब में है और सब उसमें हैं।

प्रसाद ने काव्य-जगत् को एक नयी शैली प्रदान करके अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दिया है। नयी भाव-धारा और नयी शैली के सामंजस्य से उनकी भाषा को 'जटिल' संज्ञा मिली है, किन्तु नवीनता से अपरिचय के कारण ही लोगों को यह भ्रम हुआ है।

कदाचित् यह समझना भ्रम होगा कि प्रसाद जी काव्य-क्षेत्र में प्राचीनतावादी थे। उनकी काव्य कृतियों में ही इसके प्रतिवाद के अनेक उदाहरण मिल सकते है। उनका गद्य साहित्य तो और भी अधिक जोरों मे इस भ्रम का उन्मूलन कर रहा है। निस्सन्देह वे नवीनतावादी हैं, किन्तु व्यर्थ और दिखावटी नवीनता के समर्थक नही हैं। जीवनव्यापिनी नवीनता उनके साहित्य का प्रमुख स्वर है जिसमें नवीन जीवन से नवीन सम्बन्ध उपस्थित किया गया है। कहना न होगा कि प्रसाद ने इतिहास और 'रोमांस' के भीतर से नयी संस्कृति को जाग्रत किया है। नये पथ के आग्रह में प्रसाद एकदम नये प्रयोगों का समर्थन न करके नये मोड़ों के पक्षधर हैं। वे सामाजिक जीवन के प्रवाह में विश्वास करते हैं, उसको रोककर सड़ाने से उनको घृणा है। इसीलिए वर्ग और धर्म को अपने कामायनी काव्य में (और अन्यत्र भी) उन्होंने मान्यता नहीं दी। प्रसाद के काव्य को आप, चाहे छायावादी कहिये या रहस्यवादी, मानवीय धरातल पर ही खड़ा देखेंगे।

इस प्रकार कविवर प्रसाद सही अर्थो मे हिन्दी काव्य में नवयुग के सूत्रधार है। हिन्दी काव्य की नयी धाराओं और प्रेरणाओं के प्रवर्तक के रूप में—आने वाली पीढ़ियाँ उनका सदैव स्मरण करती रहेंगी। उन्होंने केवल भाषा और भाव के क्षेत्र में ही क्रान्ति नहीं की वरन् एक नयी शैली प्रवर्तित करके समरसता के धरातल पर प्रगतिशीलता को नूतन मान्यता भी दी।

५

कवि निराला

कवि निराला काव्य-लोक में एक क्रान्ति लेकर अवतीर्ण हुए हैं। जिस प्रकार प्रसाद का हृदय काव्यगत रूढ़ियो से उकता गया था वैसे ही निराला का हृदय भी। अपने आविर्भाव के साथ निराला ने जिस प्रकार देश और समाज को बन्धनों में जकड़ा देखा, उसी प्रकार कविता को भी। कविता छन्दों में बँधी हुई थी और गीत प्राचीनता के अँधेरे में आलोक के लिए तड़प रहे थे। उक्तियाँ भी प्राचीनता में बँधी रहने से आकर्षणविहीन हो गयी थीं और शृंगार के प्रति घृणा या दुराग्रह बढ़ रहा था। कवि प्रसाद ने रस की दुर्दशा पर दया अवश्य प्रकट की, किन्तु निराला के सहयोग ने प्रसाद की क्रान्ति को सफल बना दिया। शृंगार तो मानों उनके हाथों में सिहर उठा।

शृंगार के साथ निराला ने खिलवाड़ नहीं की है। उन्होंने बड़ी शिष्टता से शृंगार की मृदुता को स्वीकार किया है। उनका शृंगार-वर्णन संयम से प्रशस्त है। काव्य में प्रत्येक प्रकार का शृंगार वर्णन करते हुए भी निराला का व्यक्तित्व कहीं भी मानसिक या शारीरिक दौर्बल्य से आक्रान्त नहीं हुआ। निराला एक सचेत और सावधान कलाकार हैं, परिणामतः उनके काव्य में शृंगार की दुर्बल भावनामूलक अभिव्यक्ति को कहीं स्थान नहीं मिला है। शृंगार को सीमा-मुक्त करते हुए भी उन्होंने उसे असंयम अथवा अश्लीलता के गर्त में नहीं गिरने दिया है। यों तो उन्होंने कहीं-कहीं शृंगार के नग्न-चित्र भी प्रस्तुत किए हैं, परन्तु अश्लीलता के स्पर्श से वे भी मुक्त हैं। कविता को यह उनकी तटस्थता की अद्भुत देन है। यह तटस्थता उन्हें काव्य की भावधारा के ऊपर अपना व्यक्तित्व स्थिर रखने की क्षमता प्रदान करती है। उदाहरण देखिये :—

पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफालि के

मूक-आह्वान-भरे लालसी कपोलों के
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।

इस शृंगार-वर्णन में दार्शनिक तटस्थता है। ऐसा रूपक दार्शनिक कवि ही बाँध सकता है। 'निशि-जागरण' के उपलक्ष में प्रिय कामिनी को निराला का उपहार भी तटस्थ शृंगार का ही उदाहरण है—

'वासना की मुक्ति-मुक्ता त्याग में तागी'

'जूही की कली' भी निराला की शृंगार की रचना है। उसमें शृंगार को राजमार्ग के पथिक के रूप में चित्रित करते हुए अपनी सुघर चित्रोपम कला का परिचय भी दिया है।

शृंगार के सुन्दर चित्रकार होते हुए भी शृंगार-वर्णन उनकी रस-सीमा नहीं है। छायावादी कवियों ने जहाँ केवल शृंगार और करुण का ही वर्णन किया है वहाँ निराला ने प्रायः समस्त रस-क्षेत्रों में परिभ्रमण किया है। उनके हाथों से कहीं कही वीर और रौद्र की बड़ी सुदृढ़ व्यंजना हुई है। नूतन भावों की व्यंजना में उनकी सफलता से निराला के विस्तृत भाव-जगत् का परिचय मिलता है।

मानसिक व्यथाओं का हृदय-स्पर्शी चित्रण भी कहीं-कहीं अनुपम बन पड़ा है। प्रेम-व्यथा की एक झलक देखिये—

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?
स्तब्ध, दग्ध मेरे मरु का तरु,
क्या करुणाकर खिल न सकेगा ?

युग और समाज

जिस प्रकार छंदों के बन्धन कवि को अरुचिकर थे, उसी प्रकार सामाजिक बन्धन भी। एडवर्ड अष्टम को उन्होंने एक ऐसे ही वीर के रूप में चित्रित किया है जिसने प्रेम के कारण साहस के साथ राज-सिंहासन तक को त्याग दिया। उनके मत से वह प्रणय-वीर था।

निराला में सामाजिक सुधार की भावनाएँ भी हैं। उन्होंने भारत की विधवा के प्रति भी अश्रुपात किया है—

वह इष्ट-देव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शांत, भाव में लीन।
वह क्रूर-काल-तांडव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन
दलित भारत की विधवा है।

समाज में प्रचलित ढोंगों का कवि ने बड़ा मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। पुजारी बंदर को मालपुआ आदि खिला रहा है और भिखारी की ओर देखता तक नहीं है। इसी प्रकार श्रमिकों के प्रति भी कवि का अनुराग है। इलाहाबाद के पथ पर पाषाण फोड़ने वाली अबला के माथे के श्रम सीकर दिखलाता हुआ कवि प्रगति के पथ पर भी चल रहा है। 'वह तोड़ती पत्थर' कविता निराला की प्रगति-दिशा का संदेश दे रही है।

राष्ट्रीय भावनाओं से भी कवि ओतप्रोत है। 'जागो फिर एक बार' तथा 'महाराज शिवाजी का पत्र' देश-प्रेम के रंगीन-चित्र हैं। युगवाणी में पंत ने उचित ही लिखा है—

छन्द-बन्ध ध्रुव तोड़, फोड़कर पर्वत-कारा।
अचल रूढ़ियों की, कवि तेरी कविता-धारा।
मुक्त, अबाध, अमंद रजत निर्झर-सी निःसृत—

पीड़ित मानवता से कवि का हृदय तिलमिला उठा। उसकी दृष्टि खुली और बोला—

बहती जाती साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी
दग्ध चिता के कितने हाहाकार!
नश्वरता की थीं सजीव जो कृतियाँ कितनी,
अबलाओं की कितनी करुण पुकार!

शोषित पीड़ित वर्ग की ओर भी निराला ने दृक्पात किया, और भिक्षुक की दयनीय दशा से पिघल कर उनका हृदय उमड़ पड़ा—

वह आता—दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता,
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता।

उसको विधवा की करुण दशा ने जितना अभिभूत किया है उतना ही कठिन श्रम करने वाले मजदूर ने भी किया है। 'इलाहाबाद के पथ पर' पत्थर तोड़ती मजदूरनी के मस्तक के श्रम-बिन्दु देखकर कवि का हृदय उमड़ आया और बोल उठा—

वह तोड़ती पत्थर
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर
कोई न छायादार
पेड़, वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार

क्षीण तन, भर बँधा यौवन
गुरु हथौड़ा हाथ करती बार-बार प्रहार।

राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर 'निराला' ने वीर पूजा का अनुष्ठान भी किया है। 'शिवाजी का पत्र' में उनकी राष्ट्रीय चेतना मुखरित है। 'जागो फिर एक बार' से गुरु गोविंदसिंह को जगाने में भी कवि ने राष्ट्रीय भावना ही उच्छ्वसित की है।

व्यक्ति और शैली

वे मुद्राएँ जो सम्प्रदाय विशेष के कवियों में दिखाई देकर उनकी विशिष्टता का निर्माण करती हैं, अभ्यास द्वारा जिन्हें पुष्ट करना ही उन कवियों का लक्ष्य बन जाता है, निराला का लक्ष्य नहीं है; परन्तु उनका एक व्यक्तित्व जिसमें व्यापक जीवनधारा के सौन्दर्य का संनिवेश है, जिसमें ओज के साथ (जो इस युग की मौलिक सृष्टि का परिचायक है) एक सुकोमल सौहार्द (जो सहानुभूति का परिचायक है) का समाहार है, उनके काव्य में सुस्पष्ट है। इन उभय उपकरणों के साथ जो एक साथ अत्यन्त विरल हैं, कवि की दार्शनिक अभिरुचि कविता की श्री-सम्पन्नता में पूर्ण योग देती है। गेय पदों की शाब्दिक सुघरता, संक्षेप में विस्तृत आशय की अभिव्यक्ति, सुन्दर परिसमाप्ति और प्रकाश निराला के काव्य को दर्शन द्वारा प्राप्त हुए हैं। सौन्दर्य की प्रतिमाएँ निराला ने व्यक्तिगत जीवनानुभव से संघटित की हैं। निराला में पूर्ण मानवोचित सहृदयता और तन्मयता के साथ उच्चकोटि का दार्शनिक अनुबन्ध है।

कविताओं के भीतर से जितना प्रसन्न और अस्खलित व्यक्तित्व निराला का है, उतना न प्रसाद का है और न पंत का। यह निराला की समुन्नत काव्य-साधना का प्रमाण है, निराला के 'कवि' में जड़त्व का अंकुश कहीं नहीं मिलता, जब कि प्रसाद की भावनाएँ कहीं-कहीं साधारण तल तक पहुँच गयी है और पंत का श्रृंगार यत्र-तत्र ऐन्द्रियता की दशा तक पहुँच गया है और उनकी कविता यदा-कदा अपनी तारीफ तक करने लगी है। निराला की 'यमुना' में उनका निर्लिप व्यक्तित्व मुग्ध कर लेता है। इतना परिष्कार पंत के व्यक्तित्व में नहीं। ध्यान रहे कि यहाँ व्यक्तित्व (वर्णनकर्ता) की बात की जारही है, वर्ण्य की नहीं।

निराला और प्रकृति

प्रेम-सम्बन्धी समस्त भावनाओं को प्रकाशन देने के लिए आधुनिक कवियों ने प्रकृति को माध्यम बनाया है। स्थूल-सौन्दर्य-चित्रण एवं सामान्य भावनाओं को छोड़, सूक्ष्मता की ओर जाने के प्रयास में कवि ने प्रकृति को सजीव एवं भाव-सम्पन्न रूप में चित्रित किया है। अतः प्रकृति-प्रेम का प्रकाशन, प्रेम के

प्रतीक-रूप में और स्वतन्त्र आलम्बन-रूप में, दोनों प्रकार से किया गया है। प्रकृति-चित्रण में गीति-भावना का समावेश अधिकांश कवियों में देखने को मिलता है। निराला उनमें से प्रमुख हैं।

निराला का प्रकृति-प्रेम दार्शनिक प्रेम लिये जान पड़ता है, और प्रकृति के माध्यम से वे एक अलौकिक व्यक्तित्व के दर्शन करते हैं। प्रकृति के भीतर जो भी स्पन्दन, क्रिया-कलाप, व्यापार हैं, वे सभी उनके लिए कुछ न कुछ संकेत और व्यंग्य-भरे हैं। निराला का प्रकृति-चित्रण विशेषतः परम्परागत उद्दीपन के रूप में है जहाँ प्रकृति सुखद एवं दुखद मानव भावनाओं को सजग, सचेत अथवा प्रज्ज्वलित करती है। गीतिका के एक पद में यह बात स्पष्ट है—

"बह चली अब अलि, शिशिर समीर।
काँपी भीरु मृणाल-वृन्त पर,
नील-कमल-कलिकाएँ थर-थर।
प्रात अरुण को करुण अश्रु भर;
लख तो अहा! अधीर॥
बन देवी के हृदय-हार से,
हीरक झरते हर-सिंगार के।
बेध गया उर किरण-तार के,
विरह-राग का तीर!
विरह-परी-सी खड़ी कामिनी,
व्यर्थ बह गई शिशिर-यामिनी।
प्रिय के गृह की स्वाभिमानिनी,
नयनों में भर नीर॥"

निराला सौन्दर्योपासक कवि हैं। सौन्दर्य-चित्रण में उन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। यद्यपि उनका काव्य पौरुष-प्रधान कहा जाता है, पर प्रकृति-वर्णन भी उन्होंने खूब ही किया है। प्राकृत वस्तु के रूप, भाव और वातावरण को लेकर उन्होंने प्रकृति का बड़ा ही सुन्दर मूर्तिमान स्वरूप अंकित किया है। इस प्रकार का प्रकृति-चित्रण बहुत कम कवियों ने किया है। 'संध्या सुन्दरी' का मनोहर वर्णन मानवी का वर्णन बन गया है।

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास।
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर—

किन्तु जरा गंभीर—नहीं हैं उनमें हास-विलास;
हँसता है तो केवल तारा एक,
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों मे
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली—
सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर पथ से चली।

इसी प्रकार 'शेफालिका' में कवि ने शेफाली के वासनामय सौन्दर्य का मनोहर चित्रण किया है—

बन्द कुंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन उभार ने,
पल्लव-पर्यक पर सोती शेफालि के।
मूक-आह्वान-भरे लालसी कपोलें के
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।

छायावाद और रहस्यवाद

छायावादी और रहस्यवादी कवियों में भी निराला का ऊँचा स्थान है। उनके छायावाद और रहस्यवाद पर दार्शनिकता का प्रभाव है। उनका 'दार्शनिक छायावाद' 'विराट् सत्ता' और 'शाश्वत ज्योति' के रूप में व्यक्त हुआ है। कितने ही स्थानों पर वे इसे 'अमर विराम' ('जागरण'), 'माता' ('पंचवटी-प्रसंग'), 'श्यामा' ('एक बार बस और नाच तू श्यामा') आदि पदों में व्यक्त करते हैं। 'यमुना' में वे उसे कहीं 'श्याम' और कहीं 'अतीत' कहते हैं। इनके द्वारा कवि उसी शाश्वत ज्योति की ओर संकेत करता है। यह उनके छायावाद का एक पहलू है, दूसरा पहलू है 'जड़'-जीव जगत में सर्वत्र उसी शाश्वत ज्योति का प्रकाश देखना। दार्शनिक छायावाद के अन्तर्गत एक ज्योति से अनेक खंड-चित्र ज्योतित दिखाये गये हैं। यही निराला का 'निर्वाह' है। इसका अभिप्राय यही है कि प्रत्येक दृश्य वस्तु का पर्यवसान एक ही 'अदृश्य' 'अनन्त' में होता है। "छोटी बड़ी मानवीय वासनाएँ भी "बुद्धं शरणं गच्छ" के उपरान्त शुद्ध स्वरूप प्राप्त करती हैं। 'वासना की मुक्ति-मुक्ता' के पद में वासना की भी परिणति परिष्कार द्वारा मुक्ति में की गयी है। यह 'परिष्कार' निराला के छायावाद की विशेषता है। प्रसाद मानवीय माध्यम द्वारा रहस्यानुभूतियाँ प्राप्त करते और व्यक्त करते हैं। मानवीय वृत्तियों ने उन्हें इतना अविभूत कर रखा

है, मानवता से वे इतने आकृष्ट हैं कि मानव ही उनके चैतन्य की इकाई बन गया है, परन्तु निराला के 'अद्वैत दृष्टिकोण' में यह जीव-जगत् मिथ्या है। अतएव उनकी इकाई 'शाश्वत ज्योति' है। उनकी कविता के अध्ययन से पता चलता है कि उनके दार्शनिक, सामाजिक और कलात्मक विचारों के मूल में वही 'शाश्वत ज्योति' है। निराला के छायावाद का आधार यही दृष्टिकोण है।

निराला के गीत परोक्ष की रहस्यपूर्ण अनुभूति से ओतप्रोत हैं। आधुनिक हिन्दी कविता में रहस्य की कलात्मक अभिव्यक्ति की जो बहुविध चेष्टाएँ की गयी हैं, उनमें निराला की कृत्तियाँ विशेषत: उल्लेखनीय हैं। कुछ कवियों ने तो केवल रहस्यपूर्ण कल्पनाएँ ही की हैं, किन्तु निराला के काव्य का तो रहस्यवाद ही मेरुदण्ड है। उनके अधिकांश पद मानवीय जीवन-चित्र होते हुए भी रहस्यानुभूति से अनुरंजित हैं। जिस प्रकार अनेक वैष्णव कवियों के पद अधिकांशत: कृष्ण-लीला से सम्बद्ध होते हुए भी आध्यात्मिक ध्वनि से आपूर्ण हैं, वैसे ही निराला के पद हैं। निराला का रहस्यवाद उपनिषदों के सिद्धान्तों पर आश्रित है। वे ईश्वर को सर्वव्यापी मानते हैं और इसी दृश्य को सर्वत्र देखते हुए वे गाते है—

भर देते हो,
बार-बार प्रिय, करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।
मेरे अन्तर में आते हो देख निरन्तर,
कर जाते हो व्यथा-भार लघु
बार-बार कर कंज बढ़ा कर
अन्धकार में मेरा रोदन
सिक्त धरा के अंचल को
करता है क्षण-क्षण—
कुसुम-कपोलों पर वह लोल शिशिर-कण;
तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो;
नव प्रभात जीवन में भर देते हो।

निराला का रहस्यवाद माधुर्य भावनाओं तक ही सीमित नहीं है, वरन् उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि में आत्मा के चिरन्तन सम्बन्धों की अनुभूति भी है। उसका क्षेत्र स्त्री-पुरुष के प्रणय से कहीं अधिक विस्तीर्ण और व्यापक है। निराला के 'तुम और मैं' में सुन्दर रहस्यवाद अभिव्यक्त हुआ है। कवि का वेदान्त-चिन्तन कविता के झीने अंचल में झलकता है। जीव और ब्रह्म, सृष्टि और स्रष्टा, माया और ब्रह्म के चिन्तन-कण उसमें अंकित हैं। उसमें कवि ने नाना सम्बन्धों की भावना की है। उसमें आत्मा और परमात्मा के कार्य-कारण-

सम्बन्ध को देखते हुए भेद में अभेद की प्रतिष्ठा की गयी है। कारण और कार्य दो होते हुए भी तत्त्वत: एक ही हैं। जीव ब्रह्म का अंश है, व्यक्त स्वरूप है, और ब्रह्म जीव का उद्‌गम है, ठीक वैसे ही जैसे सरिता का गिरि और कविता का उच्छ्‌वास—

तुम तुंग हिमालय-शृंग और मैं चंचल गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय-उच्छ्‌वास, और मैं कान्तकामिनी कविता।
तुम प्रेम और मैं शान्ति × × ।

दार्शनिकता

छायावाद और रहस्यवाद के साथ-साथ निराला की कविता को उनके दर्शन का आभार प्राप्त है। वे भारतीय अद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं। कहीं-कहीं दार्शनिकता से उनकी कविता पर दुरूहता और दुर्बोधता छागयी है, परन्तु ऐसे स्थलों का अभाव नहीं है जहाँ उनकी कविता कल्पना, भावुकता, सरलता और मधुरता से पूर्ण है।

कवि निराला रहस्यवादी से अधिक दार्शनिक हैं। दार्शनिक तथ्यों की अवतारणा में, अभिव्यंजना में गूढ़ता और गहनता आगयी है। बुद्धि तत्त्व के प्रभाव से निराला की कविता अंग्रेजी के कवि ब्राउनिंग की रचनाओं से होड़ करती है, परन्तु जहाँ उसमें ब्राउनिंग की सी दुरूहता है वहाँ ज्ञान और चिन्ता के प्रखर आलोक की विशेषता भी है।

दार्शनिकता और रहस्यवाद

यहाँ यह न भूल जाना चाहिये कि निराला न तो कोरे दार्शनिक हैं और न केवल रहस्यवादी ही। अनेक स्थल उनकी कविता में ऐसे हैं जहाँ दार्शनिक चिन्तन से उनकी रहस्यवादिता अनुरंजित होकर चमकती है और कई स्थल ऐसे हैं जहाँ कवि की रहस्य-भावना उनकी दार्शनिकता के द्वार खोलकर काव्य में प्रवेश करती है, किन्तु ऐसे स्थानों का भी अभाव नहीं है जहाँ कविता ने 'दर्शन' का ही दर्शन किया है।

यहाँ यह बात समझने की है कि 'रहस्यवाद' और 'दर्शन' एक नहीं हैं। दोनों में अन्तर है। दोनों का लक्ष्य एक ही परोक्ष तक पहुँचने का होने पर भी दोनों की सिद्धि में भिन्नता है। महादेवी जी के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—'दर्शन के मूल में हमारी बौद्धिक अशान्तियुक्त जिज्ञासा रहती है और रहस्यवाद के मूल में प्रेम, जो सीमाबद्ध चेतन (विश्व प्राणी) एक असीम (परोक्ष सत्ता) के लिए अनुभव करता है। उस प्रेम में वह तन्मयता है जिसे सूफी सन्त 'हाल' कहते हैं और रहस्यवादी 'समाधि'। इसमें सन्देह नहीं कि कविता में हृदय तथा दर्शन में मस्तिष्क की प्रधानता रहती है, परन्तु इसका यह आशय

नहीं कि कवि के लिए मस्तिष्कहीन तथा दार्शनिक के लिए हृदयहीन होना आवश्यक है। वास्तव में दोनों का ध्येय एक ही है। भेद इतना ही है कि एक उस तक मस्तिष्क द्वारा पहुँचने का प्रयत्न करता है तो दूसरा हृदय द्वारा। कंकाल को छिपाये हुए सुन्दर शरीर कवि का सत्य है, और कंकाल मात्र दार्शनिक का। दार्शनिक जिस तत्त्व को चिन्तना द्वारा उपलब्ध करता है, कवि उसी को भावना द्वारा मूर्त रूप देता है। इसीलिए दार्शनिकों का 'शून्य', वैष्णव रहस्यवादियों की राधा का भाल-बिन्दु बन कर उद्दीप्त हो उठता है, मानों अखिल विश्व-श्री संकेतरूप से एक निर्गुण में ही केन्द्रित होकर अपने को उद्भासित करती है। इस प्रकार रहस्यवादियों का सगुण देह के भीतर देहातीत है, सीमा के भीतर असीम है, रूप के भीतर अरूप है।

कविता में चिन्तन-प्रधान (विचार-प्रधान) दार्शनिकता हिमालय के ग्लेशियर की भाँति पुंजीभूत सी लगती है, किन्तु भाव-प्रधान रहस्यवादिता गीतरूप में आर्द्रता के स्रोत सी जान पड़ती है, मानों उसमें हृदय ही पिघल गया हो। दार्शनिकता में तो वक्तृव्य जान पड़ता है किन्तु रहस्यवादिता कवित्व से छलकती है। दार्शनिकता में विचार की ऊँचाई और रहस्यवादिता में संवेदना की गहराई रहती है। निराला के काव्य में जहाँ भावना के लिए स्थान है, वहाँ कल्पना और बुद्धि तत्त्व के लिए भी। निराला का बुद्धि-विशिष्ट काव्य नयी दिशा में एक नया कदम है। नया युग नयी दिशा में चले, कला संकीर्ण न बने तो काव्य-सामग्री भी संगृहीत हो, यही निराला की नयी दिशा है। इस दृष्टि से साहित्यिकता के विस्तार में निराला का विशेष स्थान है।

बौद्धिक धरातल और कला

अमूर्त प्रकाश की अभिव्यक्ति निराला की कला की प्राणशक्ति है। मूर्तरूप में प्रकट होने वाले प्रकाश-चित्र भी निराला की लेखनी की विशेषता लिये हुए हैं। उनके चित्र रूप-रंग में प्रकट होकर भी अमूर्त की ही अभिव्यंजना करते हैं। उन्हीं में उनके प्रतीकों की शक्ति देखने योग्य है जिससे काव्यकला सौन्दर्य का उन्मेष करती हुई अपने लक्ष्य को सिद्ध करती है। 'सौन्दर्य ही चेतना और चेतना ही जीवन है' इस तथ्य को निराला ने अपनी कविता में प्रमाणित कर दिया है। सच तो यह है कि निराला ने अपनी दार्शनिक शिक्षा और साधना से युक्त अनूठी कल्पनाओं से अनुप्राणित जीवन-सौन्दर्य की प्रतिमा हिन्दी-कविता को प्रदान की हैं! आने वाली शताब्दियाँ भी निराला के इस व्यक्तित्व का समादर करेंगीं।

निराला ने अपनी बुद्धि-विशिष्ट रचनाओं को अभिधाशैली में और स्वच्छन्द छन्द में लिखा है। अभिधा-प्रणाली इस स्पष्टतावादी युग की मनोवृत्ति

के विशेष अनुकूल है। अभिधा में स्पष्टता अधिक है, परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि अभिधा और व्यंजना तो अभिव्यक्ति की प्रणालियाँ मात्र हैं जिनको काव्य-वस्तु के सामने प्रमुखता नहीं दी जा सकती। निराला-जैसा एक क्रान्तिकारी कवि नवीन प्रवाह को प्रणाली में बाँधने के लिए उसका दास नहीं बन सकता। यही कारण है कि निराला की बुद्धि-विशिष्ट रचनाएँ अभिधाशैली और स्वच्छन्द छन्द में हैं।

इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि काव्य को मूर्ताधार प्रदान करने वाली व्यंजना प्रणाली का निराला से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। संकेत, प्रतीक आदि के द्वारा अमूर्त को मूर्त रूप देने के लिए निराला ने व्यंजना का आश्रय लिया है।

आधुनिक हिन्दी कविता में भावना की प्रमुखता हो चलने पर भी निराला की बौद्धिकता उसके साथ-साथ ही रही। कवि द्वारा प्रतिष्ठित 'काव्य-निर्वाह' शब्द इसी बुद्धि-तत्त्व का संकेत है जिसके प्रति निराला का सदैव आग्रह रहा है। आधुनिक भावना-प्रधान कविता में निस्संगता लाने में निराला की 'बौद्धिकता' ने अमोघ शक्ति दिखलायी है। इससे कोरी भावुकता या कल्पनातिरेक को संगठित कला का रूप मिला है। 'अधिवास' में बुद्धि और भावना के संग्रथन को देखिये--

> उसकी अश्रु भरी आँखों पर
> मेरे करुणांचल का स्पर्श
> करता मेरी प्रगति अनन्त
> किन्तु तो भी है नहीं विमर्ष,
> छूटता यद्यपि अधिवास
> किन्तु फिर भी न मुझे कुछ त्रास।

निराला की छोटी छोटी रचनाओं में ही नहीं, वरन् 'यमुना', 'बासन्ती', 'स्मृति', 'वसन्त-समीर', 'बादल-राग' आदि बड़ी बड़ी कृतियों में भी इस संग्रथन की सफलता सिद्ध हुई है। इनमें बुद्धितत्त्व अपना स्वतंत्र अस्तित्व छोड़कर भावना में घुल-मिल गया है। इस तल्लीनता के वातावरण में काव्य-वैभव का विशेष विकास हुआ है।

निराला का उत्कर्ष हमें वास्तव में वहाँ मिलता है जहाँ उनके काव्य में युगभावना और कल्पना के साथ सचेत बुद्धि-तत्त्व का विनिवेश है। इससे काव्य-कला का बड़ा हित हुआ है। भावनात्मक उद्गारों की बाढ़ और कलापक्ष की उपेक्षा के काल मे निराला की बौद्धिकता की प्रतिपादना ने कला को

डूबने से बचाया। कला-पक्ष में नये पथ का प्रदर्शन कर निराला ने युग-प्रवर्तक का काम किया। मुक्त छन्द के साथ प्रौढ़ एवं प्रशस्त पद-विन्यास भी निराला की ही देन है। अत्यन्त सार्थक शब्द सृष्टि द्वारा उन्होंने हिन्दी को अभिव्यक्ति की विशेष शक्ति प्रदान की। संगीतज्ञ होने के कारण शब्द-संगीत परखने और व्यवहार में लाने में वे आधुनिक हिन्दी के दिशा प्रदर्शक हैं।

निराला की दार्शनिक पंक्तियाँ तर्कनापूर्ण ही नहीं, बल्कि किन्हीं गीतों में चिन्तनापूर्ण भी हैं—यथा "हमें जाना है जग के पार" वाले गीत में। 'तर्क' बुद्धि के कोरे पांडित्य का द्योतक है और 'चिन्ता' बुद्धि की सचेतता (जागरूकता) की। चिन्तना जब मस्तिष्क से उतरकर हृदय में लीन हो जाती है, तभी उसे भावना का सरस रूप मिलता है। एक से अनुभूतियों का सन्धान होता है और दूसरी (भावना) से उनका संचयन। भावना से अनुभूति का जो दर्शन मिलता है, काव्य के लिए वही 'दार्शनिकता' अभीष्ट एवं हृदयग्राह्य है। निराला की कविता में सर्वत्र तो नहीं, पर जहाँ-जहाँ इस प्रकार का अनुभूति-दर्शन मिलता है, वहीं हृदय का संगीत गोचर होता है।

जहाँ कवि की बौद्धिकता से कविता बोझिल हो गयी है वहीं उसने गद्य का सा रूप धारण कर लिया है। बौद्धिकता की बाढ़ में कई भावनामयी कविताएँ भारी पड़ गयी हैं। 'बासन्ती' की ये पंक्तियाँ कुछ अनुमान करा सकती हैं—

"अति गहन विपिन में जैसे,
गिरि के तट काट रही हैं—
नव नव जलधाराएँ, वैसे,
भाषाएँ सतत बही हैं।

निराला के कई गीत वाक्य-ज्ञान से बोझिल हैं। वाक्य-ज्ञान के लिए अधिक उपयुक्त स्थली गद्य है, पद्य इसके बोझ से दबकर अपना रूप नहीं तो प्राण तो बदल ही देता है। हाँ निराला के अतुकान्त मुक्त छन्द में वाक्य ज्ञान को उचित गौरव प्राप्त हुआ है। पंचवटी-प्रसंग में यह गौरव दर्शनीय है।

नये प्रयोग और कला

निराला किसी 'वाद' के बंधन में बँधकर रहने वाले कवि नहीं हैं। उनके नये प्रयोगों से यही सन्देश मिलता है। 'कुत्ता भौंकने लगा', 'डिप्टी साहब आये', 'वर्षा' आदि उनके प्रयोगात्मक शब्द-चित्र हैं जो नयी दिशा में उनकी प्रगति की सूचना देते हैं। ऐसी रचनाओं में सभी भावों का संनिवेश मिलता है। कहीं करुणा, कहीं क्षोभ, कहीं उत्साह, और कहीं मार्मिक व्यंग्य सामूहिक रूप से व्यक्त होता है। वैभव और कष्टों की विषमता के निरूपण से विचार की तीव्रता की दिशा में भी निराला की वर्णनात्मक रचनाओं ने युग-पद-चिह्नों की अभिव्यक्ति की है।

हिन्दी में मुक्त छन्दों के आरंभिक प्रयोग का श्रेय निराला को ही मिला है। काव्य की पुरातन प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह प्रदर्शित करके उसको (काव्य को) रूढ़िगत बंधनों से मुक्त करने का साहस भी इन्हीं महानुभाव ने किया है। काव्य की मुक्ति के आन्दोलन में उन्होंने जिस विद्रोह का सामना किया वह उनके साहस का प्रमाण है। निराला की मुक्त-छन्द-प्रणाली आज अधिकाधिक प्रचलित हो रही है, यह उनके प्रयास की सफलता है। काव्य को संगीत के और संगीत को काव्य के अधिक पास-पास लाने का उनका प्रयास भी अपूर्व है।

काव्य-मुक्ति के आन्दोलन में कवि निराला एक धारणा लेकर अवतीर्ण हुए। उन्होने सोचा और कहा कि "मनुष्यों की मुक्ति कर्मो के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना। मुक्तकाव्य सभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, किन्तु उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है जो साहित्य के कल्याण का ही मूल होती है। जैसे बाग की बँधी और वन की खुली प्रकृति, दोनों ही सुन्दर है, पर दोनों के आनन्द तथा दृश्य दूसरे-दूसरे हैं। जैसे आलाप और ताल की रागिनी—इनमें कौन अधिक आनन्दप्रद है, यह बतलाना कठिन है, पर इसमें सन्देह नहीं कि आलाप वन्य प्रकृति तथा मुक्त-काव्य-स्वभाव के अधिक अनुकूल है।"

मुक्त छन्द

मुक्त छन्द के सम्बन्ध में कवि का मत है कि "जहाँ मुक्ति रहती है वहाँ बन्धन नहीं रहते, न मनुष्यों में, न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही है बन्धन से छुटकारा पाना। यदि किसी प्रकार का शृंखलाबद्ध नियम किसी कविता में मिलता गया तो वह कविता उस शृंखला से जकड़ी हुई होती है। अतएव हम उसे मुक्ति के लक्षण में नहीं ला सकते। मुक्त छन्द तो वह है जो छन्द की भूमि में रहकर भी स्वतंत्र है।"

वस्तुतः छन्द की गति, प्रवाह या लय ही इसे छन्द की कोटि में लेजाती है, केवल गद्य नहीं रहने देती, परन्तु किसी प्रकार (मात्रा, गण या वर्ण) का बन्धन न होना इनकी मुक्ति है।

मुक्त छन्द में किसी भी छन्द की लय हो सकती है, किन्तु उस छन्द विशेष का, मात्रा या वर्ण का, बन्धन उसे मान्य नहीं। उसमें अंत्यानुप्रास होना भी अनिवार्य नहीं है। यह कवि की इच्छा पर निर्भर है कि वह उसका नियोजन करे या न करे। इस छन्द के चरण छोटे भी हो सकते हैं और बड़े भी। इसकी आकृति-प्रकृति पर कोई नियंत्रण न होने से ही शायद प्राचीन परम्परावादियों ने इसे 'रबड़-छन्द', और 'केंचुआ-छन्द' तक कह डाला है।

मुक्त छन्द लय-प्रधान ही होता है, अतएव उसका मात्रिक, वार्णिक कैसा भी स्वरूप हो सकता है। दोनों प्रकार के मुक्त छन्दों का प्रयोग निराला ने किया

है। अन्त्यानुप्रास के जड़-बन्धन से कविता को मुक्त करता हुआ कवि मुक्तिमती प्रेयसी से अपूर्व क्रान्ति के स्वर में कहता है—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्ध विकच इस हृदय कमल में आ तू,
प्रिये छोड़कर बंधनमय छन्दों की छोटी राह,
गजगामिनि वह पथ तेरा संकीर्ण;
कण्टकाकीर्ण।

निराला के मुक्त छंद केवल रूप में ही क्रान्ति के चिह्न नहीं हैं, रंग या भाव में भी क्रान्ति के चिह्न हैं। वह क्रान्ति है प्रकृति में मानवीयता का आरोप—प्रकृति का मानवीकरण। इसी के सहयोग से कवि का छायावाद प्रस्फुटित हुआ। छायावाद के क्षेत्र में ऐसे ही भाव विधान की आवश्यकता है।

गीत

अन्यत्र यह तो कहा ही जा चुका है कि संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक समीप लाने का प्रयास भी निराला ने ही किया है। गीतकार के रूप में वे शताब्दियों तक अमर रहेंगे। उनके गीत अंग्रेजी संगीत से प्रभावित हैं। उन्होंने स्वयं कहा है—"राग-रागनियों में भी स्वतन्त्रता ली गयी है। भाव-प्रकाशन के अनुकूल उनमें स्वर-विशेष लगाये गये हैं—उनका शुद्ध रूप मिश्रित हो गया है। यह प्रकाशनवाला बोध पश्चिमी संगीत बोध के अनुसार है।"

अंग्रेजी कवियों विशेषतया वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शेली आदि की रचनाओं के प्रभाव से आधुनिक गीतभावना को बड़ा बल मिला है। छायावादी कवियों का पथ तो इन्हीं के प्रकाश में प्रशस्त हुआ है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि छायावादी काव्य अपने सम्पूर्ण रूप और विकास में भिन्न नहीं है। इस काव्य की अपनी विशेषता है जिसको शैली और स्वतन्त्रता की प्रेरणा अंग्रेजी काव्य से मिली है, पर भाव एवं संस्कृति की धारा अधिकांशतः अपनी है। इसी प्रभाव के फलस्वरूप मानव एवं प्रकृति के प्रेम से सम्बन्धित गीतियों का विकास दीख पड़ता है। निराला के प्रेम-गीत मानव, नारी, देश-प्रेम, कृषक, मजदूर, भिखारी, विधवा आदि विषयों को लेकर आविर्भूत हुए हैं। नारी-प्रेम स्वच्छन्दतावाद की विशेष देन है। नारी के सौन्दर्य और प्रेम को प्रगीतात्मकता में ढालने का काम निराला से पहले हिन्दी में नहीं हो सका था। अंग्रेजी साहित्य की छाया में उन्होंने प्रगीतात्मकता की लहरियों से नारी के सौन्दर्य और प्रेम के सूत्रों से सुन्दर गीत पट तैयार किये हैं। प्रेमगीत के अन्तर्गत प्रेम के सम्बन्ध में लिखते हुए निराला ने नर-नारी की पारस्परिक प्रेम-भावना का सुन्दर एवं मधुर वर्णन हिन्दी कविता को दिया है।

निराला के अधिकांश गीतों में गेयत्व और कवित्व अधिक है, पर स्वानुभूति का सीधा प्रकाशन कम है। यह भारतीय परम्परा का ही प्रभाव है। उनके वर्णन में तीव्रता, प्रभावोत्पादकता, और चटक है, किन्तु शुद्ध आत्मानुभूति कम है। उदाहरण देखिये—

"रूखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी।
देख खड़ी करती तप अपलक
हीरक सी समीरमाला जप
शैल-सुता अपर्ण-अशना
पल्लव-वसना बनेगी, वसन वासन्ती लेगी।"

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि "निरालाजी के गीत मानव जीवन के प्रवाह से निखरे हुए और फिर प्रकाश से चमकते हुए हैं। उनमें क्लिष्ट कल्पनाओं और उड़ानों का अभाव है, किन्तु यही उनकी विशेषता है। उनमें नैस-र्गिकता और साधना का बल है। वे आरम्भ से एकरस है और शायद अन्त तक एकरस रहें। यही उनकी नैसर्गिकता है। शायद कविता में इन्द्रजाल देखने की कामना रखने वालों को इन गीतों से अधिक सन्तोष न हो, किन्तु उनमें जो गुण हैं, कला की जो भंगिमाएँ हैं, प्रकाश-रेखाओं की जैसी सूक्ष्म और मनोरम गतियाँ हैं, वे इन्हीं में है। हिन्दी में ये विशेषताएँ कम मिलेंगी। इन गीतों में असाधारण जीवन-परिस्थितियों और भावनाओं का अधिक प्रत्यक्षीकरण नहीं है। फिर भी इनमें व्यापक जीवन का प्रखर प्रवाह और संयम है। गति के साथ भी आनन्द और विवेक के साथ भी आनन्द मिला हुआ है। दोनों के संयोग से बना हुआ यह गीत-काव्य विशेष स्वस्थ सृष्टि है।"

"रहस्य-प्रवाह के कारण कवि-रचित साधारण जीवन के गीत भी असाधारण आकर्षण रखते हैं। उनके गीतों में कतिपय प्रार्थना-परक और कति-पय वस्तु-निर्देश-परक हैं।" कहीं शुद्ध अमूर्त प्रकाशमात्र और कहीं मूर्त कामिनी या माँ आदि रूप हैं।

निराला के कुछ पद प्रेमा-भक्ति की पराकाष्ठा प्रकट करते हैं। 'प्रिय, यामिनी जागी' आदि पदों में इस युग के कवि के द्वारा भक्तों की श्री राधा की ही अवतारणा हुई है। निराला के मानवीय चित्रों में सम्भावनाओं के संयत और सजीव सौन्दर्य का आलेखन है। इनमें कोई रहस्य न होते हुए भी, रहस्यवादी कवि का स्वर अवश्य सुनायी पड़ता है। इनमें अपूर्व आकर्षण है। इन गीतों में लौकिक की अवतारणा अलौकिक स्तर पर हुई है। इससे सिद्ध है कि निराला के इन गीतों में भी रहस्यवादी साहित्य-साधना का ही विकास हुआ है। उनके दार्शनिक गीतों के अतिरिक्त बहुत से प्रेम के गीत भी हैं।

उनके शृंगार-परक गीतों में मधुर भावों की अनूठी व्यंजना हुई है। हाँ, कहीं-कहीं उनमें आलंकारिक बन्धन अधिक हैं।

काव्य-रूप

निराला की कविताएँ मुक्तक होते हुए भी निबन्धात्मक हैं। पंत की कविताओं की भाँति एक ही मुक्तक में अनेक भावों का समावेश नहीं है, वरन् एक मुक्तक में एक ही भाव की पूर्णता है। जिस प्रकार गद्य में विचारों की पुष्टि की सतर्कता उन्हें निबन्ध रूप दे देती है, उसी प्रकार कविता में भी युक्ति-प्रतिपादन के सम्बन्ध से भावों को निबन्ध का स्वरूप मिल जाता है। पन्त की मुक्तक कविताओं में यह विशेषता नहीं है। 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' तो निराला के प्रौढ़ खंडकाव्य हैं जिनमें कथा का प्रसार और निर्वाह दोनों संयुक्त हैं। निराला के प्रबन्ध हों या मुक्तक, दोनों की आधार-शिला संस्कृति है। गीत-काव्य के क्षेत्र में निराला की देन अविस्मरणीय है। निराला के भावों और विचारों से उनके अन्तर का परिचय तथा काव्य-शैली से उनके रूप का परिचय सहज ही में मिल जाता है।

भाषा

निराला की भाषा खड़ी बोली है। उनकी भाषा पर कहीं-कहीं संस्कृत का प्रभावातिशय स्पष्ट ही है। 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' में संस्कृत तत्समों की प्रधानता होने के साथ-साथ समास-बहुलता भी है। प्रिय-प्रवास की भाषा में कहीं इतनी दुरूहता नहीं जितनी 'राम की शक्तिपूजा' में कहीं-कहीं है। नमूना देखिये—

> आज का, तीक्ष्ण-शर विधृत-क्षिप्र-कर, वेग-प्रखर,
> शत शेल-संवरणशील, नीलनभ-गर्जित-स्वर,
> प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह, भेद-कौशल-समूह,—
> राक्षस-विरुद्ध प्रत्यूह, क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
> विच्छुरित वन्हि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,
> लोहित, लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
> राघव-लाघव-रावण-वारण, गत-युग्म-प्रहर,
> उद्धत-लंकापति-मूर्च्छित-कपिदल-बल-विस्तर,-
> अनिमेष-राम-विश्वजिद्दिव्य-शर-शर-भंग-भाव,-
> विद्धांग-बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि-खर-रुधिर-स्राव

इसे देखकर आठवीं शताब्दी की संस्कृत कविताओं का स्मरण आ जाता है। इस प्रकार की दुर्बोध और क्लिष्ट भाषा निराला की रचनाओं में बहुत कम स्थलों पर दीख पड़ती है, अन्यथा कवि ने प्रायः शुद्ध खड़ी बोली का ही प्रयोग

किया है। कवि की भाषा में प्रवाह है। शब्द-योजना में कवि का व्यक्तित्व स्पष्टत: झलकता है। कहीं-कहीं तो भाषा इतनी सरल और प्रांजल है कि उसकी समता मिलना दुर्लभ है। देखिये—

कहाँ ?—
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा ?—'रुकती है गति जहाँ ?'
भला इस गति का शेष—
संभव क्या है—
करुण स्वर का जब तक मुझ में रहता आवेश ?
मैंने 'मैं' शैली अपनाई
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
झट उमड़ वेदना आई × × × × ×

निराला की भाषा भावों का अनुसरण करने वाली है। शब्द-चयन भी तदनुरूप है। 'जूही की कली' में जब कवि समीर की तीव्र गति का वर्णन करता है तो ह्रस्व वर्णों की योजना से शब्दों की गति में समीर का प्रवाह भर देता है :—

फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित-गहन-गिरि-कानन
कुंज-लता-पुंजों को पारकर
पहुँचा—

निराला ने भाषा को आश्वस्त और प्रतिष्ठित किया है। उर्दू शब्दों को खड़ी बोली में स्थान देकर उर्दू-फारसी के प्रतीकों को अपने प्रतीकों के साथ उचित सम्मान दिया है। 'जलती अन्धकारमय जीवन की एक शमा हैं' में 'शमा' का प्रयोग भाषा की प्रतिष्ठा का द्योतक है। मुहावरों के बाहुल्य ने भी भाषा को प्रतिष्ठा देने का उपक्रम किया है। प्रसाद और शायद गुप्तजी की भाषा भी इतनी मुहावरेदार नहीं है।

अलंकारों से सौन्दर्य-वर्णन बड़ा मनोहर बन गया है। शब्दालंकारों का प्रयोग तो है ही, पर रूपक और उपमा की बहुलता है। ओज के साथ-साथ उनकी भाषा में 'प्रसाद' और 'माधुर्य' भी पर्याप्त हैं।

१६

नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र रीतिकाल और आधुनिक काल की सम्मिलित सीमा पर खड़े होकर दोनों कालों से अपना सम्बन्ध स्थापित रखते हैं। रीतिकाल से मिले हुए वरदान के फलस्वरूप उनका कवि निर्मित हुआ है और आधुनिक काल के निमित्त वे वरदान लिये खड़े दीखते हैं जिसमें उनका क्रांतिकारी गद्यकार प्रमुख है। भारतेन्दु के ये दो भिन्न स्वरूप उनके नाटकों में संश्लिष्ट हो गये हैं। यद्यपि नाटकों में उनका कवि प्रमुख है, किन्तु उनकी उद्‌बोधनशील प्रतिभा ने उनके मौलिक नाटकों को जो विषय और प्रतिपत्ति दी है उसमें उनकी प्रगतिशीलता की झाँकी अवश्य मिलती है। वे नवीन परिस्थितियों में पनप सकने वाले प्राचीन का आदर करते हैं, किन्तु, जिसकी गति क्षीण हो गयी है और जो अपने प्रारोहण से नूतन को प्रांकुरित नहीं होने देता, ऐसे रूढ़ प्राचीन को उच्छिन्न कर देने में वे अपना अथवा समाज का अहित नहीं मानते।

भारतेन्दु जन्मजात कवि थे। उन्हें सरस कवि-हृदय मिला था। उनकी अभिव्यक्ति में उद्दाम प्रवाह और तरल मंजुलता थी जिसका प्रभाव उनके नाटकों पर भी पड़ा। उनके अनूदित नाटकों तक पर भी उनकी काव्यमयी अभिव्यक्ति की छाप स्पष्ट है। मौलिक नाटकों में तो कवि भारतेन्दु को पाठक और दर्शक कभी भुला ही नहीं सकते। उनके कवि-हृदय में प्रेम की अनूठी पुलक दृष्टिगोचर होती है। देश, प्रकृति, जाति, संस्कृति, साहित्य और ईश्वर के प्रेम की प्रथुल लहरें कभी-कभी उनकी निर्णायिका बुद्धि को भी रस-विभोर कर देती हैं जिसके परिणामस्वरूप वस्तु और व्यापार का प्रवाह शिथिल होजाता है। काशी, गंगा, यमुना आदि के वर्णनों में इसी प्रकार का नाट्य-शैथिल्य दिखायी देता है।

कहना न होगा कि भारतेन्दु सिद्धवाणी के अत्यन्त सरस हृदय कवि

थे। इससे एक ओर तो उनकी लेखनी से शृंगार-रस के ऐसे रसपूर्ण और मार्मिक कवित्त-सवैये निकले कि वे उनके जीवनकाल में ही चारों ओर लोगों के मुँह से सुनायी पड़ने लगे और दूसरी ओर स्वदेश प्रेम से भरी हुई उनकी कविताएँ चारों ओर देश के मंगल का मन्त्र फूँकने लगीं। "अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से वे एक ओर तो पद्माकर और द्विजदेव की पंक्ति में खड़े दिखायी देते हैं और दूसरी ओर बंग देश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। उन्हें हम एक स्थान पर राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए एक नयी भक्तमाल गूँथते देखते हैं, और दूसरे स्थान पर मन्दिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर मानों व्याख्यान देते पाते हैं।" प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की नाट्यकला का विशेष माधुर्य है।

साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में प्रकट होकर उन्होंने साहित्यकारों को यह सिखाने का प्रयत्न किया कि नये-नये या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार समन्वित कर लेना चाहिये कि वे अपने साहित्य के विकसित अंग से प्रतीत होने लगें। प्राचीन और नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं। उन्होंने समन्वयवादी साहित्यकार के रूप में समय के अनुरूप साहित्य में 'अच्छा' लाने की चेष्टा सदैव की, किन्तु 'अच्छा' के सम्बन्ध में उनका अपना मत था जिसमें कथानक, रचना-विधि, भाषा, रस और आदर्श के प्रश्न प्रमुख थे। शृंगार, हास्य और कौतुक के प्रति उनकी विशेष रुचि थी और समाज-संस्कार तथा देशवत्सलता उनका प्रमुख स्वर था। अपने नाटकों में इन सबका निर्वाह उन्होंने बड़े दत्त-चित्त होकर किया।

भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी-नाटक के विकास की बात तो दूर रही उसका उदय भी डाँवाडोल था। रीतिकाल में अलंकार-ग्रन्थों की प्रचुर सामग्री संस्कृत से हिन्दी में अवतरित हुई, किन्तु उस समय के आचार्य लोग भी हिन्दी के नाटक-साहित्य से उदासीन रहे। इसका बहुत बड़ा कारण यह था कि वह जातीय उत्साह जो नाटकादि खेल-तमाशों के लिए आवश्यक होता है, अब देश से उठ गया था। मुसलमान शासकों का नाटकादि से धार्मिक विरोध था और उनके कारण हिन्दुओं की रुचि भी दब गयी थी। अभी एक दौड़-धूप और मार-काट का समय समाप्त नहीं हुआ था और उसमें खेल-कूद और हर्षोल्लास के लिए अवकाश नहीं था। अभी तक साहित्यिक गद्य भी प्रचलन की प्रतीक्षा कर रहा था। इन सब कारणों से हिन्दी में नाटक-साहित्य की परम्परा का सूत्रपात नहीं हुआ। अब तक जो थोड़े-बहुत नाटक हिन्दी में लिखे गये थे उनमें से कुछ तो सही अर्थ में नाटक कहलाने के अधिकारी नहीं थे और जो थे वे स्फुट उद्योग

के रूप में ही प्रकट हुए थे। उनमें किसी साहित्यिक परम्परा का निर्माण नहीं हुआ था।

साहित्यिक इतिहासकारों का मत है कि 'आनन्द रघुनन्दन' के पश्चात् 'नहुष' नाटक ही नाटक अभिधा को सार्थक करता है। इसके रचयिता भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र जी (गिरधरदास जी) थे। भारतेन्दु के अनुसार इसमें नाटकीय नियमों का विधिवत् पालन हुआ है। यह मौलिक नाटक है और इसमें भी पद्य का प्राधान्य रहा है; गद्य और पद्य, दोनों ब्रजभाषा में है।

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भारन्तेन्दु के नाटकों के पीछे एक पैतृक परम्परा रही है। यह कहना ठीक है कि भारतेन्दु को काव्य और नाटक की प्रेरणा अपने पिता से मिली थी, किन्तु उसमें कुछ योग उनके समय की परिस्थितियों का भी था जिनमें से प्रमुख थीं—राजनीतिक वातावरण में शान्ति, अंग्रेजी और संस्कृत के अनूदित नाटकों का अभिनय, खेल-तमाशों को राजकीय प्रोत्साहन, खड़ी बोली-गद्य का आविर्भाव तथा नये प्रकाश का स्वागत।

अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से आधुनिक भारतीय साहित्य को एक नया प्रकाश मिल चुका था। अंग्रेजी नाटकों के प्रचलन के फलस्वरूप बंगाली नाटकों पर उनकी छाया पूरी तरह पड़ चुकी थी। भारतेन्दु की गति संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी, तीनों भाषाओं के साहित्य में थी। उन्होंने इसका पूरा पूरा लाभ उठाया। उनके धर्म ने उनके मार्ग में कोई व्यवधान प्रस्तुत नहीं किया। कट्टर वैष्णव कुल में उत्पन्न होकर भी उन्होंने नये प्रकाश के स्वागत के लिए अपनी संतुलनात्मिका बुद्धि के द्वार खोल दिये थे जिसका श्रीगणेश उनके पिताजी ने ही कर दिया था। उनके पिता अंग्रेजी पढ़े हुए न होने पर भी अपने समय के स्वरूप से भलीभाँति परिचित थे। पिता के संस्कारों का पुत्र भारतेन्दु में कुछ और अधिक विकास हुआ और प्राचीन एवं नवीन के सुखद समन्वय से उनके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। उनका नाटक-साहित्य भी इसी समन्वय का परिणाम है। इसी कारण उनके नाटक न तो पुरानी लकीर के फकीर हैं और न एकदम नये हैं। इस समन्वय को कुछ आलोचकों ने उनका दोष बतलाया है।

कहा जाता है कि 'रत्नावली', 'पाखंड-विडंबनम्', 'धनंजय विजय', 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूरमंजरी', और 'दुर्लभ बन्धु' भारतेन्दु के अनूदित नाटक हैं। इनमें से पहले चार संस्कृत से अनूदित हैं, पाँचवा प्राकृत से और छठा अंग्रेजी से अनूदित है। अनूदित नाटकों के सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त है कि भारतेन्दु अनुवाद-कर्म में बहुत सफल हुए हैं। उनके अनूदित नाटकों में मौलिक रचना का सा आनन्द आता है। अनुवाद के लिए चुने हुए नाटकों के पीछे भी अनुवादकर्ता की वृत्ति विशेष निहित है जिसमें जागरूकता का भी बहुत योग है। देश, समाज, धर्म, नीति और आचरण में क्रान्ति लाने वाली जो सामग्री

नाटक-साहित्य के रूप में जहाँ कहीं से उपलब्ध हो सकती थी, उन्होंने की। इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें संस्कृत साहित्य मे बहुत कुछ प्राप्त हुआ, किन्तु बंग भाषा के साहित्य ने भी उन्हें कुछ कम प्रेरणा नहीं दी। जिस वृत्ति ने उन्हें संस्कृत, प्राकृत और बंगला के नाटकों का अनुवाद करने के लिए प्रेरित किया उसी ने उन्हें मौलिक नाटक लिखने की प्रेरणा भी दी। फिर भी उनके निजी गुणों की खोज उनकी मौलिक रचनाओं मे ही की जा सकती है।

भारतेन्दु के मौलिक नाटक ये बतलाये जाते है—१. विद्यासुन्दर (रचना-काल—सं० १९२५), २. प्रवास (सं० १९२५), ३. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (सं० १९३०), ४. सत्यहरिश्चन्द्र (सं० १९३२), ५. प्रेमयोगिनी (सं० १९३२), ६. विषस्य विषमौषधम् (सं० १९३३), ७. चन्द्रावली (स० १९३३),. ८. भारत-दुर्दशा (सं० १९३३), ९. भारतजननी (सं० १९३४), १०. नीलदेवी (सं० १९३७), ११. अंधेरनगरी (सं० १९३८), १२. सतीप्रताप (सं० १९४१) और १३. नवमल्लिका (?)।

ये नाटकों के अनेक रूपों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इनमें से 'चन्द्रावली' और 'प्रेमयोगिनी' नाटिका, 'अन्धेरनगरी' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन, 'नीलदेवी' और 'सतीप्रताप' गीतिरूपक, 'भारत दुर्दशा' लास्यरूपक, 'विषस्य विषमौषधम्' भाण, 'भारतजननी' नाट्य गीत और 'प्रवास', 'विद्यासुन्दर', 'सत्य हरिश्चन्द्र', तथा 'नवमल्लिका' नाटक हैं। इन्होने अनुवाद के लिए भी ऐसे नाटक चुने हैं जिनमें रूपक के भेद-उपभेदों के अनेक उदाहरण मिल सकें। जैसे 'कर्पूरमंजरी' सट्टक है, 'धनंजय विजय' व्यायोग है और 'पाखण्ड विडंबनम्' रूपक है। गवेषकों ने यह भी मालूम किया है कि इन्होंने 'मृच्छकटिकम्' नामक महानाटक का भी अनुवाद किया था जो अप्रकाशित ही रहा।

कथानक की दृष्टि से भी भारतेन्दु ने प्राय: सभी प्रकार के नाटक लिखे या अनुवाद के लिए चुने हैं यथा 'प्रवास', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'सती-प्रताप', 'धनंजय विजय', कर्पूरमंजरी' और 'नवमल्लिका' के कथानक पौराणिक हैं; 'विद्यासुन्दर', 'रत्नावली', और 'दुर्लभ बन्धु' आख्यानक है; 'अंधेरनगरी', 'प्रेमयोगिनी' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' सामाजिक; 'मुद्राराक्षस' और 'नीलदेवी' ऐतिहासिक तथा 'विषस्य विषमौषधम्' और 'मृच्छकटिकम्' राज-नीतिक नाटक हैं। इनके अतिरिक्त 'पाखंड विडंबनम्' धार्मिक कथानक पर आधारित है और 'भारतजननी' तथा 'भारत-दुर्दशा' के कथानक राष्ट्रीय हैं।

इन कथानकों के आधार पर किये गये भारतेन्दु के नाटकों के वर्गीकरण से हम एक और वर्गीकरण की ओर देख सकते हैं और वह है इतिवृत्तात्मक वर्गीकरण। भारतेन्दु के अनूदित नाटकों की बात तो जाने दीजिये, उनके मौलिक नाटक कथावस्तु की दृष्टि से तीन श्रेणियों में रखे जा सकते हैं—

पौराणिक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक। पौराणिक नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', ऐतिहासिक में 'नीलदेवी' और काल्पनिक में 'भारत-दुर्दशा' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'भारत-दुर्दशा' की सृष्टि प्रतीकात्मक शैली में हुई है। उसके पात्र ही भावों, मनोदशाओं या अवस्थाओं के प्रतीक नहीं हैं, अपितु कुछ घटनाएँ भी प्रतीकार्थ देती हैं। भारतेन्दु के अधिकांश नाटक घटना-प्रधान हैं और ऐसे नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी', 'विषस्य विषमौषधम्' और 'अंधेरनगरी' प्रमुख हैं। 'चन्द्रावली' उनकी भावात्मक नाटिका है।

नाटकीय वस्तु संघटना में भारतेन्दु ने अपने ढंग से काम किया है। उन्होंने प्रमुख पात्रों के जीवन की विशेष घटनाओं के आधार पर अपने ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटकों की सृष्टि की है। उन घटनाओं में अन्य वृत्तियों के साथ प्रेम की प्रधान व्याप्ति दृष्टिगोचर होती है। प्रेम के आलंबन अधिकांशतः सत्य, ईश्वर, देश और समाज हैं। इन्हीं के सम्बन्ध में उपालम्भ, क्षोभ, आग्रह, दैन्य, विवशता, निराशा, कटुता, अनन्यता, ममता आदि भावों की अभिव्यंजना हुई है। विडम्बना, भर्त्सना, हास-परिहास आदि का प्रस्फुरण भी उन्हीं के सम्बन्ध से दृष्टिगत होता है। भारतेन्दु के नाटकों में प्रसंगों को बहुत कम स्थान मिला है। सरलता उनकी वस्तु-संघटना की विशेषता है, किन्तु उसमें क्रिया-व्यापार का अभाव अवश्य रहा है। उनके नाटकों का यह दोष होते हुए भी, उससे कथानक की रोचकता और चुस्ती बाधित नहीं होती है। वस्तु-विन्यास कथोपकथनों और घटनाओं के अलावा स्वगतों से भी हुआ है। वस्तु-विभाजन पाश्चात्य ढंग से पहले अंकों में और फिर दृश्यों में नहीं हुआ है वरन् नाटककार ने अपने ढंग से किया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' की कथावस्तु अंकों में ही विभाजित है और 'नीलदेवी' एवं 'भारत-दुर्दशा' आदि की दृश्यों में। 'विद्यासुन्दर' में नाटककार ने अंकों के अन्तर्गत गर्भांक भी दिये हैं। कुछ नाटकों में वस्तु-योजना की सहायता के लिए नाटककार ने रंग-संकेत भी दिये हैं। सब नाटकों में नान्दी-पाठ, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि का आग्रह नहीं दिखायी पड़ता। अर्थ-प्रकृतियों, कार्यावस्थाओं तथा संधियों की व्यवस्था का प्रायः सर्वत्र अभाव है। इससे नाटककार की समन्वयशीलता का परिचय मिलता है।

पात्र-योजना में भारतेन्दु ने भारतीय नाट्य-प्रणाली को सामने रखा है। विशिष्ट और साधारण दो कोटियों में व्यवस्थित पात्र एक ओर देव, ऋषि, सन्त, साधु, ब्राह्मण, राजा, सभासद, शिक्षित आदि के रूप में मिलते हैं तो दूसरी ओर मूर्ख, पाखंडी, मद्यपी आदि भी दिखायी देते हैं। साधारण पात्रों का प्रयोग देशकालानुसार अधिकांशतः प्रहसनों में हुआ है। व्यापार के अभाव के कारण उनके कई नाटकों में समुचित चरित्र विकास नहीं हो सका है फिर

भी उन्होंने धीरोदात्त आदि नायकों का अपने नाटकों में समावेश करके चरित्र को चमकाने की चेष्टा की है। नारी के चरित्र के सम्बन्ध में भी वे जागरूक रहे हैं। केवल चन्द्रावली की भक्ति से ही वे नारी-चरित्र को प्रशस्त नहीं बनाते हैं, अपितु नीलदेवी की वीरता भी भारतीय नारी के चरित्र को ऊँचा उठाने में योग देती है। आधुनिक साहित्य में नारी की बिडम्बना पर जो अश्रुपात किया गया है उसका सूत्रपात वस्तुतः भारतेन्दु के हाथों से होता है।

भारतेन्दु के पात्र अपने चरित्र की छाप हमारे मन पर लगाये बिना नहीं रहते; क्योंकि वे आदर्शवादी नाटककार जो ठहरे; किन्तु भारतेन्दु के पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व का अभाव है। ऐसा लगता है मानों वे पहले से ही अपने भविष्य के सम्बन्ध में फैसला करके आते हैं और इसीलिए वे निर्द्वन्द्व भी रहते हैं। जीवन की उठान के साथ-साथ पात्रों के व्यक्तित्व का जो विकास नाटक में अपेक्षित होता है वह भारतेन्दु के चरित्रों में नहीं है। सच तो यह है कि वे अपने पात्रों के हृदय में पैठ नहीं सके हैं। इसीलिए मनोवैज्ञानिक झाँकियाँ या तो मिलती नहीं, और मिलती हैं तो बड़ी क्षीण एवं धुँधली। इस अभाव का उत्तरदायित्व समय की पुकार, हिन्दी के प्रचार और व्यक्तिगत जीवन की व्यस्तता पर डाला जाता है। अपने पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिए उन्होंने प्रायः कथोपकथन एवं स्वगत-भाषण का आश्रय लिया है; हाँ, कहीं-कही कार्य-व्यापार का सहयोग भी दिखायी पड़ता है। चरित्र-चित्रण की दिशा में हिन्दी नाट्य-साहित्य को भारतेन्दु की कोई विशेष मौलिक देन नहीं है।

भारतेन्दु के पात्र वर्ग-भावना से असंपृक्त नहीं है। उनके प्रायः सभी पात्र किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। पात्रों के वर्गवाद का प्रमाण उनके कथोपकथनों से मिलता है। प्रत्येक पात्र अपने वर्ग के अनुकूल संवाद का रूप प्रस्तुत करता है और प्रत्येक अपने वर्ग की मर्यादा का अनुपालन भी करता दीख पड़ता है। मूर्ख से पंडितों की सी बातें नहीं सुनी जातीं और न पंडित मूर्खों की बातें करता मिलता है। भारतेन्दु के कथोपकथन राजा को राजा, कवि को कवि, सज्जन को सज्जन और पाखण्डी को पाखण्डी ही व्यक्त करते हैं। इसलिए उनकी भाषा भी अनेक रूप धारण करती हुई प्रतीत होती है। परिस्थितियाँ भी संवादों की भाषा को प्रभावित करती हुई दिखायी पड़ती है, यथा चन्द्रावली की भाषा विलाप के समय कुछ और है और सखियों के साथ झूला झूलते हुए कुछ और।

रंगमंच के ऊपर कभी-कभी तीनों पात्रों तक संवाद फैल जाता है। वस्तु के विस्तार में न केवल कथोपकथन से ही सहायता ली जाती है, अपितु स्वगत-कथन भी इस दिशा में बड़े सहायक होते हैं। कभी-कभी व्याख्या और विश्लेषण कथोपकथन की मार्मिकता को ध्वस्त कर देते हैं और कभी-कभी इनका

उलटा प्रभाव भी पड़ता है। स्वगत-कथन से पात्रों की मनोदशा और अंतर्भावना दर्शकों के सामने आ जाती है। इस सम्बन्ध में कथोपकथन भी सहायक हो जाते हैं।

भारतेन्दु के नाटकों में संवाद प्राय: बड़े-बड़े नहीं हैं, किन्तु उनके स्वगत कहीं-कहीं बहुत लम्बे हो गये हैं, जिनमें सरसता के स्थान पर कभी-कभी पाठक को ऊब भी प्रतीत होने लगती है। भावुकता इनके कथोपकथनों की विशेषता है। प्रहसनों के कथोपकथन हास्य से तरल है। इनके संवाद न तो अधिक काव्यात्मक हैं और न अधिक दार्शनिक, किन्तु कहीं-कहीं पारसी कम्पनियों की शैली का प्रभाव उन पर अवश्य दिखायी देता है।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों में देश और काल का विशेष ध्यान रखा है। उनमें तत्कालीन जीवन का प्रत्येक पहलू दर्शक के सामने ला रखने का प्रयत्न किया गया है। उस समय प्रमुख प्रश्न पाश्चात्य सभ्यता से समझौता करने का था और अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति के परिवेश में हमारी सामाजिक कुरीतियाँ और कुप्रथाएँ नग्न रूप लेकर हमारे सामने आ रही थीं। अपनी दुर्बलता अपनी शत्रु बन रही थी। जिस प्रकार पाखण्ड और दम्भ हमारे धर्म को खोखला कर रहे थे उसी प्रकार अपनी सांस्कृतिक विस्मृति, अपनी भाषा, सत्पद्धति और संस्कारों से दूर खींच रही थीं। धार्मिक उत्पात हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए बड़े मँहगे पड़ रहे थे। हिन्दी और उसका साहित्य अंग्रेजी और फारसी में मानों विलुप्त होता जा रहा था। भारतेन्दु ने एक साहित्यिक प्रहरी का काम किया और अपने नाटकों के द्वारा (अन्य विधाओं से भी) अपने देश और समय की सही कहानी समाज के सामने प्रस्तुत कर दी। जिस प्रकार भारतेन्दु ने सामाजिक जीवन को सामने रखा उसी प्रकार उन्होंने धार्मिक आदर्शों को भी सामने रखा। राम और कृष्ण उनके सामने थे; हरिश्चन्द्र उनके सामने थे, किन्तु वेदान्ती, शैव, बंगाली, एडीटर, कवि, शरीफ, चपरगट्टू आदि भी उनके सामने थे। इसलिए उनके नाटकों में देश-काल की जो अवतारणा हुई है वह न तो यथार्थ-मात्र है और न आदर्श-मात्र। वातावरण को परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर उसमें समाज को अभ्यस्त कर देना उनका लक्ष्य था और साहित्यिक दृष्टि से वे अपने नाटकों के द्वारा सफल भी हुए।

भारतेन्दु की देशकाल योजना में कुछ त्रुटियाँ भी हैं और वे ये हैं कि उन्होंने अपने समय के देहात को भुला दिया है मानों सारा जीवन काशी-जैसे बड़े नगरों में ही सिमिट आया हो। काशी की गंगा का वर्णन करके उन्होंने गंगा के उन्मुक्त स्वरूप को भुला दिया है और उनकी दृष्टि केवल घाटों की गंगा पर ही केन्द्रित हो गयी है। इसके अतिरिक्त प्राचीन पात्रों को आधुनिक वेश-भूषा

में प्रस्तुत करना भला उपहास्य नहीं तो क्या है। एक-दो स्थान पर इन्होंने ऐतिहासिक सीमाओं का उल्लंघन भी किया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में गंगा का वर्णन ऐतिहासिक व्यतिक्रम का ही एक उदाहरण है। भला भागीरथ के पूर्वज हरिश्चन्द्र के समय में गंगा काशी में कहाँ से आ गयी ?

अभिनय के निकष पर भारतेन्दु के नाटक बहुधा पूरे उतरते है। उनकी अभिनेयता की सफलता के मूल में पारसी कम्पनियों की धूम थी, जिनसे दूषित मनोवृत्तियों का समाज में प्रसार हो रहा था। जनता में उनके प्रति विशेष आकर्षण था। भारतेन्दु के नाटकों का जन्म इस वातावरण से सम्बन्धित एक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ, और उन्हें अभिनेय बनाने के प्रयत्न में उन दूषित मनोवृत्तियों की उत्सारणा का ध्यान बड़ा सहायक हुआ। अभिनय सम्बन्धी दोष उनके नाटकों में अब तक चले आते हैं, क्योंकि उन सबका अभिनय उनके समय में ही न हो सका और दोष ज्यों के त्यों रह गये।

भारतेन्दु नाटककार के अलावा स्वयं अभिनेता भी थे, और अपने नाटकों के कथानक, वस्तु-संगठन, अंक-योजना, वस्तु-योजना, रंग-संकेत और रंगमंच-संगठन के सम्बन्ध में उन्होंने अपने इस गुण का पूरा लाभ उठाया। उन्होंने अंकों और दृष्यों की पारस्परिकता का ध्यान रखकर रंगमंचीय संगठन को पुष्ट एवं सजीव बनाने का प्रयत्न किया। इसलिए रगमंच पर होने वाली भीड़ को उन्होंने अपने नाटकों में स्थान न मिलने दिया और न भड़कीले रंगमंच को ही प्रोत्साहन मिलने दिया।

समय की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटक अधिक लम्बे नहीं दीखते फिर भी कुछ नाटकों में रंगमंचोपयोगी कतर-छाँट की आवश्यकता दीख पड़ती है। कुछ दृश्य भी लम्बे हो गये हैं और कुछ संवाद या स्वगत-कथन भी। उनका छोटा होना आवश्यक है। उनके कुछ आकाश-भाषित भी परिवर्तन की अपेक्षा रखते हैं। "सत्य हरिश्चन्द्र" में यह कतर-छाँट बहुत आवश्यक है।

भारतेन्दु के नाटकों में प्राय: सभी रसों की योजना दिखायी पड़ती है। नौ रसों के अतिरिक्त उनके नाटकों में भक्ति, प्रेम, सख्य और वात्सल्य रस का भी पुटपाक हुआ है। 'चन्द्रावली' में विप्रलम्भ शृंगार, 'सत्य हरिश्चन्द्र' में वीर रस, 'नीलदेवी' में वीर रस, 'भारतजननी' में करुणा रस तथा 'अन्धेर नगरी', 'विषष्य विषमौषधम्' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में प्रधानतः हास्य रस छलकता प्रतीत होता है। अन्य रस भी स्थान-स्थान पर मिल जाते हैं।

कहा जाता है कि इनके प्रहसनों में व्यंग्य का प्राधान्य है और व्यंग्य भी बड़ा तीव्र है। कुछ आलोचकों का कहना है कि यह व्यंग्य-तीव्रता अवांछनीय है; और इस दोष का आरोप उनके "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" प्रहसन पर किया जाता है। मेरी समझ में प्रहसनों की परम्परा में भारतेन्दु का यह एक

अनूठा सहयोग था और सामयिक वातावरण के प्रतिकूल चलने वाली मनोवृत्तियों पर यह उनकी करारी चोट भी थी। जहाँ साहित्यकार स्वयं मर्माहत हो जाता है वहाँ बड़ी तीव्र प्रेषणीयता का आश्रय लेकर ऐसे ही प्रहार करता है और उनका पर्याप्त प्रभाव भी पड़ता है। प्रभाव-प्रेषणीयता की दृष्टि से भारतेन्दु का यह प्रयास बुरा नहीं था।

उनका दूसरा प्रहसन 'अंधेर नगरी' है, जिसको परिस्थिति-प्रहसन भी कहा जाता है। इसकी विशेषता है व्यंग्य तीव्रता के साथ औचित्य की प्रतिष्ठा। भारतेन्दु के प्रहसनों में यह उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। इसके संवाद बड़े मार्मिक और हास्यपूर्ण हैं। जड़वाद पर बड़ा करारा व्यंग्यात्मक आघात किया गया है जो सफल उतरा है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भारतेन्दु के सामने भाषा का एक बहुत बड़ा जटिल प्रश्न था। काव्य के लिए तो उन्होंने ब्रजभाषा को ही स्वीकार किया था, किन्तु प्रश्न तो नाटकीय कथोपकथनों की भाषा या निबन्धों की भाषा का था। खड़ी बोली की प्रगति उनके सामने थी। मुसलमानों और अंग्रेजों के सम्पर्क ने खड़ी बोली के विकास को तीव्र प्रोत्साहन दिया। सामान्य शिक्षित जनता की गिरा भी इस बोली को अपनाने लगी थी। भारतेन्दु की आँखें भी इस ओर खुली हुई थीं। वे खड़ी बोली की उपेक्षा न तो कर ही सकते थे और न करना ही चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों में गद्य के लिए खड़ी बोली और पद्य के लिए ब्रजभाषा को चुना। खड़ी बोली-गद्य में इस समय दो प्रकार की शैलियाँ प्रचलित थीं—एक तो फारसी शब्द-प्रधान और दूसरी संस्कृत-तत्सम-शब्द-प्रधान। भारतेन्दु को ये दोनों ही शैलियाँ पसन्द नहीं थीं। पहली उन्हें स्वीकार नहीं थी और दूसरी भाषा के प्रचार और प्रसार की दृष्टि से अनुपयुक्त थी। भारतेन्दु ने अपने नाटकों और निबन्धों में खड़ी बोली को एक नया रूप दिया। उसमें न तो फारसी शब्दों का बाहुल्य था और न संस्कृत-तत्समों का ही आग्रह। उन्होंने प्रभावहीन शब्दों को निकाल कर सरल संस्कृत शब्दों के साथ अंग्रेजी और फारसी के उन चालू शब्दों का प्रयोग किया जो हिन्दी के साँचे में ढलकर अपना विदेशीपन खो चुके थे। इस नयी भाषा को गति देने के लिए उन्होंने मुहावरों को भी पुरस्सर किया, किन्तु उन्होंने व्याकरण के नियमों का ध्यान सदैव रखा। इससे भाषा में सरलता और सरसता का समावेश हुआ। इसी भाषा को उन्होंने अपने नाटकों के लिए स्वीकार किया। इनकी कविता की भाषा आधुनिक ब्रजभाषा ही रही।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों में पद्य का प्रयोग खुलकर किया है। इसके दो रूप मिलते हैं—एक तो प्राचीन रूप और दूसरा नया रूप। पहला पद्य-रूप प्राचीन नाटकों की परम्परा का अनुपालन करता है और दूसरा रूप गीत-रूप

है। इनके गीतों पर पारसी नाटक मंडलियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है किन्तु भारतेन्दु के गीतों में सामाजिक स्वास्थ्य को दूषित करने वाली प्रवृत्ति का समावेश नहीं है। इन्होंने गीतों को आवेगों के घाट अवश्य उतारा है इसलिए उनमें भावुकता की छलक स्पष्ट है किन्तु उनमें न तो पारसी नाटकों का सा हल्कापन है और न नैतिक आदर्शों का बहिष्कार। इनके गीतों में या तो भाव उमड़े है या फिर कला उमड़ी है। जहाँ कला ने प्राधान्य प्राप्त किया है वहाँ गीतों में आलंकारिकता बढ़ गयी है और गीत बोझिल हो गये है, किन्तु भावप्रधान स्थलियाँ सहज रमणीयता से युक्त हैं। इनके गीतों का एक दोष यह भी है कि उनमें कहीं-कहीं आवश्यक विस्तारों को स्थान मिल गया है जिससे वस्तु-परकता भी बढ़ गयी है। इससे वस्तु-संग्रह शिथिल, और रस-प्रवाह अवरुद्ध सा प्रतीत होता है।

भारतेन्दु की गद्य-शैली के दो रूप सामने आते हैं—एक तो भावावेश की शैली और दूसरी तथ्य-निरूपण की शैली। पहली शैली में वाक्य छोटे छोटे और पदावली सरल बोलचाल की होती है जिसमें बहुत प्रचलित संस्कृत, फारसी और कभी-कभी अंग्रेजी के भी कुछ शब्द प्रयुक्त होते दीख पड़ते हैं, जैसे—

"फिर क्यों यह विषमय संसार किया? बखेड़िये! और इतने बड़े कारखाने में बेहयाई परले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें, पर वाह रे शुद्ध बेहयाई—पूरी निर्लज्जता! लाज को जूतों मार-मारकर पीटकर निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते है लाज की हवा भी नहीं जाती। हाय एक बार भी मुँह दिखा दिया होता तो मतवाले मतवाले बने क्या लड़-लड़कर सिर फोड़ते? काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे? हुक्मी बेहया हो।" —'चन्द्रावली'

जहाँ क्षोभ स्थायी होकर व्यंजित हुआ है और चिंतन को अवकाश मिला है वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गम्भीर तथा वाक्य कुछ बड़े हैं, फिर भी अन्वय में जटिलता नहीं आयी है—

"मित्र! तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो, तुम्हें इनकी निन्दा से क्या? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो? स्मरण रक्खो कि ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक-बहिष्कृत होकर इनके सिर पर पैर रखकर बिहार करोगे।" —'प्रेमयोगिनी'

तथ्य-निरूपण तथा वस्तु-वर्णन के समय कभी-कभी उनकी भाषा में संस्कृत-पदावली का कुछ अधिक समावेश होता है—

"जब मुझे अंग्रेजी रमणी-लोग मेदर्सिचित केश-राशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण, विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज निज

पतिगण के साथ प्रसन्नवदन इधर से उधर फर फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं।''

भारतेन्दु की यह असली भाषा नहीं है। उनकी असली भाषा प्रथम दो उद्धरणों में मिलती है जिसमें उनके भावुक हृदय की व्यंजना स्पष्ट है। यद्यपि यह भाषा नितान्त दोष-मुक्त नहीं है, उसमें शब्दों की खींचतान और शिथिल और कलाहीन वाक्य-विन्यास है, फिर भी अपने युग की वही उपयुक्त एवं पुष्ट भाषा थी और आगे चलकर उसी से हिन्दी-गद्य की विविध रूप-शैलियाँ विकसित हुई। आज जो भावात्मक, 'व्यंग्यात्मक, आलंकारिक, विश्लेषणात्मक आदि शैलियाँ गद्य-लोक में दिखायी पड़ती हैं उनमें से अधिकांश का मूल भारतेन्दु की गद्य-शैलियों में देखा जा सकता है।

भारतेन्दु के सही व्यक्तित्व का अनुमान उनकी भावात्मक और व्यंग्यात्मक शैलियों के माध्यम से ही किया जा सकता है। पहली का प्रयोग उन्होंने आवेग के क्षणों में किया है और उसके अनेक उदाहरण 'चन्द्रावली', 'नीलदेवी', 'भारत-जननी', 'भारत दुर्दशा' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' में मिल सकते हैं। दूसरी शैली का प्रयोग उन्होंने विनोद एवं हास-परिहास की सृष्टि के लिए किया है। यह शैली हिन्दी-नाट्य-साहित्य को भारतेन्दु की प्रमुख देन है। उनके प्रहसनों में इसी का प्रयोग है। इसके अनेक उदाहरण 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अंधेर नगरी', और 'विषस्य विषमौषधम्' में दिखायी देते हैं। अन्य दो शैलियों का प्रयोग भारतेन्दु ने किया अवश्य है किन्तु एक का क्षेत्र कला-कौशल और दूसरी का दार्शनिक निरूपण है। इनमें भारतेन्दु की प्रकृति अपने सहज रूप में परिव्यक्त नहीं होती।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु ने हिन्दी-नाटक-परम्परा को नव जन्म दिया और अनुवाद, रूपान्तर एवं मौलिक रचनाओं द्वारा हिन्दी-नाटक के लिए विकास के आदर्श एवं अभिनय के लिए आकर्षण प्रस्तुत किया। अंधकार में टटोलते हुए नाटककारों के सामने भारतीय नाट्यशास्त्र द्वारा मान्य रूपक के अनेक भेदोपभेदों को मौलिक या अनूदित रूप में प्रस्तुत किया। नाटकीय वस्तु को विषय-रूढ़ियों से मुक्त करके हिन्दी-नाटक को दुःखान्त से भी परिचित कराया। भारतेन्दु पूर्वकालीन नाट्य साहित्य अभी तक अलौकिकता एवं अवास्तविकता के बन्धन में पड़ा हुआ था, भारतेन्दु ने उसका प्रवेश वास्तविक जीवन में कराके एक नूतन पद-प्रक्षेप किया। इसके अतिरिक्त पौर्वात्य और पाश्चात्य, तथा प्राचीन और अर्वाचीन नाट्य-कला का समन्वय करके हिन्दी-नाट्य-कला को एक नयी दिशा दिखलायी। जो राष्ट्रीय भावना अब तक साहित्य का मुँह भी नहीं देख पायी थी उसको सजग एवं प्रेरित करने के लिए भारतेन्दु ने अपने नाटकों में प्रतिष्ठित किया। साहित्य के माध्यम से

राष्ट्रीय जागरण का प्रयास भारतेन्दु की अपूर्व सूझ थी। सबसे बड़ा काम भारतेन्दु ने रंगमंच के सम्बन्ध में किया। हिन्दी-रंगमंच का निर्माण करके उन्होंने हिन्दी-रंगमंच के इतिहास का सूत्रपात किया। इतना ही नहीं, रंग-संकेतों द्वारा रंगमंचीय सुविधाओं की व्यवस्था की। भाषा के क्षेत्र में भी भारतेन्दु का प्रयास एक ऐतिहासिक प्रयत्न था। हिन्दी-गद्य को चुस्ती और व्यंग्यात्मकता देकर उन्होंने उसे न केवल प्राणवान् बनाया, वरन् गद्य की अनेक शैलियों का भी प्रचलन किया। ये सब ऐसी बातें हैं जिनके आधार पर नाटककार भारतेन्दु हिन्दी-नाटक के भरतमुनि कहे जा सकते हैं।

१७

साहित्य और दर्शन के राम

राम लोक के आदर्श, हृदय के आराध्य और बुद्धि के लिए अगम्य ब्रह्म के रूप में युगयुग से भारतीय जनता के सामने आते रहे हैं। शक्ति, शील और सौन्दर्य के प्रतीक दाशरथि राम कब अलौकिक और अपौरुषेय गुणों से संश्लिष्ट होकर आराध्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहना कठिन है, किन्तु इतिहास और साहित्य, दोनों का साथ-साथ अध्ययन करने वाला छात्र इससे असहमत न होगा कि जब कभी राजनीतिक उथल-पुथल हुई तभी लौकिक आदर्शों ने भी—राम और कृष्ण ने भी—अपना ऐतिहासिक रूप बदल दिया।

राम वाल्मीकि से पहले कितने पूज्य या प्रतिष्ठित रहे, इसके अनुमान की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वाल्मीकि राम के समकालीन हैं। ये राम के जीवन के, राम के समय के इतिहासकार हैं, अतएव राम और वाल्मीकि के समय की पूर्वापरता की कल्पना व्यर्थ है। वाल्मीकि के चरित्र-नायक राम हैं। वाल्मीकि ने उनका जीवन भी लिखा है और उनके समय का इतिहास भी। उन्होंने अपनी रामायण को हमें इस रूप में दिया है कि इससे आदि कवि होने का गौरव भी उन्हीं को मिला है। अतएव राम के सम्बन्ध से वाल्मीकि के तीन रूप हमारे सामने आते हैं:—इतिहासकार, जीवन लेखक और कवि। उनके कवि ने जिस प्रकार अपनी शक्ति से, अपनी प्रतिभा से, इतिहासकार का साथ दिया है उसी प्रकार उनकी दृष्टि ने उनके हृदय का, उनकी बुद्धि ने उनके भावों का और उनके साक्षात् दर्शन ने उनकी कल्पनाओं का साथ दिया है। इसलिए राम जिस प्रकार कवि वाल्मीकि की कल्पना में रहे हैं उसी प्रकार इतिहासकार वाल्मीकि की आँखों में भी। राम सर्वत्र आदर्श के प्रतीक हैं, किसी आदर्श देव के नहीं। आदर्श मानव में, आदर्श गुणों की कल्पना कर लेना कठिन नहीं है किन्तु उसे मानवीय

दुर्बलताओं से ऊपर दिखलाना अस्वाभाविक है। राम के चरित्र में वाल्मीकि ने कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आने दी। लंकाभियान के समय जब राम तीन रात तक समुद्र की उपासना करते रहे और उनके विधिवत् पूजन करने पर भी मन्दमति समुद्र प्रकट नहीं हुआ तब उन्हें समुद्र पर बड़ा क्रोध हुआ और उनकी आखें लाल होगयीं और वे अपने पास बैठे हुए लक्ष्मण से बोले—"समुद्र को बड़ा अहंकार है। वह मेरे सामने प्रकट नही होता। शान्ति, क्षमा, सरलता और प्रिय भाषण सत्पुरुषों के गुण है, परन्तु गुणहीनों के प्रति प्रयोग करने पर इनका कुछ भी फल नहीं होता। शान्ति के द्वारा संग्राम में विजय पाना असम्भव है। यह समुद्र क्षमायुक्त देखकर मुझे असमर्थ समझता है। ऐसों के प्रति क्षमा का प्रयोग धिक्कार के योग्य है। लक्ष्मण, तुम मेरा धनुष और सर्पों के समान भयंकर बाण ले आओ कि समुद्र को सुखा डालूं। फिर वानर पैदल ही लंकापुरी में पहुँच जायेंगे। समुद्र को कोई विचलित नहीं कर सकता किन्तु आज क्रोध करके मैं इसे क्षुब्ध कर दूंगा। इसमें हजारों तरंगें उठती रहती हैं, फिर भी यह सर्वदा तट की मर्यादा में ही रहता है। आज अपने बाणों से मैं इसकी मर्यादा नष्ट कर डालूँगा।" इसी प्रकार बालि के वध के उपरान्त वानर-राज सुग्रीव विलास-मग्न होकर जब अपनी प्रतिज्ञा को भूल जाता है तो राम के क्रोध का उदय होजाता है, और वे लक्ष्मण से इसको व्यक्त करते हुए कहते हैं—"लक्ष्मण ! मुझे चिन्ता नहीं यदि सुग्रीव मेरी सहायता से मुँह मोड़ ले, क्योंकि तुम्हारे और अपने पराक्रम का मुझे ज्ञान है। सीता को खोजने की प्रतिज्ञा को वह इस समय भूल गया है, क्योंकि इस समय उसका अपना काम सिद्ध हो चुका है। सुग्रीव ने यह प्रतिज्ञा की थी कि वर्षा के अन्त होते ही सीता की खोज आरम्भ करदी जायेगी, किन्तु विलासोन्मत्त उसको इन सब चार मासों का कुछ भी पता नहीं है। हम लोग शोक से व्याकुल हो रहे हैं, किन्तु सुग्रीव को हम पर बिलकुल दया नहीं आती। वीर लक्ष्मण, तुम जाकर सुग्रीव से कहो, मेरे क्रोध का जो स्वरूप है वह उसे बताओ और यह संदेश सुनाओ—'सुग्रीव, बालि मारा जाकर जिस मार्ग से गया है, वह मार्ग अब भी बन्द नहीं हुआ है। इसलिए तुम अपनी प्रतिज्ञा पर डटे रहो, बालि के मार्ग पर न जाओ।' "

इन उक्तियों से स्पष्ट है कि राम समय-समय पर उस क्रोध से भी काम लेते हैं, जो मानवीय आवश्यकता है, जो शक्ति और वीरता का चिह्न है, और जो शालीनता का परिचायक है; इसीलिए वेद में प्रार्थना कीगयी है—"मन्युरसि मन्यु मे देहि।" मैं समझता हूँ मानवीय भाव जो कभी-कभी मनुष्य के दूषण दीख पड़ते हैं, समय पर भूषण का काम देते हैं। इसी प्रकार के दूषण राम में भूषण रूप में ही दीख पड़ते हैं। विष्णु के अवतार राम वाल्मीकि के हाथों में क्षीर-सागर में शेष-शैया पर विश्राम करने वाले राम

अलौकिक का यह अपूर्व मिश्रण जनमन के कितना निकट रह सकता है, लोक हृदय में कितनी गहन स्थिति प्राप्त कर सकना है, यह विचारणीय है ।

राम का यह रूप कुछ और विकसित होता है । मुस्लिम संस्कृति के चक्र में भारतीय मनस्वी इसको अपने-अपने ढंग से प्रतिष्ठिन करते हैं । श्री सम्प्रदाय राम को एकदम दिव्य और अलौकिक रूप में देखता है । रामानन्द भी रामानुज से बहुत दूर नहीं हैं, किन्तु रामानन्द के शिष्य कबीर तो दाशरथि राम का बिलकुल रूप ही बदल देते है और "ना जसरथघरि औतरि आवा"— कहकर वे उनके लौकिक स्वरूप का उत्सारण कर देते हैं—उस लौकिक स्वरूप का जो लोचन-मार्ग से प्रेमियों के हृदय को खींचता रहा था, उम लौकिक स्वरूप का जो कर्तव्य के पथ में मानव-आदर्श को प्रेरित करता रहा था । फिर युग आया दूसरा । कबीर आदि का निर्गुणवाद लोक को आश्रय न दे सका. हिन्दू-जनता को तोष न दे सका, लोचनों की प्याम को न बुझा सका । फिर अग्रदास, तुलसीदास, केशवदास आदि ने राम को लोकालोक दोनों में प्रतिष्ठित कर दिखाया। इसके उपरान्त राम का रूप विकसिन न हो सका । रीतिकाल के मुक्तक काव्य में राम श्लेष के हाथों में खिलाये गये । उनका रूप जो था, उससे तनिक भी आगे न बढ़ सका । यह ध्यान में लाने की बात है कि राम मुख्यत: प्रबन्ध-नायक के रूप में ही अपने अस्तित्व की रक्षा कर मकते है । जिस प्रकार निर्गुण कवियों ने 'निराकार' के गढ़ से राम के रूप पर आक्रमण करके उसे अरूप बनाने का यथाशक्ति प्रयत्न किया, किन्तु 'प्रेम और श्रद्धा' के क्षेत्र में वह अरूप न हो सका, उसी प्रकार रीतिकालीन अलंकारों की झंकृति में राम-ध्वनि विलीन न हो सकी, यद्यपि रीतिकालीन मुक्तकों में राम नायकत्व प्राप्त न कर सके । सच तो यह है कि राम के व्यक्तित्व के गौरव में मुक्तकों के लिए कोई सहारा ही नहीं है । वे लालित्य से ऊँचे श्रद्धा और आदर के आसन पर ही प्रतिष्ठित रहे हैं, कृष्ण की तरह उन्हें मुक्तक में प्रवेश होने का सफल अवसर नहीं मिला ।

आधुनिक कविता ने राम के रूप को फिर सँभाला । राम से आदर्श और मर्यादा की प्रेरणा लेकर कवियों ने अपने प्रबन्धों में राम को नायक के पद पर प्रतिष्ठित किया । 'साकेत' में गुप्तजी ने राम के गौरव की पूर्णत: रक्षा की । 'वैदेही-वनवास', 'पंचवटी', 'राम की शक्ति पूजा', 'तुलसीदास' आदि काव्यों में राम का सम्मान सुरक्षित रहा । यों तो साहित्य में अन्यत्र भी राम ने अपने रूप को व्यक्त किया है, किन्तु राम का प्रतिष्ठित रूप बद्ध सरणियों का परित्याग न कर सका । राम को कहीं देखें, किसी युग में देखें, चाहे वह वाल्मीकि का युग हो चाहे नाटकों और पुराणों का और, चाहे अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त का, सर्वत्र उनके स्वरूप में कर्तव्यनिष्ठा, आचरण की

सभ्यता, और लौकिक आदर्श भरे रहे हैं। वे सत्पुत्र, सद्भ्राता, सत्पति, सन्मित्र, सज्जन, और तो और, सच्छात्र रहे हैं। मर्यादा का पालन करने वाले राम को मर्यादापुरुषोत्तम की उपाधि से विभूषित किया जाता रहा है। कैकेयी और भरत के प्रति राम का आचरण ऐसा आचरण है जिसकी आवश्यकता शायद 'हिन्दू-कोड-बिल' के पास हो जाने पर भी रहती रहेगी। राम की गम्भीरता, राम का उत्साह, उनकी सहनशीलता, और समयानुसार क्रोध का प्रदर्शन सदैव वांछनीय रहेंगे। राम के आदर्श से मानवीय भाव जैसे-जैसे मिलेंगे, वैसे-वैसे ही राम की प्रतिष्ठा मानव हृदयों में उसी प्रकार होती रहेगी जिस प्रकार अब तक होती रही है। जो राम पूज्य हैं, वही उपास्यभी हैं, जो कभी भयानक हैं वे आराध्य है, किन्तु सब परिस्थितियों में राम दृश्य रहे हैं। वे अपने भयानक स्वरूप में भी आततायी नहीं हैं। वहाँ उनका मंगलमय स्वरूप ही निखरा है। राम अपने सुकुमार स्वरूप में कोटि कामों से भी सुन्दर होते हुए शक्ति और शील से उपेत रहे हैं।